• प्रकाशक :
अनुपम प्रकाशन
चौडा रास्ता, जयपुर—३
• प्रथम संस्करण : १९६८
• मूल्य : ▬ रुपये : ४०/=
• मुद्रक :
मधु प्रिन्टर्स,
चौडा रास्ता, जयपुर—३

प्राचीन भाषा और साहित्य के प्रसिद्ध गवेषक विद्वान्
श्री अगरचन्द जी नाहटा की
साहित्य – साधना को

प्राक्कथन

मैंने श्री नरेन्द्र भानावत एम. ए., पी-एच. डी., व्याख्याता, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर की कृति, 'साहित्य के त्रिकोण' को पढ़ा। इसमें लेखक ने अपने समय-समय पर लिखे निबन्धों को तीन वर्गों-हिन्दी साहित्य, राजस्थानी साहित्य और जैन साहित्य—में विभक्त किया है। इस दृष्टि से कृति का यह नामकरण उपयुक्त ही है। लेखक ने बड़ी लगन से निबन्धों की सामग्री जुटा कर उन्हें रूपायित किया है। उसने एक ओर साहित्य को रखा है और दूसरी ओर धर्म को। धार्मिक उपकरणों को साहित्य में टटोलने मे लेखक की श्रमशीलता और शोध-दृष्टि का परिचय मिलता है। आलोचना और गवेषणा के सम्यक् योग से लिखी गई यह कृति एक अभाव की पूर्ति है।

मुझे विश्वास है कि निष्ठा और श्रमशीलता लेखक को अवश्य ही सफलता प्रदान करेगी। मैं यह भी आशा करता हूँ कि लेखक अपने प्रयत्न-प्रतान को शिथिल न होने देगा और अवश्य ही उसके हाथों से साहित्य का निरन्तर विकास होता रहेगा।

अन्त मे मैं लेखक को इस महत्त्वपूर्ण कृति के लिए साधुवाद देता हुआ उसके उज्ज्वल साहित्यिक भविष्य की कामना करता हूँ।

अरुण कुटीर
सी-८२, राजा पार्क, जयपुर
१५ अगस्त, १९६८

—डॉ. सरनामसिह शर्मा 'अरुण'
एम ए., पी-एच. डी., डी. लिट्.
आचार्य, हिन्दी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

अपनी बात

'राजस्थानी साहित्य: कुछ प्रवृत्तियाँ' निबन्ध-संग्रह के बाद 'साहित्य के त्रिकोण' नाम से यह मेरा दूसरा निबन्ध-संग्रह पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। मेरी प्रथम निबन्ध-कृति की विद्वानो ने जो सराहना की, उससे मुझे काफी प्रेरणा और शक्ति मिली है। आशा है, इस कृति को भी विद्वतजन उसी भाव से पढ़ेंगे।

इस कृति मे अलग-अलग अवसरों पर लिखे गये मेरे २७ निबन्ध संगृहीत हैं। ९ निबन्ध हिन्दी साहित्य से, ९ राजस्थानी साहित्य से व ९ जैन साहित्य से सम्बन्धित है। इन निबन्धो में कुछ तो विषय की दृष्टि से अछूते हैं और उन पर शायद पहली बार विचार किया गया है। कुछ का विषय नवीन न होते हुए भी उन पर नये ढंग से सोचने का प्रयत्न किया गया है। इनमे से कुछ निबन्ध आकाशवाणी, जयपुर से प्रसारित हो चुके हैं और कुछ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे भी प्रकाशित हुए हैं।

राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के आचार्य डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' ने अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी प्रस्तुत ग्रंथ का प्राक्कथन लिखने की जो महती कृपा की है, उसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

मेरे प्रिय मित्र श्री मोहनलाल जैन के उत्साह का ही परिणाम है कि ये निबन्ध कृति-रूप मे प्रस्तुत हो सके।

यदि इन निबन्धों को पढकर साहित्यानुसंधित्सु गवेषणा के नये छोर खोजने मे *किंचित् भी प्रवृत्त हुए तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूंगा।*

शान्तायन —नरेन्द्र भानावत

सी-२३५ ए, तिलकनगर, जयपुर-४

निबन्ध-क्रम

जैन साहित्य २०५–३०६

हिन्दी साहित्य

१. आधुनिकता और जीवन-मूल्य
२. विश्वशांति के संदर्भ में युद्धपरक साहित्य
३. भाषा और सदाचार
४. साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में इतिहास विषयक समस्याएं
५. जनतान्त्रिक सामाजिक चेतना के विकास में साहित्यकार का योग
६. सूर की काम-भावना का मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक विवेचन
७. निराला की राष्ट्रीयता
८. नयी कविता में सत्यं, शिवं, सुन्दरम्
९. हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएं

१ | आधुनिकता और जीवन-मूल्य

आधुनिकता का स्वरूप :

आधुनिकता को दो रूपों से समझा जा सकता है। एक तो समय-सापेक्ष प्रक्रिया के रूप में और दूसरा विभिन्न प्रभावों से उत्पन्न चेतना के रूप में। पहले रूप में आधुनिकता इतिहास-चक्र की अन्तिम परिणति है जो परिवर्तन और विकास की विभिन्न सरणियों को पारकर उपलब्ध हुई है। इस स्थिति में हर अगला काल सामान्यतः अपने पूर्ववर्ती काल की अपेक्षा आधुनिक होगा। और इसी प्रक्रिया में परम्परा आधुनिकता से जुड़ी रहेगी, उससे कटकर एकदम अलग नहीं होगी। यहीं आधुनिकता की सीमा का प्रश्न उठेगा। आधुनिकता का आरंभ हम कब से मानें ? कुछ इतिहासकार बाबर के आगमन में आधुनिकता के दर्शन करते हैं तो कुछ प्लासी के युद्ध के बाद से भारत में आधुनिकता का श्रीगणेश मानते हैं। सामान्यतः आधुनिकता का अर्थ आर्थिक क्षेत्र में औद्योगीकरण, राजनीतिक क्षेत्र में जनतंत्र और समाज-शास्त्र में मानव-न्याय से लिया जाता है। साहित्यिक आन्दोलन के रूप में भारतेन्दु-युग से आधुनिकता का समारंभ माना जाता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार 'मध्ययुग' इतिहास-चक्र में एक विशेष काल-खण्ड का सूचक है उसी प्रकार आधुनिकता भी एक विशेष समय-सीमा की परिचायिका है। पर मेरी दृष्टि में आधुनिकता का यह कालजनित संदर्भ, विशेष उल्लेखनीय और अभिप्रेत नहीं है।

आधुनिकता का दूसरा रूप है विभिन्न प्रभावों से उत्पन्न चेतना। यही सच्चे अर्थों में आधुनिकता है। इतिहास का चक्र इतनी द्रुतगति से गतिशील

होता है कि वह एक विशेष प्रकार की चेतना को आविर्भूत कर उससे अलग हट जाता है। इस चेतना में परम्परा से विरोध ही नहीं, उसमें अलगाव और इसमे भी आगे बढ़कर कहा जा सकता है कि कटाव हो जाता है। वैज्ञानिक प्रगति ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे जो आमूलचूल परिवर्तन किया है, वही इस चेतना का कारण है। इतना अलगाव और कटाव शायद पहले कभी नहीं देखा गया। इसीलिए आधुनिकता का प्रश्न आज अधिक चिन्तनीय है। पहले कभी इसका प्रबल संवेग के रूप मे अनुभव नही किया गया। मार्क्स और फ्रायड के विचारों ने धर्म तथा मोक्ष के संबंध मे हमारी जो धारणाएं थीं, उनको एकदम बदल दिया। बदला ही नही बल्कि हमारे जीवन-व्यवहारों और जीवन-मूल्यों को उसने विघटित कर दिया। संयुक्त परिवार जो पारस्परिक प्रेम, सहयोग और सुरक्षा का स्थल था वह धीरे-धीरे टूट गया, विवाह जो आध्यात्मिक संस्कार से संबंधित था शुद्ध लौकिक धरातल पर उतर आया। जातिवाद का महल नितान्त ध्वस्त होगया। सेवा, समर्पण आदि का स्थान मशीन ने ले लिया। रहन-सहन, खान-पान आदि में जो परिवर्तन आया वह इस नवीन प्रकार की चेतना में समा गया। मध्ययुगीन संतों ने परम्परा के विरोध मे जो धार्मिक और सामाजिक बन्धन काटे थे, वे कटे हुए से लगे पर पूर्णतः कट नहीं पाये। वहाँ परम्परा के विरोध में मनुष्य था। आधुनिकता में मनुष्य का स्थान मशीन ने ले लिया इसीलिए धार्मिक व सामाजिक बन्धन पूर्णतः कट पाये हैं। अब वह आर्थिक और राजनैतिक बन्धनों को काटने की प्रक्रिया में है। इसीलिए आज जीवन में अलगाव, विसंगति और अन्तर्विरोध है। हम जीवन की इस कटुता, अन्तर्विरोध और कड़वाहट को जितने अधिक तीव्र संवेग के साथ भोग सकते हैं, उतने ही अर्थों में हम आधुनिकता को जीते हैं, भोगते हैं।

आधुनिक व आधुनिकता :

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर मैं आप लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। मैं अपने दो ऐसे मित्रों को जानता हूं जो जीवन-व्यवहार और जीवन-दृष्टि में एक दूसरे के विपरीत हैं। पहले मित्र धोती-कुर्ता पहनते हैं, टोपी लगाते हैं, देशी जूतियां पहनते है, चाय तक नही पीते। कहने का अर्थ यह कि खान-पान और रहन-सहन में एकदम आधुनिकता से दूर। पर जब आप उनसे चर्चा करेंगे तो लगेगा कि वे ईश्वर और धर्म को नहीं मानते, पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते, वैज्ञानिक प्रगति और टेक्नोलोजी से अत्यन्त प्रभावित।

विज्ञान को मानवता के लिए वरदान समझने वाले। प्रेम-विवाह के सबसे बड़े हिमायती। छुआछूत के कट्टर विरोधी। दूसरे मित्र हैं सूटेडबूटेड, सिगार के प्रेमी। खान-पान और रहन-सहन में एकदम आधुनिक। 'नान वेजिटेरियन रेस्टराँ' के नियमित भोगी और जीवन-दृष्टि में इतने धार्मिक कि कार में बैठकर बड़े तड़के कार्तिक नहाने जायेंगे, हर मंगलवार को हनुमानजी के मंदिर में प्रसाद चढ़ायेंगे और मित्रों के साथ चर्चा करते बाजार मे हनुमान जी के मंदिर के सामने से निकलेंगे तो मुंह चाहे उसके सामने न हो पर हाथ इतने अभ्यस्त कि अलग से हटकर श्रद्धा और भक्ति वश यंत्रवत् जुड़ जायेंगे उनकी ओर।

इन दोनों मित्रों के पूर्ण व्यक्तित्व का जब मैं विश्लेषण करता हूं तो लगता है कि मेरे पहले मित्र जीवन-पद्धति में परम्परावादी है पर जीवन-दृष्टि में आधुनिकता से प्रभावित, जबकि मेरे दूसरे मित्र जीवन-पद्धति में आधुनिकतावादी हैं पर, जीवन-दृष्टि में परम्परावादी। परम्परा और आधुकता की यह बेमेल खिचड़ी, जिसे संयोग भी कहा जा सकता है—मैं कभी हितकर नही समझता। यह पूरे युग का जो अन्तर्विरोध है, दोहरा व्यक्तित्व है, वही आज की मूल समस्या है और मैं कहना चाहूंगा कि यह स्थिति आधुनिकता को आत्मसात करने में सबसे बड़ी बाधा है।

एक अन्य प्रकार से विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि खान-पान, रहन-सहन आदि के कारण जीवन-पद्धति में जो परिवर्तन आता है वह व्यक्ति को 'आधुनिक' तो बना सकता है पर 'आधुनिकता' से सम्पन्न नही। 'आधुनिकता का संबंध तो तभी पूरा होगा जबकि उसकी जीवन-दृष्टि बदले। इस कसौटी पर मेरे पहले मित्र चाहे 'आधुनिक' न हों, पर 'आधुनिकता' से सम्पन्न अवश्य हैं जबकि मेरे दूसरे मित्र 'आधुनिक' तो हैं पर 'आधुनिकतावादी' नहीं। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक आविष्कार और टेकनॉलॉजी का विकास व्यक्ति को 'आधुनिक' तो शीघ्र ही बना देता है पर 'आधुनिकतावादी' बनाने में उसके मानसिक संस्थान को बदलना पड़ता है। इस मानसिक सस्थान को बदलने मे सम-सामयिकता का बडा हाथ रहता है। भारत मे मानसिक सस्थान को बदलने की गति बड़ी धीमी है। इसलिए हम 'आधुनिक' तो बनतेजा रहे है पर अभी 'आधुनिकता' की बातें ही अधिक हो रही है। एक वाक्य में यों कहा जा सकता है कि समसामयिक बोध 'आधुनिक' को आधुनिककता' में परिणत करता है।

आधुनिकता के लिए आवश्यक स्थितियाँ

आधुनिकता के विकास मे परम्परा का क्या योगदान हो सकता है ? यह प्रश्न बडा अटपटा लग सकता है। इसके उत्तर के पहले हमे यह समझ लेना चाहिए कि न तो परम्परा अन्धविश्वास है न आधुनिकता अवसरवादिता। कई लोकसम्मत जीवनादर्श मिलकर ही परम्परा बनाते है। उसमे जो अवांछनीय रूढि तत्त्व प्रवेश कर जाते है वे बाद के होते है, जो उसके 'बाय प्रोडक्ट' कहे जा सकते हैं। आधुनिकता म अन्ध विश्वास और रूढियो का कोई स्थान नही, पर परम्परा के केन्द्रीय जीवन-तत्त्वो से आधुनिकता का स्यात ही कोई विरोध हो। उदाहरण के लिए परम्परागत मानवीय आदर्श प्रेम, सुरक्षा, सहयोग, ममता, करुणा, सेवा आदि गुण लिये जा सकते हैं। मेरी दृष्टि से आधुनिकता इन गुणो से रहित नही हो सकती केवल इन गुणो का स्थानान्तरण हो सकता है। आज यह अवश्य लगता है कि जो आधुनिक चेतना मे जितना अधिक सम्पन्न है, वह अपने रिश्तेदारो से, पारिवारिक सम्बन्धो से उतना ही अधिक टूटा हुआ है। दूसरे शब्दो म यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिकता की यह प्रबल पुकार है कि वह अपनी स्वचेतना को अधिक उद्बुद्ध करे, अपने ही घेरे मे अधिक बधा रहे, माँ-बाप से दूर रहे। पारिवारिक जीवन के तीन महत्त्वपूर्ण प्रसगो जन्म परण और मरण मे भी कम समय दे या कटा रहने की सोचे। आर्थिक मदद देने की बात उठे तो अपने ही खर्चे को आय से अधिक बताये। सामान्य शहरी अनुभव भी यह बताता है कि किसी मौहल्ले मे अमुक व्यक्ति से आप मिलना चाहते है तो उसका मकान ढूढने मे चाय, पान की दुकान वाले या सामान्य मजदूर श्रेणी के व्यक्ति ही आपकी विशेष मदद कर सकेंगे। ऊची तनख्वाह पाने वाले अफसर या बडे-बडे बगला के स्वामी आपको सहयोग न दे सकेंगे। इसके दो कारण हो सकते है। एक तो यह कि इन तथाकथित आधुनिक लोगो का दूसरो से कोई विशेष सम्पर्क ही नही। दूसरा यह कि ये इसे अपना कर्त्तव्य नही समझते।

आधुनिकता से सम्पन्न इन लोगो की यह धारणा है कि परम्परागत मानवीय गुण (जिनका उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हू) आज मानव के लिए आवश्यक नही रहे। इनका भी मशीनीकरण हो जाना चाहिए। सरकार मे ही ये गुण रह। इसलिए दान और दया का यहा महत्त्व नही। दूसरो को आर्थिक मदद देने की कोई चर्चा नही और ऐसा लगता भी है कि आज सामाजिक सुरक्षा Soc a) Security के विभिन्न साधन अधिकाधिक प्रस्तुत

किये जा रहे हैं। पेन्शन, प्रोवीडेन्ट फंड, जीवन बीमा आदि एजेन्सियों ने इन मानवीय गुणों को अपने में आत्मसात करना आरम्भ कर दिया है। यही कारण है कि आज की विधवा का जीवन परम्परागत अर्थ में पति के अभाव की अनुभूति के अलावा—इतना दयनीय और परमुखापेक्षी नहीं रह गया है। उसके जीवन-निर्वाह के लिए उसके पति की पेन्शन है तो बाल-बच्चों के परि-पालन के लिए जीवन-बीमा निगम की राशि। आग से बचाव, चोरी से सुरक्षा, दुर्घटनाओं से बचाव के लिए विभिन्न एजेन्सियां काम करती हैं। मुझे लगता है कि ज्यों-ज्यों ये सुरक्षा के साधन बिछते जायेंगे त्यों-त्यों परम्परागत इन मानवीय गुणों का भी मशीनों में, विभिन्न एजेन्सियों में, संस्थाओं में, सरकारों में स्थाना-न्तरण होता जायेगा। अन्य देशों की तुलना में भारत इस दिशा में भी अभी पिछड़ा हुआ है। इसीलिए यहां अभी आधुनिकता ने प्रवेश किया है, उसने चलना शुरू नहीं किया।

यहीं मैं एक दूसरा प्रश्न जो इसी भावना से सम्बन्धित है, उठाना चाहता हूं। भारतीय दार्शनिक चिन्तन-परम्परा में मानव-कल्पना की ही बात नहीं कही गई है यहां तो प्राणिमात्र के कल्याण की कामना की गई है। जैन दर्शन में तो प्राणि-रक्षा की यह भावना अपनी चरम-सीमा पर पहुंची है। आधुनिक राजनीतिक—दर्शन ने इस करुणा की भावना को 'वेल फेयर स्टेट' के सम्बन्ध से मानव के कल्याण की परिधि तक ही सीमित रखा और प्राणतंत्र को समेट कर जनतंत्र में ही बांध दिया अर्थात् मानव के हित के लिए किसी भी प्राणी का वध न्याय संगत है। इसलिए राज्य स्तर पर मुर्गी-पालन, मछली-उद्योग, पशुवध आदि का कार्य चलता है। मुझे विज्ञान की द्रुतगामी प्रगति को देखकर लगता है कि जिस प्रकार मानवीय गुणों का स्थानान्तरण हो गया है उसी प्रकार प्राण-चेतना का भी स्थानान्तरण संभव हो सकेगा। आज के विज्ञान ने शारीरिक शक्ति के बाद मानसिक चेतना का तो मशीनीकरण किसी सीमा तक कर दिया है। मशीन की सहायता से आप लम्बी संख्याएं जोड़ सकते हैं। एक भाषा का दूसरी भाषा में अनुवाद प्रस्तुत कर सकते है तो एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब कि आत्मिक-चेतना का भी मशीनीकरण हो जाय। फिर तो जन्म-मरण का जो संस्कार हमारे मन पर अमिट होकर छाया हुआ है और जो हमें किसी न किसी रूप में परम्परा से बांधता है, वह भी छिन्नभिन्न हो जायगा। मैं समझता हूं

'आधुनिकता' की चरम परिणति आत्मिक-चेतना के मशीनीकृत होने में ही निहित है।

इसी विवेचन में आधुनिकता के विकास में परम्परा के योगदान का उत्तर मिल जाता है। मैंने परम्परागत जिन मानवीय गुणों और आत्मिक चेतना की चर्चा की है उसे यों रखा जा सकता है कि परम्परा की यह देन ऐसा रस-तत्त्व (संजीवन तत्त्व) है जो आधुनिकता के परिपक्व फल को सड़ने से बचायेगा, अन्यथा उसमें कीड़े पड़ जायेंगे और वह खाने के योग्य नहीं रहेगा।

२ | विश्व-शांति के सन्दर्भ में युद्धपरक साहित्य

साहित्य का मूल धर्म विषमता में समता और अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करना है। इस व्यवस्था क्रम की सहज परिणति अखण्ड आनन्द और अबाध शान्ति की प्राप्ति है। शांति युद्ध का शमन और मानसिक विकारों का दमन है। युद्ध और शांति का सनातन सम्बन्ध रहा है। जब युद्ध सत्-असत् विचारों को लेकर केवल व्यक्ति के मनोजगत में ही चलता रहता है तब उसके शमन के लिए जिस साहित्य की रचना की जाती है वह सामान्यतः भक्तिपरक साहित्य है। उसमें मन ब्रह्माश्रित होकर ब्रह्म के साथ अपने विविध पारिवारिक सम्बन्ध जोड़ता है। कभी 'राम की बहुरिया' बनता है तो कभी 'हरि जननी मैं बालक तोरा'। कभी ब्रह्म के महत्त्व और अपने लघुत्व का बढ़ा-चढ़ा वर्णन कर आत्मिक सुख की प्राप्ति करता है तो कभी प्राकृतिक दृश्यों की विराटता और भव्यता में तल्लीन होकर अपने आपको विस्मृत कर बैठता है। इस प्रकार के भक्तिपरक साहित्य की प्रक्रिया व्यक्ति से समाज की ओर उन्मुख होती है। उसमें स्वशांति और स्वसुख की प्रधानता रहती है। विश्व के परिपार्श्व में उसे बहुत कम सोचने का अवसर मिलता है।

भक्तिपरक साहित्य का अन्तिम लक्ष्य तो विश्व-शांति हो सकता है पर उस तक पहुँचने की उसकी गति बहुत धीमी, उसका रास्ता पेचीदा और लम्बा है। चूँकि विश्वशांति की समस्या औद्योगिक--क्रांति और विगत दो महायुद्धों की समस्या है, अतः उसकी प्राप्ति के लिए ब्रह्माश्रित भक्तिपरक साहित्य अपूर्ण और-अक्षम ठहरता है। इस स्थिति को पूरी तरह से आत्मसात करने के लिए मानवाश्रित युद्धपरक साहित्य की ही अनिवार्य आवश्यकता है।

भारत ने कभी निकट से विश्वयुद्ध की विभीषिका का दृश्य नहीं देखा, अतः यहाँ के साहित्यकारों में युद्धपरक साहित्य की रचना का वह वैशिष्ट्य नजर नहीं आता। जब चीन व पाकिस्तान ने भारत पर आकस्मिक आक्रमण किये तो राष्ट्र की देह में एक नया परिवर्तन आया। पहली बार राष्ट्रीय चेतना को मूर्त्त रूप मिला। स्वतन्त्रता पूर्व राष्ट्रीय एकता की गूंज इतनी तीव्र न थी, उसमें मुस्लिम लीग का निराला सुर मिला हुआ था। स्वतन्त्रता के बाद जातीयता, प्रान्तीयता और भाषायी भेद-भाव ने एकता को खण्डित कर दिया था। पर चीन के आक्रमण से उद्भूत राष्ट्रीय संकट ने सब विरोधों को एकता के सूत्र में बाँध दिया। आज ऐसे साहित्य की रचना अपेक्षित है जो उस जागृति और ऐक्य भावना को स्थायी बना कर रख सके।

विश्व-शांति के संदर्भ में युद्धपरक साहित्य की रचना करते समय ऐसी स्थिति भी सामने आ सकती है जब साहित्यकार विश्वशांति की भावना से इतना प्रभावित न हो, जितना अपने राष्ट्र की सुरक्षा और गौरव-गरिमा से। और संभव है राष्ट्र के प्रति यह प्रखर अनुभूति विश्वशांति के लिए खतरा बन जाय। यह बात आक्रामक देश के साहित्यकारों के संदर्भ में अधिक लागू होती है। अतः मूल प्रश्न यह है कि युद्धपरक साहित्य की सीमाएँ क्या हों, उसकी विशेषताएँ क्या हों?

युद्धपरक साहित्य की सीमाएँ:

१. युद्धपरक साहित्य को केवल युद्धस्थल की घटनाओं, वहाँ के विविध कार्य-व्यापारों और सैनिक-हृदय को जागरूक तथा स्फूर्त बनाने की विधि तक की परिधि में ही बाँध कर नहीं रखा जा सकता। उसका दायरा इससे विस्तृत है। उसमे उन सभी भावनाओं, प्रयत्नों और घटनाओं का भी समावेश होना चाहिए जो सैनिक मोर्चे से दूर राष्ट्र की नस-नस में घटित होती हैं, जिनमें राष्ट्र की तात्कालिक सुरक्षा और स्थायी शांति के स्वर गूंजते हैं, जन साधारण की चेतना और विजय की भावना उथल-पुथल मचाती है।

२. युद्धपरक साहित्य युद्ध का वर्णन मात्र नही है। उसमें राष्ट्र की आशा-आकांक्षा, मान-मर्यादा, अभाव-अभियोग, प्रगति-परम्परा आदि सबका राष्ट्रीयता के परिप्रेक्ष्य में वर्णन होना चाहिए। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन

के समय जो साहित्य रचा गया, उसमें देश को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त कराने का स्वर प्रधान था। आज प्राप्त आजादी की रक्षा करने का स्वर उससे कम प्रधान नहीं है। अतः ऐसे ओजपूर्ण आत्म-बलिदानी राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि वांछनीय है जो देश के आबालवृद्ध नागरिकों में सच्ची जागरुकता और मर मिटने की भावना भर सके।

३. *युद्धपरक साहित्य का स्वर सामान्यतः प्रतिरोधात्मक होना* चाहिए। पर अपने अधिकारों की प्राप्ति, राष्ट्रीय गौरव की रक्षा और शत्रु के प्रति घृणा, आक्रोश, आतंक आदि भावों के व्यक्तिकरण के लिए उसे आक्रामक स्वर भी दिया जा सकता है पर यह आक्रामक स्वर विश्वशांति के लिए बाधक और मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए घातक न हो।

युद्धपरक साहित्य की मूलभूत विशेषताएँ :

१. युद्ध के समय क्या सैनिक, क्या असैनिक, क्या जनता, क्या नेता सबमें उत्साह की भावना का अदम्य संचार होता है। विजय के समाचार मिलने पर तो यह उत्साह स्थायी बना रहता है पर सैनिकों के पीछे हटने, चौकियों आदि पर शत्रुओं के अधिकार होने जैसे समाचारों से जनसाधारण में भय, आशंका के भाव शीघ्र ही फैल जाते है, और उत्साह कम हो जाता है। ऐसे समय में जनमानस की मनःस्थिति ठीक बनी रहे, उसमें संचरित होने वाला उत्साह-भाव दबे नहीं, बल्कि उत्तरोत्तर उभरता रहे। ऐसे प्रेरणा-प्रद ओजस्वी साहित्य की रचना युद्धपरक साहित्य की महनीय उपलब्धि है।

युद्धपरक साहित्य का स्थायी भाव उत्साह ही हो सकता है। उत्साह वह साहस है जो मनुष्य को दुस्तर लोकमंगल-कार्य में आनन्द के साथ प्रवृत्त करता है। आज उत्साह का यह भाव युद्ध, दान, धर्म, सत्य, दया कर्म तक ही सीमित नहीं है। प्राणोत्सर्ग की संभावना के अनुपात में ही उत्साह की लघुता-महानता का निर्धारण होता है। प्राचीनकाल का शास्त्रीय वीर-रस आज आवश्यक नहीं रहा। न वह वीरों को प्रेरणा दे सकता है न जीवन का सही चित्र ही प्रस्तुत कर सकता है। प्राचीन युद्ध में शारीरिक बल की प्रधानता थी। नायक अधिकार-वृद्धि, यशलिप्सा तथा रूपाकर्षण से प्रेरित होकर स्वार्थवश लड़ता था। आज युद्ध की टेकनीक एकदम बदल गई है। आज की परिस्थितियों में इन प्राचीन युद्ध-शैलियों पर लिखी गई कविताओं

से वीर रस की निष्पत्ति नहीं हो सकती । पर उत्साह की भावना आज भी वैसी की वैसी है, उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं हुई है ।

चीन व पाक के आक्रमण ने भारत रूपी वीर नायक की नस-नस में उत्तेजना भर दी है । आज के कवि ने मार्क्स, रवीन्द्र, गांधी, नेहरू आदि नेताओं को महान् वीर घोषित किया है, जबकि उनमें से किसी ने कोई लड़ाई नही लडी और उन साम्राज्यवादियों को कायर, कपटी और पामर बताया, जिन्होंने बम गिराकर सृष्टि को भस्मीभूत करना चाहा । आज के संदर्भ में यदि कोई सत्य बोलकर, धर्म का पालन कर, करोड़ो रुपयों का दान देकर राष्ट्र का अहित करता है तो वह हमारी श्रद्धा का नहीं, घृणा का पात्र होगा । आज वीर वह है जो शोषण से लड़ता हुआ भी देश की रक्षा के लिए कारखाने में हथियार बनाता है, अभावों से जूझता हुआ भी देशवासियों के लिए खेत में फसल पकाता है और अपने प्राणों का बलिदान करके भी दूसरों के जीने के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करता है । यही वीर-भावना युद्धपरक साहित्य की मूल विशेषता है । युद्धपरक साहित्य लिखने वाला कवि शृंगार, शांत, करुण आदि रसों के जो विभिन्न प्रतीक हैं, उन्हें भी नया अर्थबोध देगा । उनमें उष्मा, तेज और तारुण्य का प्रकाश भरेगा ।

२. युद्धपरक साहित्य की दूसरी मूलभूत विशेषता है– मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा करना । युद्धपरक साहित्य लिखते समय हमेशा इस बात का खतरा बना रहता है कि साहित्यकार की दृष्टि कहीं सीमित दायरे में बंधकर न रह जाय । करुणा, प्रेम, सहानुभूति, सौहार्द्र जैसे मानवीय गुणों का अविरल स्रोत जो नदी की तरह प्रत्येक प्राणी के लिए–चाहे वह किसी लिंग, जाति, वर्ण या धर्म का मानने वाला हो–सदा प्रवहमान रहता है, कहीं किसी विशेष दायरे में तालाब की तरह बंधकर सड़ान न उत्पन्न कर दे । अतः साहित्यकार की दृष्टि दूरगामी, निर्मल और निर्विकार रहनी चाहिए । इसके अभाव में जो कुछ लिखा जायगा वह क्षणजीवी होगा, साहित्य-धर्म से परे होगा । उसमें गाली-गलौच जैसी निम्न स्तरता होगी । उसे स्थायित्व और साहित्य-धर्मिता प्रदान करने के लिए ऐसे सामान्य अनुभव के क्षेत्र (Common areas of Experiences) ढूंढने होंगे जिनमें सहअस्तित्व, समभाव और सहचिन्तन को अधिकाधिक आश्रय तथा अवसर मिल सके ।

आज जो चीन व पाक के आक्रमण से सम्बन्धित साहित्य लिखा जा

रहा है उसमें प्रचार और उपदेश के स्वर की प्रधानता है। साहित्यकार ने युद्ध के क्रिया-व्यापार को आत्मसात नहीं किया है। युद्ध की भाव-भूमिका पर अपने हृदय को नही बिठाया है। केवल मस्तिष्क के कागजी घोड़े दौड़ाकर ही उग्र एवं ध्वंसात्मक कल्पनाएँ की हैं। इससे पाठक या श्रोता आतंकित होता है, भयभीत होता है, पर उसके हृदय में मर मिटने की भावना का ज्वार नही उमड़ता। दुश्मन के प्रति घृणा की भावना तो पैदा होती है पर स्वदेश के प्रति प्रेम की सघनता और अगाधता का बोध नही।

प्रेरणाप्रद साहित्य की रचना के लिए आवश्यक है कि साहित्यकार युद्ध की भयंकरता को अपने हृदय की मधुरता और कोमलता भी दे, रणक्षेत्र में लड़ने वाले सैनिक के परिवार को ममता की आँख से देखे। दुश्मन की हिम्मत को पस्त करने और उसके प्रति जनसाधारण के हृदय में घृणा उभाडने के लिए यह आवश्यक नही कि दुश्मन को गालियां दी जायँ और उसके 'मुर्दाबाद' के नारे लगाये जायँ वरन् यह अधिक आवश्यक है कि देश में उत्साह और जन-जागृति की स्थायी लहर पैदा की जाय और इसके लिए आवश्यक है कि साहित्यकार पुराण, इतिहास, प्रकृति, नवीन मशीनरी, सभ्यता आदि से ऐसे पात्र और प्रतीक चुने कि उन्हें वर्तमान विश्व-शान्ति और युद्ध के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा जा सके। आज तर्क को भावनामय बनाने की आवश्यकता नहीं रही, आज आवश्यकता है भावना को तर्कमय बनाने की।

---

३ | भाषा और सदाचार

पारस्परिक सम्बन्ध :

भाषा और सदाचार का पारस्परिक सम्बन्ध कुछ लोगों को बड़ा अटपटा लग सकता है। वे कह सकते हैं कि दोनों में नाममात्र का भी सम्बन्ध नहीं है। भाषा का काम विचारों को व्यक्त करना है और सदाचार का सम्बन्ध-तो सम्पूर्ण जीवन और उसकी विभिन्न पद्धतियों से है। पर गहराई से सोचने पर, जीवन की सम्यक् दृष्टि से विवेचना करने पर और उसे सही अर्थों में समझने पर सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि भाषा का जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है और जीवन का सदाचार से।

भाषा और जीवन :

जीवन क्या है ? केवल मात्र जन्म धारण कर पेट की भूख मिटाने के लिए येन केन प्रकारेण सामग्री जुटा लेने का प्रयत्न ही तो जीवन नहीं है। यह जीवन तो पशु-जीवन है। मानव-जीवन की मूल चेतना उसकी सामाजिकता में है। वह किस प्रकार सोचता है, किस प्रकार रहता है और अपने रहन-सहन तथा विचार-कर्णों से अपने पड़ौसी को, अपने आस-पास के वातावरण को और बढ़ते-बढ़ते सम्पूर्ण विश्व को किस प्रकार प्रभावित करता है। यही प्रक्रिया तो सक्रिय जीवन है। यही तो जीने की सार्थकता है। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि आचार और विचार इन दो धागों से जीवन का बानक बुना जाता है। इन दोनों धागों को जोड़ने में, और जुड़े बानक को सामाजिक हित के लिए प्रस्तुत करने मे भाषा सबसे अधिक सशक्त और सक्षम माध्यम है। भाषा का यह माध्यम दो रूपों में अपना कार्य करता हैं। एक तो मौखिक रूप

में सम्भाषण-क्रिया द्वारा हृदय में उठे हुए विचारों को तत्काल दूसरों के समक्ष प्रस्तुत करता है और दूसरे हृदय में उठे हुए भावों को बुद्धि का संयम देकर लिखित रूप में, साहित्य तथा शास्त्र के विविध रूपों में अभिव्यक्त करता है। इन दोनों प्रक्रियाओं में भाषा के आचार का पालन आवश्यक है। प्रथम रूप मे इस बात की अपेक्षा रहती है कि मुँह से कोई ऐसी बात न निकल जाय जो सुनने वाले को अप्रिय, कटु और अहितकारी लगे। इसी लिए आचार्यों ने कहा है कि सत्य बोलो और प्रिय बोलो। अप्रिय सत्य भी न बोलो, इसी संदर्भ में आकर भाषा का सदाचार से सम्बन्ध जुड़ जाता है। दूसरे रूप में इस बात की अपेक्षा रहती है कि हम किसी ऐसे साहित्य की सर्जना न कर बैठे जो व्यक्ति को पतित, दुराचारी और समाजोपेक्षी तथा समाज को भ्रष्ट, रुग्ण और प्रतिगामी बनाये। दूसरे शब्दो में यहाँ साहित्य के शील-अश्लील का प्रश्न सामने आ खड़ा होता है। यह प्रश्न अपना उत्तर अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं और युगीन आवश्यकताओं की चेतना से प्राप्त करता है।

भाषा और संस्कृति :

यह ठीक है कि भाषा विचारों को दूसरों तक पहुँचाने का साधन-मात्र है, पर इससे उसकी महत्ता और उपयोगिता में किसी प्रकार की कमी नही आती। साधन होते हुए भी उसमे इतना ओज और प्रकाश है कि वह पशु-जीवन को मानव-जीवन में परिवर्तित कर देती है, अपने स्वार्थ के घेरे को तोड़कर दूसरे के हित-चिंतन की परिधि तक फैल जाती है। भाषा मानवता के लिए सबसे बड़ा वरदान है। अमूर्त और सूक्ष्म साधन होने के कारण इसका सम्बन्ध जितना भौतिक मूल्यों से है, उससे कहीं अधिक आध्यात्मिक मूल्यों से है।

प्रत्येक भू-भाग की भाषा उस देश की संस्कृति, विचार-प्रणाली और कार्य-पद्धति से संबंधित होती है। युग-युगों के जीवनादर्श भाषा के रूप और गठन मे प्रतिध्वनित होते है। भाषा एक ओर संबंधित भू-प्रदेश के शाश्वत मूल्यों को अपने में छिपाये रखती है तो दूसरी ओर युगधर्मिता से प्रभावित होकर अन्य भू-भागो के विभिन्न मूल्यों को भी किसी सीमा तक ग्रहण करती है। यह मूल्य-ग्रहण बुरा नही है, परन्तु इससे आगे बढकर जब किसी देश की भाषा अपनी परम्पराओं को छोड़कर दूसरी विजातीय परम्पराएं ग्रहण कर लेती है तब सांस्कृतिक विघटन के चिन्ह स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं और

धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आ पहुँचती है, जब स्वदेशी भाषा विदेशी भाषा के सामने तुच्छ, हीन और जड-सी लगने लगती है।

भारत विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेश है। फिर भी यहाँ भाषा के नाम पर कभी झगडा नही हुआ। मध्यकाल मे सतो ने लोकभाषा का आश्रय लेकर जन-जन तक अपना सन्देश पहुँचाया। इसके भी पूर्व जैन आचार्यो और साहित्यकारो ने शास्त्रीय बधनो मे कसी भाषा को तिलांजलि देकर बहते हुए गगा के नीर के रूप मे जनभाषा को ही अपने विचारो का वाहन बनाया। उन्होंने वैदिक सस्कृत के स्थान पर अपभ्रंश, अपभ्रंश के स्थान पर राजस्थानी, गुजराती, और आज खडी बोली हिन्दी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। इसका कारण यही रहा कि जन-साधारण की भाषा मे जो बात कही जाती है उसका असर सीधा पडता है।

ऊपर हम भाषा और सस्कृति के सम्बन्ध की चर्चा कर आये हैं। इनमे कोई सन्देह नही कि जिस प्रकार साहित्य समाज का दर्पण है उसी प्रकार भाषा सस्कृति का दर्पण है। किसी भी संस्कृति के आदर्श उस देश की भाषा विशेष मे प्रतिबिम्बित होते हुए दिखाई देते हैं। उदाहरण के लिए पाश्चात्य स्सकृति मे विशेषत आग्ल सस्कृति मे व्यक्तिवादी विचारधारा का प्राधान्य है। यह व्यक्तिवाद वहाँ की विभिन्न जीवन पद्धतियो में तो प्रतिबिम्बित है ही वहाँ की भाषा अंग्रेजी मे भी उसके दर्शन होते हैं। अंग्रेजी मे 'मैं' समानार्थी शब्द 'आई' (I) हमेशा स्वतत्र रूप मे लिखा जायगा। चाहे वह किसी वाक्य के प्रारभ मे आये, चाहे वाक्य के बीच, उसका व्यक्तित्व हमेशा पृथक बना रहेगा। वह बडे अक्षर (Capital Letter) के रूप मे ही सर्वत्र लिखा जायगा। उसके विपरीत हमारे यहाँ समष्टिवादी विचारधारा का प्राधान्य होने से 'मैं' को कम महत्त्व दिया गया है। यहाँ बोलने और लिखने मे सामान्यत. 'मैं' के स्थान पर भी 'हम' का विशेष प्रयोग दिखाई देता है।

एक उदाहरण खान-पान से सम्बधित है। हमारी सस्कृति मे मास-भक्षण का निषेध है। त्यौहार आदि उत्सवो पर मिष्ठान्न (मिठाई) को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। जब अंग्रेज लोग यहाँ आये और उन्होने यहाँ की मिठाइयो का रसास्वादन किया तो वे बडे प्रसन्न और परितृप्त हुए। उन्होने अपनी भाषा मे इसके लिए एक नया शब्द बनाया—स्वीटमीट जिसका अर्थ

होता है मीठा गोश्त । वस्तुतः उनकी संस्कृति में मांस इतना अधिक घुलमिल गया है कि वे हमारे यहाँ के मिष्ठान्न को भी मीठा गोश्त कहने लगे ।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि भाषा का संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध है । भाषा के शब्दों और उसके रूपों के आधार पर यदि किसी देश का सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय तो बड़ा मनोरंजक और उपादेय होगा ।

भाषा और सदाचार :

जिस भाषा का सम्बन्ध जीवन और संस्कृति से हो, वह सदाचार से कैसे दूर रह सकती है ? आज देश में चारों ओर जो असद् आचरण और भ्रष्टाचार का बोलबाला है, विजयी मदोन्मत्त शासक की भाँति निधड़क घूमता-फिरता जो भ्रष्टाचार भारतीय समाज की रग-रग में अबाधगति से बढ़ा चला जा रहा है । उनके मूल में कई राजनैतिक, प्रशासनिक, आर्थिक और सामाजिक कारण हैं । सदियों की राजनैतिक पराधीनता ने हमारी सामूहिक भाव चेतना को कमजोर बना दिया है, प्रशासनिक ढाँचे में ऐसे तत्त्व छिपे हुए हैं जो शासित और शासक में अब भी दीवार खड़ी रहने देना चाहते हैं, आर्थिक दृष्टि से व्यक्ति का जीवन इतना भयावह, कठिन और असुरक्षित हो गया है कि वह येनकेन प्रकारेण पैसा बटोर कर सुखी जीवन की साध पूरी करना चाहता है, सामाजिक भेदभाव अब भी पूरी तरह मिटे नहीं हैं, उनका स्थान भाई भतीजावाद ने ले लिया है । इन सब कारणों से प्रशासन अस्थिर एवं दुर्बल बन गया है, नैतिक नेतृत्व शक्ति का ह्रास हो गया है और लगता है राष्ट्रीय संकट के साथ सांस्कृतिक संकट भी उपस्थित होगया है ।

जीवन को असद् प्रवृत्तियों की ओर बढ़ावा देने में ये सभी कारण तो हैं ही पर मेरी समझ में सबसे बड़ा कारण जो अधिक सूक्ष्म और अप्रत्यक्ष है—स्वतन्त्रता के बाद भी विदेशी भाषा का प्रशासन में उसी प्रकार बने रहना । प्रत्येक व्यक्ति का प्रजातन्त्रात्मक देश के शासन से आत्मीय सम्बन्ध स्वतः जुड़ जाता है । हमारे देश में भी सिद्धान्ततः प्रत्येक नागरिक शिक्षित, अशिक्षित, प्रशासनिक व्यवस्था से सम्बद्ध है । जब उसका कोई निजी कार्य किसी विभाग में पड़ता है तब उसे पता चलता है कि विदेशी भाषा अंग्रेजी न जानने के कारण वह अपने ही देश में पराया है । उसके और सम्बन्धित क्लर्क, ऑफीसर या प्रशासन के बीच एक अभेद्य दीवार खड़ी है । व्यवहारतः वह अपने प्रजातन्त्रात्मक देश में भी अपनापन अनुभव नहीं कर पाता है ।

इस भाषायी दीवार का दूरगामी और तात्कालिक भी—परिणाम यह होता है कि उसे अपना कार्य निकालने के लिए ऐसे व्यक्तियों की सहायता लेनी पड़ती है जो अंग्रेजी के माध्यम से सम्बन्धित व्यक्ति पर प्रभाव डाल सकते हों। इस सहयोग के लिए उसे बदले में किसी न किसी रूप में मेहनताना, पारिश्रमिक जिसे रूपान्तरित घूस भी कहा जा सकता है–देना पड़ता है। इस अतिरिक्त पारिश्रमिक के लोभ से–जो अनायास ही मिल जाता है–साधारण कर्मचारी से लेकर बड़े-बड़े पदाधिकारी तक भ्रष्ट होते देखे गये हैं। यही लोभ लालफीताशाही को पनपाता है, प्रशासन को भ्रष्ट करता है और नैतिकता का उन्मूलन करता है। सामान्य सदाचार के नियमों से वंचित होकर यह प्रशासकीय वर्ग–जो अपेक्षाकृत अधिक प्रबुद्ध होता है—समाज की स्वस्थ देह मे ऐसे रोग-कीटाणु छोड देता है जिससे समाज-देह का रोम-रोम जर्जरित हो उठता है।

इस बढ़ते हुए रोग को दूर करने के कई उपचार हो सकते हैं, पर मेरी समझ में सबसे अधिक प्रभावक औषधि यही है कि प्रशासन के स्तर पर व्याप्त जो विदेशी भाषा का जुआ पड़ा है, उसे शीघ्रातिशीघ्र उतार कर फेंक दिया जाय। जब तक शासक और शासित के बीच यह भाषा की दीवार बनी रहेगी, तब तक सदाचार को पनपने का अवसर ही नही मिलेगा।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर भी पता चलता है कि विदेशी भाषा के माध्यम से प्रशासक वर्ग वस्तु स्थिति को जन-साधारण से छिपाकर रखने में समर्थ होता है। मैकाले ने जब अंग्रेजी को प्रशासन का माध्यम बनाया तो उसके मूल में यही भावना छिपी थी कि वे ऐसी भाषा मे परस्पर बातचीत करें कि जिसे प्रशासकीय वर्ग के अतिरिक्त—कोई समझ न सके। पर राम-राज्य का आदर्श धरती पर उतारने वाला भारत अपनी भाषा मे न बोले और भ्रष्टाचार को मिटाने का दम्भ भरे तो उस पर तरस ही आ सकता है।

मेरा निश्चित मत है कि जब तक प्रशासन-स्तर से अंग्रेजी को न हटाया जायगा और उसके स्थान पर राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं को समुचित रूप से प्रतिष्ठित न किया जायगा, तब तक लाख प्रयत्न करने पर भी भ्रष्टाचार दूर न होगा, उल्टे भ्रष्टाचार मिटाने वाले साधन भी यदि वे विदेशी भाषा पर आधारित होंगे, अनैतिक बनते जायेंगे।

हो सकता है भारतीय भाषाओ मे अंग्रेजी भाषा जैसी एकरूपता, अंग्रेजी साहित्य जैसी वैभव-सपदा आज न हो पर इसका अर्थ यह तो कदापि नही कि भारत भूमि पर रहने वाले प्रत्येक भारतीय के हृदय-तारो को झकृत करन के लिए जो विद्युत प्रवाहित हो, वह अग्रेजी भाषा के वैभव-पूर्ण स्वर्ग के तारो मे से होकर हो। इससे कौन वैज्ञानिक इन्कार करेगा कि विद्युतधारा क द्रुतगति से प्रवाहित होने के लिए सोने के तार आवश्यक नहीं, ताँबे के तार ही अपेक्षित हैं। हिन्दी भाषा भले ही आज अग्रेजी की तुलना मे ताँबे का तार हो, पर जन-जन के हृदय म प्रेम एकता सदाचार और समर्पण की जो बिजली इसके माध्यम से दौडेगी वह किसी एक अङ्ग विशेष को नहीं, सम्पूर्ण राष्ट्र की आत्मा को उज्ज्वल प्रकाश से भर देगी।

साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में इतिहास विषयक समस्याएं

साहित्य और इतिहास :

साहित्य और इतिहास का दोहरा सम्बन्ध है। एक ओर क्रियात्मक रूप में इतिहास साहित्य-निर्माण का प्रेरक स्रोत बनकर आता है और साहित्य इतिहास जानने का विधायक तत्त्व बनकर। दूसरी ओर प्रतिक्रियात्मक रूप में इतिहास की बदलती हुई राजनैतिक घनटावलियाँ साहित्य की चली आती हुई परम्परा को एक दम बदलने का मोड़ देती हैं और साहित्य की संवेदना भी इतिहास की क्रूरता में ओज और माधुर्य का प्रतिष्ठापन कर युगप्रवर्तन प्रस्तुत करती है। साहित्य के अध्येता के लिए आवश्यक है कि वह क्रिया-प्रतिक्रियात्मक रूप से पड़ने वाले साहित्य और इतिहास के इन परस्परावलम्बित प्रभावों और प्रेरणा-स्रोतों का सजग होकर अध्ययन करे।

प्राचीन और आधुनिक साहित्य :

औद्योगिक क्रांति, विज्ञान के प्रचार-प्रसार, पाश्चात्य संपर्क आदि के कारण जिस आधुनिकता का आविर्भाव हुआ उसने प्राचीन साहित्य के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक मूल्यो से भिन्न अपने नये मूल्य और मानदण्ड ही निर्धारित नहीं किये वरन् साहित्य-सृजन की संपूर्ण प्रक्रिया और चेतना को भी झकझोर दिया है। यह परिवर्तन साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं आया वरन् जीवन और कला के प्रत्येक पार्श्व को उसने प्रभावित किया है। अब इतिहास लेखक व्यक्तिकाल सापेक्ष इतिवृत्तात्मक इतिहास न लिखकर व्यक्तिकाल निर-पेक्ष सांस्कृतिक इतिहास लिखने मे गौरव समझता है। साहित्यकार ने भी

वैयक्तिक आश्रयदाताओं का स्थान राष्ट्र-नायकों को दिया, युद्ध में जूझने वाले वीर ही अब वीर न रहे वरन् किसान और मजदूर भी वीरत्व के धनी बने। प्राचीन और आधुनिक साहित्य के इस वस्तुगत एवं रूपगत परिवर्तन ने अपने अध्ययन-अध्यापन मे इतिहास-बोध को भी प्रभावित किया है। अतः प्राचीन और आधुनिक साहित्य का अध्ययन करते समय इतिहास विषयक समस्याएँ भी दो भिन्न रूपों में हमारे सामने प्रस्तुत होती हैं।

प्राचीन साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में इतिहास विषयक समस्याएँ

इतिहास सामान्यतः कथा-काव्यों का मूल स्रोत रहा है। भक्तिकालीन साहित्य का स्रोत प्रधानतः पौराणिक है पर वीर-काव्य विशेषतः ऐतिहासिक पुरुषों से ही सम्बन्धित रहा है। ये पुरुष राष्ट्रीय जन-जीवन को प्रभावित करने वाले कम और अपनी वैयक्तिक सीमाओं मे यश-अर्जन करने वाले अधिक रहे हैं। इन वीर-काव्यों के रचयिता सामान्यतः इन पुरुषों के आश्रय में ही पले। अतः इनकी रचनाओं में आश्रय-दाता के जीवन वृत्त से सम्बन्धित विविध घटनापरक, स्थानपरक, पात्रपरक और कालपरक उल्लेख स्थान-स्थान पर आये हैं। ये विभिन्न ऐतिहासिक संदर्भ प्राचीन साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में, कई समस्याएँ उत्पन्न करते हैं। ये समस्याएँ तब और अधिक जटिल बन जाती है जब हम राज्याश्रित कवि में अपने आश्रयदाता की प्रशंसा म आकाश-पाताल एक करते हुए देखते हैं (अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन) प्रति नायक के गुणो को छिपाकर उसमे विरोधी गुणो का आरोप करते हुए देखते है (जोधराज के हम्मीररासो का प्रतिनायक चूहे से भी डरता है) और सामान्य सेना के पराजित होने पर सेनानायक या सम्राट् अथवा राजा का पराजित होना चित्रित देखते है। प्रश्न उठता है क्या साहित्य का अध्येता या अध्यापक इन सभी तथ्यों का सप्रमाण ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत करे और यदि करे तो किस सीमा तक ?

कुछ उदाहरण देकर मैं अपनी बात और स्पष्ट करना चाहूँगा। घटना मूलक समस्या के अन्तर्गत बीठू सूजा कृत "राव जैतसी रउ छंद" को रखा जा सकता है ? यह वीर रस की अनूठी कृति है। इसमें बीकानेर नरेश राव जैतसी द्वारा बाबर के द्वितीय पुत्र कामरान के पराजित होने का वर्णन है। मुगलकालीन इतिहास लेखको ने इस घटना का उल्लेख तक नहीं किया, पर इस कृति के द्वारा इतिहास विषयक यह नवीन और मौलिक तथ्य सामने आता

है। इस कृति को पढ़ाते समय इतिहास को किस रूप में और किस सीमा तक प्रस्तुत किया जाय ?

दूसरा उदाहरण महाराणा प्रताप के हल्दीघाटी युद्ध का है। मुगल इतिहासकारों ने सामान्य रूप से इस युद्ध में प्रताप को पराजित होना लिखा है पर दुरसा आढ़ा आदि कवियों ने जो प्रताप के सम्बन्ध में वीर दर्प पूर्ण दोहे-सोरठे लिखे हैं उनमें इस पराजय का तनिक भी संकेत नहीं। वस्तुतः यह युद्ध अनिर्णीत रहा और इससे प्रताप का गौरव और अधिक बढ़ा होगा। प्रताप सम्बन्धी इन दोहों को पढ़ाते समय हल्दीघाटी के युद्ध की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि को किस सीमा तक किस रूप में रखा जाय ?

पात्रमूलक समस्या और जटिल है। प्राचीन साहित्य में कई निश्चित-अनिश्चित हिन्दु-मुस्लिम पात्र भरे पड़े हैं। "पृथ्वीराज रासो", "भूषण ग्रन्थावली" आदि इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं। प्रश्न है इन पात्रों को ऐतिहासिक परिवेश में किस सीमा तक छात्रों के सामने खड़ा किया जाय ! कभी-कभी इन पात्रों को वंशगत-संदर्भ में प्रस्तुत किया जाता है। जैसे दुरसा आढ़ा के लिए आसाउत अर्थात् आसा का लड़का। इसी प्रकार जोवहर अर्थात् जोधा का पौत्र। प्रश्न है क्या आसाउत संदर्भ आने पर आसकरण के सम्बन्ध का ऐतिहासिक ज्ञान भी अपेक्षित है ? कभी-कभी ऐतिहासिक विशेषण भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे महाराणा प्रताप के लिए "अणदागल असवार"। अकबर के समय में घोड़ों को दागने की एक प्रथा थी पर प्रताप का घोड़ा नहीं दागा गया। इसलिए वे "अणदागल असवार" कहलाये। प्रश्न है इस प्रकार के ऐतिहासिक विशेषणों को कहाँ तक समझाया जाय ?

प्राचीन साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में एक विकट समस्या है रचना, रचनाकार व रचनाकाल के ऐतिहासिक क्रम-निर्धारण की। इस क्रम-निर्धारण में विभिन्न प्रतियों, ग्रंथ प्रशस्तियों, लेखक प्रशस्तियों, शिलालेखों एवं अन्त-र्साक्ष्य से जहाँ प्रभूत सहायता मिलती है वहाँ कई उलझनें भी खड़ी होती हैं। इन उलझनों के कारण हैं-लिपिकार की लापरवाही, संवत् सूचना में एकरूपता का अभाव, शब्दांक शैली में अनिश्चितता, लिपिकार या टीकाकार का कर्त्ता के रूप में उल्लेख। साहित्य का अध्यापक कृति के इस इतिहासपरक चीर फाड़ में कितना सहयोग दे ? शल्य चिकित्सक बनकर रहे या प्राण-चेतना का अनु-

मवी तथा रस-सौन्दर्य का उदघाटक बनकर रहे ? 'पृथ्वीराज रासो' मे साहित्यकार का अध्यापक अब तक शल्य चिकित्सक बनकर ही अधिक रहा है। ऐतिहासिक क्रम निर्धारण की यह समस्या संत एवं भक्ति काव्य के रचनाकारो एव कृतियों से भी उतनी ही सम्बद्ध है जितनी ऐतिहासिक वीर काव्यो से।

आधुनिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में इतिहास विषयक समस्याएं

प्राचीन साहित्य से आधुनिक साहित्य कई बातों में भिन्न है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि आधुनिक साहित्यकार जनतान्त्रिक सामाजिक चेतना से अधिक प्रभावित है। उसने सामन्तवादी सस्कृति का घेरा तोड़ दिया है। अब वह वैयक्तिक आश्रयदाताओ के गीत न गाकर राष्ट्र-प्रेम, विश्व-प्रेम एव सार्वजनीन हितो एवं भावों को अभिव्यक्ति का स्वर देता है। सामूहिक चेतना एव जन-सामान्य के प्रति आस्थावान होने के कारण व्यक्ति सापेक्ष्य ऐतिहासिक इतिवृत्त को वह इतना महत्त्व नही देता जितना कि युगसापेक्ष सास्कृतिक दृष्टिकोण को। इस परिवर्तित दृष्टिकोण के कारण पात्रगत, घटनापरक, स्थानगत एवं कालपरक ऐतिहासिक सन्दर्भो के तथ्यातथ्य निर्णय का प्रश्न अब इतना महत्त्वपूर्ण नही रहा है। अब महत्त्वपूर्ण रहा है वह ऐतिहासिक प्रवाह अथवा स्रोत जो साहित्य की किसी विधा के निर्माण में आधार रहा है। उसकी पृष्ठभूमि का सम्यक् व यथार्थ ज्ञान तद्विषयक साहित्यिक कृति के अध्ययन-आध्यापन के लिए अनिवार्य है। फ्रायडवादी विचार-धारा से प्रभावित साहित्य मे सामूहिक चेतना के स्थान पर जो वैयक्तिक अह और मानसिक सूक्ष्म विश्लेषण व अन्तर्द्वन्द्व मिलता है उसके अध्ययन मे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक पीठिका का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। प्रेस के आविष्कार ने आधुनिक साहित्यिक कृति, साहित्यकार एवं रचनाकाल के सम्बन्ध मे वह ऐतिहासिक क्रम निर्धारण सम्बन्धी सदिग्ध स्थिति नही रहने दी है जो प्राचीन साहित्य के सम्बन्ध में, उसके तत्काल प्रकाशन के अभाव मे हस्तलिखित प्रतियों के कारण बनी हुई है।

अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आधुनिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में इतिहास विषयक समस्याएं किस कोटि की हैं ? मेरी मान्यता है कि प्राचीन साहित्य में जो इतिहास विषयक समस्याएं है वे स्थूल व तथ्यनिरूपक अधिक है जबकि आधुनिक साहित्य में जो इतिहास विषयक समस्याएं है वे सूक्ष्म व प्रभावमूलक अधिक हैं।

जिस प्रकार मध्ययुगीन साहित्य मुसलमानों व मुगलों के सम्पर्क के कारण एक विशेष प्रकार के हिन्दू-मुस्लिम सामाजिक वातावरण से प्रभावित है उसी प्रकार आधुनिक साहित्य अंग्रेजों और अंग्रेजी के माध्यम से पड़ने वाले अन्य विदेशी प्रभावों से सप्रवृत्त है। अतः इन युगों के साहित्य का, उसकी सामान्य प्रवृत्तियों का, उसकी प्रक्रिया व प्रभावना का अध्ययन करते समय मुगलकालीन एवं ब्रिटिशकालीन इतिहास का, उसकी विभिन्न प्रभावक शक्तियों का, महत्वपूर्ण राजनैतिक घटनावलियों एवं सांस्कृतिक उथल-पुथल का सम्यक् ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है; अन्यथा हम यह न बतला पायेंगे कि विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों के उद्गम के क्या कारण हैं। भारतेन्दु युग मे देशभक्ति के साथ-साथ राजभक्ति का स्वर क्यों मिला हुआ था ? अथवा स्वतन्त्रता के पूर्व काव्यधारा मे जो विस्फोट, आग और उत्सर्ग की भावना थी वह स्वतन्त्रता के बाद क्यों नहो रही ? अथवा चीनी आक्रमण के बाद फिर क्यों काव्यधारा मे एक नया मोड़ आया। इन संकेत-बिन्दुओं से यह स्पष्ट है कि इतिहास की घटनाएं साहित्य के मूल में अन्तःसलिला की भांति नित्य प्रवाहित होती रहती हैं। समस्या यह है कि साहित्य का अध्येता इन्हें झीने आवरण में ही देखता रहे या कुरेद-कुरेद कर उनमें अवगाहन भी करे।

इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं सूर्यमल्ल मिश्रण कृत 'वीर सतसई,' के एक दोहे को आपके समक्ष रखना चाहता हूँ—

> 'इकडकी गिरा एक री, भूले कुल साभाव।
> सूरां आलस ऐस मे, अकज गुमाई आव।'

इसका सीधा अर्थ यही है कि वह समय ऐसा था जब कि किसी एक का ही आधिपत्य मानकर शूरवीर अपने कुल-स्वभाव को भूल गये थे और आलस्य एवं भोग में अपनी आयु व्यर्थ खो रहे थे।

वस्तुतः इस अर्थ से पाठक का मन नहीं भरेगा। वह इस समय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जानना चाहेगा। सन् १८५७ के राष्ट्रीय जागरण के समय पूरे देश मे जो लहर उठी उससे राजस्थान के गढ़पति और शूरवीर क्यों उदासीन और अकर्मण्य रहे। इसके ऐतिहासिक कारणों एवं तद्विषयक परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त कर ही हम 'वीर सतसई' का सही अध्ययन-अध्यापन करा पायेंगे। यह स्मरणीय है कि 'वीर सतसई' वीर काव्य है, पर

उसमें प्राचीन वीर काव्यों की भांति किसी व्यक्ति विशेष या आश्रयदाता को वीर भावो का आलम्बन नहीं बनाया गया है। यहा वीर भाव की—आंतरिक उल्लास एवं बाह्य कार्य-पटुता के रूप में—सार्वजनीन रूप से अभिव्यंजना की गई है। यही कारण है कि यहां जो इतिहास विषयक समस्या है वह कृति विशेष में उल्लिखित पात्र, घटना या स्थान विशेष से संबंधित नही है वरन् उस पूरे व्यापक ऐतिहासिक परिवेश एवं युग-बोध से संबंधित है जिसमें यह कृति लिखी गई है।

यहीं आकर एक विकट प्रश्न खड़ा होता है। आधुनिक साहित्यकार क्यों ऐतिहासिक स्रोतों को अपने कृतित्व का आधार बनाता है और यदि बनाता है तो क्यों उसमे अपने युग के वातावरण और चारित्रिक वैशिष्ट्य को प्राचीन वातावरण और प्राचीन चरित्रों पर आरोपित करता है।

'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों या श्री वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासो को पढ़ते समय हम यह अनुभव करते हैं कि इन कृतियों में लेखक की युग-भंगिमाएं स्थान-स्थान पर प्रकट हुई हैं और हमें जो रस मिलता है शायद इसीलिए कि हम उन प्राचीन वातावरण में भी अपने युग की झाकी देखते हैं। क्या यह काल-क्रम दोष नही है ? इतिहास के साथ साहित्यकार की आत्म-छलना नहीं है ? सम्भव है केवल पात्रो और तिथियों को ही आधार बनाकर इतिहास लिखने वाला व्यक्ति इन दोषों को स्वीकार करे पर मेरी मान्यता है कि इस युग-बोध को ऐतिहासिक परिवेश में प्रतिष्ठित करने के कारण ही वह इतिहास साहित्य का अग बन पाया है, उसमे रस का समावेश हो सका है। पर हम रचनाकार से यह अवश्य अपेक्षा करेंगे कि वह ऐतिहासिक वातावरण की पूरी-पूरी रक्षा करे। अशोक के गले में टाई न लगवाये। उसके मुंह से Greatest good of the greatest number जैसी वाक्यवली न बुलवाये।

इसी से सम्बन्धित समस्या है ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की परिधि की। हम किस सीमा तक किस स्तर के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के परिज्ञान का निर्धारण करें ? इसके लिए मैं ऐतिहासिक कृति से नहीं बल्कि ऐतिहासिक सदर्भ से प्रभावित दो रचनाओं का उल्लेख करना चाहूंगा।

पहली रचना है श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी कृत 'उसने कहा था' कहानी।

यह कहानी पी० यू० सी० स्तर से लेकर एम० ए० स्तर तक समान रूप से पाठ्यक्रम में है। समस्या है इसके ऐतिहासिक सन्दर्भ की। कहानी को पढ़ाते समय प्रथम महायुद्ध की पीठिका बतलाना आवश्यक है या नहीं ? यदि है तो पी० यू० सी० तक किस सीमा में और एम० ए० तक किस सीमा में ? युद्ध में भारतीय सैनिकों के भाग लेने की परिस्थिति का तथा उसके प्रतिफल के रूप में 1919 के एक्ट की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिज्ञान भी इस कहानी के संदर्भ में कराना आवश्यक है या नहीं ? इन प्रश्नों पर विचार करना है।

दूसरी कृति है श्री मैथिलीशरण गुप्त कृत 'अजित'। उसमें प्रथम बिन्दु है आतंक और दूसरा बिन्दु है अहिंसा। दादा श्यामसिंह और अजित के माध्यम से वस्तुतः कवि ने कांग्रेस के गरम और नरम दलों की कार्यपद्धतियों का परिचय और विवरण इस कृति के माध्यम से दिया है। 'अजित' के अध्ययन-अध्यापन के समय कांग्रेस का तद्विषयक इतिहास हमें किस सीमा तक जानना चाहिए ?

प्राचीन और आधुनिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के सम्बन्ध में इतिहास तत्व एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की कुछ समस्याएं मैंने आपके समक्ष प्रस्तुत की हैं। ये समस्याएं अपने आपमें स्वतन्त्र भी हैं और तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, नैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित भी। इन सबका ऐतिहासिक संदर्भ में एक अविच्छिन्न धारा के रूप में अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। अब तक सामान्यतः कृति विशेष के ऐतिहासिक विश्लेषण में ही हम लोग अधिक लगे रहे हैं, अब युग विशेष की ऐतिहासिक धारणाओं को संबद्ध क्रम में समझकर उनके परम्परावलम्बित प्रभावों एवं परिणामों का अध्ययन आवश्यक है।

साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में इतिहास की सीमाएँ :

(१) साहित्यकार स्रष्टा होता है, जबकि इतिहास-लेखक विवरण प्रस्तुतकर्त्ता। इस दृष्टि-भेद के कारण दोनों की कार्यपद्धति में पर्याप्त अन्तर हो जाता है। इतिहास लेखक अतीत की बीती हुई घटनावलियों को सप्रमाण क्रमिक रूप देता है जबकि साहित्यकार अतीत की घटनावली में भी कल्पना का रंग भरकर उसमें युग की संवेदनाएँ ही चित्रित नहीं करता, वरन् भविष्य के लिए निर्देश भी करता है। यही कारण है कि महान् साहित्यकार अपने

युग के इतिहास-लेखकों की घटनाओं एवं आँकड़ों से कहीं अधिक व्यापक और गहरे यथार्थ का चित्रण करता है। 'प्रसाद' में साहित्यकार और इतिहास-लेखक दोनों की प्रतिमा थी। अपने नाटकों की विस्तृत शोधपरक ऐतिहासिक भूमिकाएँ लिखकर भी प्रसाद ने अपने कृतित्व में उस सामग्री का पूरा उपयोग नहीं किया और स्थान-स्थान पर कल्पना से काम लिया। इसी कल्पना तत्त्व के कारण प्रसाद के नाटक साहित्य की कोटि में आ सके। ऐतिहासिक साहित्यकार से यह अपेक्षा अवश्य रहती है कि वह अपनी कृति में जो भी परिवर्तन करे अथवा कल्पना करे, वह मुख्य-घटना व पात्र में न होकर, उसके क्रम अथवा कार्य-कारण शृंखला में हो। किसी कृति को इतिहास की घटनाओं में पूरी तरह 'फिट' करके देखना ठीक नहीं। उससे वह कृति विरूप हो जायेगी और उसका एकांगी रूप ही हमारे सामने आयेगा।

'पृथ्वीराज रासो' के सम्बन्ध में हमारी यही दृष्टि अब तक विशेष रही है। आवश्यकता इस बात की है कि उसे इतिहास का ग्रन्थ न समझकर ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (ऐतिहासिक तथ्य नहीं) पर लिखित साहित्य का ग्रन्थ समझा जाये और उसी सीमा में उसके साहित्यिक, सौन्दर्य एवं सांस्कृतिक चेतना का मूल्य आँका जाय।

(२) किसी साहित्यिक कृति के अध्ययन-अध्यापन के सम्बन्ध मे उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ-साथ उसकी लोकधर्मी परम्पराओं का ज्ञान भी आवश्यक है। साहित्यकार ऐतिहासिक कृति लिखते समय अपने स्रोत केवल ज्ञात इतिहास से नहीं लेता वह प्रचलित किंवदन्तियों, लोक-वार्त्ताओं एवं लोक-साहित्य से भी कथा के संयोजक एवं विधायक तत्त्व ढूंढ निकालता है। वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में बुन्देलखण्डी लोक परम्पराएं पर्याप्त मात्रा मे आधार बनकर आई हैं। ये परम्पराएं कई मानों में अधिक यथार्थ भी होती हैं। उदाहरण के लिए अंग्रेज इतिहासकारों ने डूंगजी—जवारजी को डाकू के रूप में चित्रित किया है, जबकि राजस्थान के लोक गीतों में सन् १८५७ के राष्ट्रीय जागरण के पूर्व वे स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वाले वीरों के रूप मे स्मरण किये गये हैं।

(३) साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में इतिहास विषयक तथ्यों का परीक्षण करते समय वस्तुओं, व्यक्तियों और प्रवृत्तियों मे छिपी हुई असंगतियों

एव अन्तर्विरोधो को पहचान कर उनके कारणो की सूक्ष्म पकड भी अपेक्षित है, अन्यथा हमारा अध्ययन अधूरा और भ्रातिपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए जैन साहित्य सामान्यत शात रस मे पर्यवसित होता है। पर उसके मध्य मे इतना अधिक विनद और उद्दाम शृंगार तैरता चलता है कि पाठक को उसकी प्रगाढ अनुभूति होती चलती है। इसी प्रकार वस्तु तत्त्व की दृष्टि से जैन साहित्य मे शास्त्रीय सिद्धान्तो के प्रति साहित्यकार का विशेष आग्रह देखा जाता है पर रूप तत्त्वो व काव्यरूपो की दृष्टि से वहा सहजता व लौकिकता के दर्शन होते हैं। जैन साहित्य के अध्येता के लिए इस अन्तर्विरोध के कारणो को इतिहास के माध्यम से जानना आवश्यक है।

(४) हमारे यहा इतिहास-लेखन की व्यवस्थित परम्परा नही रही। धार्मिक एव सामाजिक दृष्टि से भी अपने बारे मे कुछ कहना या लिखना प्रत्येक भारतवासी हेय समझता रहा। इसीलिए कई ऐतिहासिक तथ्य असगतियो से भरे पडे हैं। मुसलमानो के सम्पर्क से यहा इतिहास-लेखन को बल मिला। मुस्लिम बादशाह इतिहास लेखन के बडे प्रेमी होते थे। वे स्वय अपनी आत्म कथा लिखा करते थे। उनके यहा एक ही हिजरी सन् चलता है। हमारे यहा शक, विक्रम, वीर, ईस्वी आदि कई सन् सवत् चलते हैं। इस सवत विषयक अनेकरूपता के कारण कृति एव कृतिकार के काल-निर्णय में बडी बाधा पडती है। सवत विषयक एकरूपता से भी सही इतिहास लेखन में बडी सहायता मिलती है।

(५) साहित्य का अध्ययन करते समय इतिहास का उपयोग साधन के रूप में ही किया जाय, कसौटी के रूप मे नही। साहित्यिक ग्रन्थ से हम व्यक्ति विशेष के तथ्यात्मक इतिहास या प्रामाणिक जीवन वृत्त को जानने की इतनी अपेक्षा नही रखते जितनी कि युग विशेष की सास्कृतिक चेतना को जानने व ऐतिहासिक परिवर्तन के क्रम को समझने की।

— — —

५ जनतांत्रिक सामाजिक चेतना के विकास में साहित्यकार का योग

मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते जीवन और जगत के विभिन्न परिपार्श्वों को स्पर्श करता है। कभी वह समाजनीति की मर्यादाओं से अपने सामूहिक व्यक्तित्व को बांधता है, कभी धर्मनीति के नियमों में अपने को पहचानता है, तो कभी अर्थ-नीति की उलझनों में फँसकर जीवन की मूलभूत पार्थिव आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यस्त रहता है। ये ही विभिन्न प्रभाव आज के वैज्ञानिक युग के जटिल मानव—व्यक्तित्व को संपूर्णता प्रदान करते हैं। कभी यह व्यक्तित्व प्रकृति की क्रीड़ा को देखकर विस्मित, स्तम्भित और भयभीत होता है तो कभी मानव-प्रकृति के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, काम-क्रोध की अनुभूति कर विभिन्न मनोभावों के हिंडोले में झूलता रहता है। इस संघर्ष भूमिका से ऊपर उठने के प्रयत्न में वह विभिन्न सत्ताओं और पदार्थों में समन्वय, सामंजस्य और सौहार्द की स्थापना करने के लिए तडपता है। यही तड़पन काव्य या साहित्य की उद्गमस्थली है। काव्य इसी सत्य को व्यंजित करता है, कवि इसीलिये क्रांतदर्शी, स्वयंभू और ब्रह्म कहा गया है।

मोटे तौर से सत्य को दो श्रेणियों मे बांटा जा सकता है- (१) पशु सत्य और (२) मानव सत्य। मानव अपने बुद्धिबल से आहार, निद्रा, भय और मैथुन जैसी आवश्यकताओं की पूर्ति परिष्कृत रूप में कर लेता है, इसलिये वह बुद्धिमान पशु है। जिन नियमों और सिद्धान्तों का सहारा लेकर

यह बुद्धिमान पशु अपने पशु-जीवन की समस्याओं को हल करता है, उन्हीं की समष्टि को पशु सत्य कहते हैं। काव्यकार उसी सत्य की उपलब्धि के प्रयत्नों को स्थायित्व प्रदान करने के लिये काव्य-निर्माण करता है। मानव सत्य को भी दो विभागों में बांटा जा सकता है— (१) युग-सत्य अथवा जीवन-सत्य (२) चिरन्तन सत्य अथवा महाप्राण सत्य। बुद्धि के सहयोग से जब मानव पशु-वृत्ति का दमन न कर अनुचित संग्रह, अमर्यादित व्यभिचार और भू-सम्पत्ति पर अन्यायपूर्ण अधिकार कर लेता है तब कई प्रकार की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याएं पैदा होती हैं। इन समस्याओं के निराकरण एवं युग-विशेष अथवा काल-खंड के विशेष प्रश्नों के समाधान के लिये जिन नियमों और सिद्धांतों का आविष्कार तथा प्रवर्तन किया जाता है, उनकी समष्टि को युग-सत्य अथवा जीवन-सत्य कहते हैं। यह युग-सत्य व्यक्ति को वीर, समाज को सचेतन और देश को जागरूक बनाता है।

यही युग सत्य सामाजिक चेतना का शृंगार करता है और सामूहिक, जातीय एवं राष्ट्रीय हितों के संवर्द्धन की प्रेरणा देता है। लेकिन जब युग सत्य भी किन्हीं कारणों से विकृत हो जाता है तब चिरन्तन सत्य अपने निर्विकार रूप में प्रगट होता है। यही चिरन्तन सत्य साहित्य का शाश्वत आधार होता है। युग-सत्य जहां सामयिक होने के कारण अस्थायी और परिवर्तनशील होता है वहां चिरन्तन सत्य सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक होता है। 'किन्तु चिरन्तन सत्य युग-सत्य को अपनी संगति में लाकर ही चल सकता है, उसे त्याग करके नहीं, क्योंकि स्वयं वह अचल है और गति-शील युग सत्य से अनुप्राणित होकर ही गतिमय हो सकता है। साथ ही जहां अपनी प्रगति के लिये चिरन्तन सत्य युग सत्य पर निर्भर है, वहां मूल शक्ति की प्राप्ति के लिये युग सत्य भी चिरन्तन सत्य पर आश्रित है और उसके विरोध में पड़ते ही गंगा से पृथक् हो जाने वाले नाले की तरह तिरस्कार और त्याग के योग्य हो जाता है।'

अतः काव्य-रचना करते समय कवि और साहित्यकार को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह तीनों सत्यों का—पशु-सत्य, युग-सत्य और चिरन्तन-सत्य-अनुपात ठीक रखे। अगर उसने किसी एक भी सत्य के साथ पक्षपात करके अभिव्यंजना में कमी-बेशी की तो उसके कृतित्व में निर्माणकारी ताकत नहीं रहेगी। अब प्रश्न उठता है कि वे कौन-सी परिस्थितियां हैं जो

साहित्यकार को पक्षपात करने के लिये विवश करती है ? वैसे कहने को तो कहा जाता है "निरंकुशा कवयः" कवि निरंकुश होता है, वाणी का डिक्टेटर होता है। फिर भी कवि पर बन्धन होता है या तो जनता का या शासन का। पर सच्चा साहित्यकार फरमाईश के आधार पर माल तैयार नहीं करता। वह जो कुछ लिखता है अन्तः प्रेरणा से स्वतः स्फूर्त होकर लिखता है, इसीलिये तो कहते हैं "कोठे सोई होठे।"

लेकिन यह मानना होगा कि आज की विकासशील राजनीति में जो अनेक वाद खड़े हो गए हैं, जो अनेक प्रकार की शासन-प्रणालियां अस्तित्व में आ गई हैं, उन्होंने साहित्यकार की स्वाधीनता को विवाद का विषय बना दिया है। आज राजनीतिक क्षेत्रों में दो प्रकार की विचारधाराएं काम कर रही हैं। एक विचारधारा है सर्वात्मक शासन की (Totalitarian Government) और दूसरी विचारधारा है जनतांत्रिक शासन (Democratic Government) की। एक में राष्ट्र ही सब कुछ है, व्यक्ति को उसकी बलि-वेदी पर पतंगे की तरह जल मरना पड़ता है। दूसरे में व्यक्ति की स्वातन्त्र्य चेतना को भी समुचित महत्त्व और सम्मान दिया जाता है। एक में वैयक्तिक विकास एवं आत्म-प्रसरण पर अर्गला लगी है तो दूसरे में विचार-अभिव्यक्ति एवं भाव-प्रकाशन की पूरी छूट है। इन दोनों प्रकार के राजनैतिक मतवादों की गूंज साहित्यक क्षेत्र में भी सुनाई पड़ती है। जिन देशों में एकदलीय सर्वात्मक शासन है और जिसकी सत्ता असीम तथा अनन्त है, वहां साहित्य-कारों के मुँह पर ताले पड़े रहते हैं। वे शासन-नीति के विरुद्ध न तो कोई विचार ही व्यक्त कर सकते हैं, न प्रकाशन के माध्यम से शासन-नीति की आलोचना ही कर सकते हैं। प्रेस और प्लेट फार्म केवल सत्तारूढ़ शासक का ही अनुगमन और अनुकरण करते हैं और अगर किसी ने शासन-मर्यादा का अतिक्रमण किया तो फिर उसकी खैर नहीं।

उपर्युक्त कथन का ज्वलन्त उदाहरण पास्तरनाक है। पास्तरनाक वह साहित्यकार है जो रूस की भूमि में फला-फूला और जिसने डा० 'जिवागो' नामक अपना प्रसिद्ध उपन्यास लिखा। इस पर पास्तरनाक को नोबेल पुरस्कार देने की घोषणा भी हो गई। पर विश्व ने आश्चर्य के साथ सुना कि पास्तरनाक ने पुरस्कार लेने से इन्कार कर दिया। इसका कारण था रूस सरकार का नियन्त्रण और आतंक। रूस जैसे सर्वात्मक एकदलीय

शासन में साहित्यकार उन्मुक्त चिन्तन नहीं कर सकता। पास्तरनाक ने अपने उपन्यास में सोवियत समाज-व्यवस्था, अक्तूबर-क्रांति और मार्क्सवाद की तीखी आलोचना की थी। यही कारण था कि न तो उसका प्रकाशन रूसी-क्षेत्र में हुआ और न उसके पुरस्कृत करने के समाचार का अभिनन्दन किया गया, बल्कि उसे बुरी तरह धमकाया गया। इस पुस्तक के पूर्व भी सोवियत समाज व्यवस्था की तीखी आलोचना करने वाले दो उपन्यास एरेनबुर्ग का 'थॉ' और डूडण्टिसेव का 'नाट बाई ब्रेड अलोन' प्रकाशित हो चुके थे। पर इनको लेकर इतनी खलबली नहीं मची, क्योंकि इनमें सोवियत शासन-व्यवस्था एवं मार्क्सवादी जीवन-दर्शन की जड़ पर कुठाराघात नहीं था, बल्कि व्यवस्था में निहित नौकर-शाहियत और खुशामदपरस्ती पर ही आघात था।

प्रश्न यह है कि क्या साहित्यकार इस प्रकार की पराधीनता में रह कर सामाजिक चेतना को विकसित कर सकेगा? उसका उत्तर है 'नहीं'। 'जिवागो-प्रकरण' ने साहित्यकार की स्वाधीनता के प्रश्न को लेकर विश्व-भर में उत्तेजना पैदा कर दी है। अनिश्चित रूप से साम्यवादी देशों को इसका उत्तर देना होगा। सन् १९१९ में रूस में जो क्रांति हुई थी, उस समय कलाकार के ऊपर नियन्त्रण रखने में भले ही कुछ राजनैतिक कारण रहे हों पर अब तो ४५ वर्ष का लम्बा जमाना गुजर गया है। वही स्थिति अब चलने की नहीं। अगर यही परिस्थिति रही तो वहां का साहित्यकार सामाजिक एवं लोकदायित्व से नितान्त विमुख हो जायगा। उसकी अनुभूतियाँ अभिव्यक्ति के अभाव में तड़प-तड़प कर मर जायेंगी। कहाँ तो पुश्किन, चेखव, डास्टायवस्की, गोर्की और टालस्टाय की उदात्त भावनाएं जन-जन में स्फूर्ति और शक्ति का संचार कर रही हैं और कहाँ आज के तथाकथित साहित्यकार रूसी सत्ता और शासन के बाड़े में कैद होकर ग्रामोफोन के रिकार्ड की तरह शासकीय वाणी को प्रतिध्वनित कर रहे हैं। इसीलिये कम्यूनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस में सोवियत साहित्यिकों को 'मृत आत्मा' के नाम से अभिहित किया गया है। अतः साहित्यकार की स्वाधीनता तो श्रेष्ठ-साहित्य के सृजन की मूल भीत्ति है ही।

अब दूसरा प्रश्न उठता है कि क्या उन देशों में जहाँ जनतान्त्रिक शासन-प्रणाली है, जहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का पूरा उभार है, जहाँ विचार

अभिव्यक्ति और भाव-प्रकाशन की छूट है, श्रेष्ठ साहित्य का सृजन हो रहा है ? सामाजिक चेतना के विकास में साहित्यकार योग दे रहे हैं ? इसका उत्तर देने के पहले हमें साहित्य में व्यष्टि और समष्टि के महत्त्व पर विचार कर लेना चाहिए।

कुछ लोग साहित्य-सर्जना को नितांत वैयक्तिक साधना मान कर जीवन से उसका कोई संबंध नहीं स्थापित करते। ऐसे लोग 'कला कला के लिये' चिल्लाते रहते हैं, पर सचमुच साहित्य जीवन के लिये है, समाज के लिये है और है राष्ट्र के लिये। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने साहित्य-निर्माण की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए लिखा है कि 'साहित्य का निर्माता, अपना निर्माण त्रिकोणात्मक करता है। एक शीर्ष पर वह रहता है, दूसरे पर वर्ण्य और तीसरे पर ग्राहक।' साहित्य या काव्य के निर्माण में कर्त्ता वर्ण्य की जिन अनुभूतियों का अनुभव सामने रखता है, ग्राहक या पाठक उनको ग्रहण करता है। कर्त्ता के अन्तःकरण में जो भाव-सागर लहराता है वह समाज का ही होता है। अतः समाज 'रा मटेरियल' सप्लाई न करे तो साहित्य का कारखाना ठप्प हो जाय। अतः यह स्पष्ट है कि साहित्य में समाज का महत्त्वपूर्ण स्थान है, लेकिन साहित्य का निर्माण तो किसी व्यक्ति विशेष द्वारा ही होता है। यदि एक ही विषय का वर्णन भिन्न-भिन्न व्यक्ति करें तो उनमें भिन्नता होना स्वाभाविक है। अब प्रश्न उठता है कि साहित्य में इस भिन्नता का महत्त्व माना जाय या समष्टि की अभिन्नता का ? भिन्नता या व्यक्ति का सम्बन्ध केवल कर्त्ता से नहीं, ग्राहक से भी है, वर्ण्य से भी है। कर्त्ता दूसरों की अनुभूति का ग्रहण प्रतिबिम्ब के रूप में करता है और ग्राहक उस प्रतिबिम्ब को अपने मानस में प्रतिबिम्बित करता है। इस प्रकार उनका ऐकीकरण या साधारणीकरण होता है। "साहित्य की सत्ता प्रातिबिंबिक सत्ता है, प्रातिभासिक नहीं। साहित्य सत् का प्रतिबिम्ब है, असत् का भ्रम नहीं।" अतः स्पष्ट है कि साहित्य की व्याप्ति के लिए समष्टि को व्यापक और व्यक्ति को व्याप्य होना चाहिए।

पश्चिमी देशों में, जहाँ साहित्य मनोरंजन और कला की वस्तु है, व्यक्ति प्रधान माना जाता है पर भारत में जहाँ साहित्य रजोगुण और तमोगुण को दबा कर सात्विकता का उद्रेक करता है, व्यक्ति का लय समष्टि में ही हो जाता है "यहाँ (भारत में) साध्य समष्टि है, साधक व्यक्ति है. साहित्य भाव-साधना है। समाज लक्ष्य है, सामाजिक ग्राहक है और सामाजिकता साहित्य-धर्म है।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य व्यक्तिगत प्रलाप नहीं है वह सामूहिक दायित्व एवं हित का संवाहक है। भारतीय साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालने से प्रतीत होगा कि वह समाज से हमेशा अनुप्राणित रहा है। यदि उसने कर्मवाद और भाग्यवाद के सिद्धांत को अपनाया है तो पुरुषार्थ को भी सदा आगे रखा है। धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष के इर्द-गिर्द हमारा हिन्दी साहित्य घूमता रहा है। वीरगाथाकालीन कवि अपने धर्म को लेकर युद्ध में जूझते रहे तो भक्तिकालीन निर्गुण और सगुण कवि मुक्ति के पथ की खोज में साधक बने रहे। रीतिकालीन कवि काम-तत्त्व के विवेचन मे लगे रहे तो आधुनिक प्रगतिशाल कवि अर्थ के समान-वितरण और समाजवादी व्यवस्था के गीत गाते रहे।

आजादी के बाद साहित्यकार का दायित्व तथा कार्यक्षेत्र और अधिक बढ़ गया है। देश के चहुँमुखी विकास के लिए बड़े-बड़े योजनाबद्ध कार्य चल रहे हैं। व्यक्ति को कई प्रकार के मौलिक अधिकार प्राप्त है। उसे लिखने, पढ़ने, बोलने और प्रकाशन करने की छूट है। आज राजनीतिज्ञ देश के अन्तर्राष्ट्रीय गौरव को बढाने के लिये प्रयत्नशील है तो सामाजिक कार्यकर्त्ता समाज सुधार की ओर विविध योजनाओं को कार्यान्वित करने में लगा हुआ है, अर्थशास्त्री देश को दरिद्रनारायण से लक्ष्मीनारायण बनाने का उपाय ढूंढने में व्यस्त है तो आत्मवादी जीवन को आचारनिष्ठ बनाने की भूमिका प्रस्तुत कर रहा है।

किन्तु इतिहास साक्षी है कि कोई भी योजना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि उसके मूल मे जनजागरण न हो, जनता जनार्दन की प्राण-स्पन्दना न हो। योजना की प्रक्रिया ऐसी मालूम न पड़े कि वह सरकारी तौर मे जनता के ऊपर थोपी जा रही है वरिक ऐसा महसूस हो कि वह नीचे से उठ कर ऊपर की ओर बढ़ रही है। अगर योजना के साथ जन-सहयोग न हुआ, मनोयोग का गठबन्धन न हुआ, मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा न हुई तो योजना एकागी सिद्ध होगी। आज की योजनाओं में जो सब से बड़ा खतरा है वह यही है कि योजना के अन्तर्गत भौतिक प्रगति तो आशातीत हो रही हैं। बड़े-बड़े बांध बन रहे है, बिजलीघरो मे बिजली की शक्ति संचित की जा रही है। खाद्य एवं उद्योग की दृष्टि से स्वाश्रयी बनने के प्रयत्न हो रहे हैं। यह सब तो होना ही चाहिए। पर अगर एक सत-मंजिला महल बन गया। उसमें पंखे लग गये, विद्युत-प्रकाश से वह झलमला

उठा, खाने-पीने की सामग्री से भर भी दिया और अगर रहने वाला उसमें कोई सच्चा मनुष्य नही है तो उसका सारा गौरव नष्ट हो जायगा।

ठीक यही बात देश के लिये कही जा सकती है। अगर योजना मे मानव-मन के निर्माण का प्रयत्न नही किया गया, मन की उच्छृङ्खलित प्रवृत्तियो का बाध नही बांधा गया, आत्मा के बिजलीघर में ज्ञान की शक्ति नहीं पैदा की गई, मानसिक खाद्य की दृष्टि से स्वाश्रयी बनने का अभियान नही शुरू किया गया, नैतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा नहीं की गई तो योजना केवल भौतिक योजना बन कर रह जायगी, मानवीय नही। योजना केवल वस्तु-योजना (**Material-Plan**) न हो व्यक्ति-योजना (**Human Plan**) भी हो। व्यक्ति-योजना के अभाव में हमारी वही दशा होगी जो बलि और उसके राज्य की हुई थी।

कहा जाता है कि राजा बलि राज्य-भ्रष्ट होने के बाद अज्ञातवास मे रह रहे थे। एक दिन देवराज इन्द्र उससे मिलने को जा पहुंचे। वार्तालाप हो ही रहा था कि इन्द्र ने साश्चर्य देखा कि बलि के शरीर से साक्षात् लक्ष्मी प्रकट हुई और इन्द्र को सबोधित करके बोली—

"देवराज, मेरे चार चरण हैं। जो राष्ट्र मेरे इन चार चरणों को स्थिर आधार पर प्रतिष्ठित कर सकता है, उसी मे मैं स्थायी निवास करती हू। बलि मुझे स्थिर आधार नही दे सका! अतः मैंने उसके राज्य का परित्याग कर दिया। अब मैं आपके राष्ट्र मे आना चाहती हूँ, बतलाइए मेरे प्रत्येक चरण को आप कहाँ-कहाँ प्रतिष्ठित करेंगे?"

देवराज ने सहर्ष उत्तर दिया:

"शुभे, अपना पहला चरण आप इस भूमि पर रखिए, जिसे हमने अपने स्वेद से अन्नपूर्णा बना दिया है। दूसरा चरण इस जल-राशि पर रखिए, जो हमारे बुद्धि-बल से सुनियन्त्रित होकर अमृत की तरह जीवनदाता बन गई है। तीसरा चरण आप अग्नि पर रखिए, जो राष्ट्र की जनशक्ति है और जिसका पूरा-पूरा उपयोग हम राष्ट्र के उत्कर्ष में कर रहे हैं और चौथा चरण रखिए हमारी प्रजा पर, जो पराक्रमी, दानी और सदाचार वाली है।"

और तब लक्ष्मी देवलोक मे चली गई। राजा बलि के राज्य में तीन आधार तो सुदृढ थे, पर चौथे आधार (प्रजा का मन या सामाजिक चेतना)

के तिरोहित होते ही लक्ष्मी चंचला बन बैठी। हमारी इन योजनाओं में तीन आधारों की ओर तो सजगता है और इस ओर क्या राजनीतिज्ञ क्या अर्थशास्त्री और क्या इंजिनियर सब का ध्यान लगा है पर चौथे आधार की उपेक्षा सी हो रही है। इसी ओर आज के साहित्यकार को ध्यान देना है। उसे जन-जागरण की भूमिका प्रतिष्ठित करनी है, उसे मानव-मन का निर्माण करना है और विकसित करनी है सुषुप्त सामाजिक चेतना।

इस महान उत्तरदायित्व को साहित्यकार ही वहन कर सकता है "क्योंकि साहित्य प्रेमराज्य का स्थापक है। वहां समता भी समता है और विषमता भी समता है। प्रेम विषमता के प्रति सूरदास और होमर बन कर रहता है।" राजनीतिज्ञ केवल बाहरी तह को छूकर सन्तोष की सांस ले लेता है, अर्थशास्त्री केवल तथ्यों का आकलन कर लेता है पर साहित्यकार "गहरे पानी पैठ" के आदर्श को अपनाता है। वह तो नाविक है जो जीवन की लहर-लहर से खेलता है, इससे भी बढ़ कर वह भाविक है जो जीवन के अन्तस्तल में नित्य डुबकियां लगाया करता है। वह केवल मात्र तथ्य का पुजारी नहीं होता वह तो सत्य का उपासक होता है और उसका सत्य 'जो है' सो नहीं है, 'जो हो सकता है', वह भी है। वह तो त्रिकालबाही सत्य में संचरण करता है तभी तो डा० नगेन्द्र ने राजनीति और साहित्य के स्वभाव-स्वरूप का अन्तर बतलाते हुए लिखा है "आन्दोलन जहां अनुकरण चाहता है, साहित्य रागात्मक सम्बन्ध। और इसी के अनुसार दोनों की विधि में भी अन्तर आ जाता है। आन्दोलन की विधि है उत्तेजना की, उथल-पुथल की, साहित्य की विधि है आनन्द की, तन्मयता की।"

मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में काव्य के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :—

"काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षयते।
सद्यः परनिर्वृत्तये कातासमिततयोपदेश युजे।"

इनमें से तीन (यशसेअर्थकृते शिवेतरक्षयते) कवि के लिए ग्राह्य हैं—और आज तो शिवेतरक्षयते का उपयोग भी समाज के लिये ही सम्भव है—और शेष तो समाज के लिए है ही। अगर 'साहित्य' शब्द की निरुक्ति की जाये तो उससे भी सामाजिक हित की ही पुष्टि होगी। 'साहित्य' शब्द 'सहित' से बना है। 'सहित' शब्द का प्रयोग आरम्भ में शब्द और अर्थ के सहितत्व के लिये हुआ।

पर शब्द और अर्थ की स्थिति सर्वत्र एक सी नहीं रहती। शास्त्र या वेद में शब्द की प्रधानता रहती है तो इतिहास, पुराण में अर्थ की। पर साहित्य में वेद के 'शब्दवाद' और पुराण के 'अर्थवाद' का सांकर्य है—नीर-क्षीर की भांति, जल-तरंग की भांति। 'सहित' से एक अन्य भाव की भी व्यंजना होती है, वह है—'हितेन सहितम्'। विश्वकवि रवीन्द्र ने लिखा है "सहित शब्द से साहित्य के मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव भाव का, भाषा भाषा का, ग्रंथ ग्रंथ का ही मिलन नहीं है बल्कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरंग मिलन भी है जो कि साहित्य के अतिरिक्त अन्य से संभव नहीं है।"

लेकिन इस हित-सम्पादन को साहित्यकार बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से निभाता है। न तो वह प्रभुसम्मित शब्दों द्वारा वेद के विधि वाक्य 'धर्मंचर', 'सत्यं वद'-कह कर आज्ञा देता है न सुहृत्सम्मित शब्दों द्वारा पुराणादि के प्रसंगों में पड़ कर इष्टानिष्ट की बात समझाता है। वह तो 'कान्ता सम्मित' शब्दों द्वारा हृदय के माध्यम से रस-बोध देता है। सचमुच "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है, वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है।"

भाव, समाज की सीपी से लिपट कर ही मोती बनता है। साहित्य में जो ताकत होती है वह एटम बम और तोप-टैंकों में भी नहीं होती। यह ठीक है कि एटम बम जैसे आतंककारी आयुध हमें परास्त करदें, नष्ट करदें, पर श्रेष्ठ मानवीय विचारों में आस्था पैदा करना और उन विचारों को आचरण में उतारने के लिए दृढ़ संकल्प पैदा करना, सच्चे साहित्यकार का काम है। राष्ट्र के चित्त पर, मनुष्य के कर्मशील जीवन पर, जितना प्रभाव साहित्य का पड़ता है उतना दर्शन या विज्ञान का नहीं। इसीलिये तो वीरगाथाकालीन कवि राजा-महाराजाओं के राज्याश्रित होकर स्वयं युद्धभूमि में काव्य-हुंकार कर उनकी सुपुप्त चेतना को जगाया करते थे।

"बारह बरस ले कूकर जिये और तेरह ले जिये सियार।
बरस अठारह क्षत्रिय जीये, आगे जीवन को धिक्कार"

में जो प्राणोत्सर्ग का उन्माद और आत्म-समर्पण की उत्कट अभिलाषा है वह कहने की नहीं, अनुभव करने की वस्तु है। चाहे यह उत्सर्ग विश्व हित के लिये न होकर संकीर्ण वैयक्तिक सुखोपभोग के लिये हुआ हो।

सिनेमा-ससार मे जो सस्ता मनोरंजन और वाजारू प्रेम अधिक विकने लगा है उस पर प्रतिबन्ध लगाने का भार साहित्यकार को ही लेना होगा। अगर साहित्यकार लोक भावना से, लोभ-कामना से नहीं, प्रेरित होकर रेडियो और सिनेमा को माध्यम वना कर अपनी बात लोक-हृदय तक पहुचायेगा तो वह बहुत बडी ताकत गावो म पैदा कर सकेगा, इसमे सन्देह नही।

चौथी बात जिस पर साहित्यकार को गम्भीर दृष्टि डालनी है वह है आजकी वैज्ञानिक प्रगति और उसका मानव-सभ्यता पर प्रभाव। विज्ञान ने ऐसा वातावरण, सामाजिक और राजनीतिक, पैदा कर दिया है जो कला-निर्माण के लिए अनुकूल सिद्ध नही हो रहा है। दो विश्व-युद्धो की भयकरता ने व्यक्ति को इतना आतंकित कर दिया है कि आज वह अपने आप से चौंकने लगा है। विज्ञान की प्रगति ने सभ्यता को इतनी गति दे दी है कि आज वह चन्द्रमा मे अपने उपनिवेश बसाने की कल्पना को साकार करने जा रही है; ज्ञान को इतना गहन बना दिया है कि आज वह व्यक्ति के प्राण तन्तुओं को सन्देह और आशका की दृष्टि से देखने लगा है; हृदय को इतना शक्तिशाली और कठोर बना दिया है कि वह अपने नीचे सिसकने वाले प्राण का जीना भी नही देखना चाहता। ऐसी स्थिति सभ्यता के इतिहास मे पहले कभी भी नही आई। अत साहित्यकार का स्थान बडे महत्त्व का हो गया है। यह उसी का कार्य है कि वह विज्ञान को गति के साथ-साथ दिशा दे, ज्ञान के साथ-साथ विवेक दे, शक्ति के साथ-साथ संयम दे और कठोरता के साथ-साथ उदारता दे। राजनीति और विज्ञान का गठबन्धन सहार के लिए न हो, सृजन के लिए हो, मृत्यु के लिए न हो, जीवन के लिए हो, व्यक्ति के लिए न हो समाज के लिए हो।

इसकी पूरी निगरानी रखने का काम साहित्यकार का है। अगर साहित्यकार यहाँ अपने कार्य से विमुख हो गया, पद से गिर गया तो फिर मानवता का नामो निशान न रहेगा। अतः साहित्यकार को एक ओर तो इस बात का ध्यान रखना होगा कि सरस्वती पर न तो लक्ष्मी का नियन्त्रण रहे न कालिका का, वह उन्मुक्त विचरण करे हंसवाहिनी बनकर। दूसरी ओर उसे विश्वशाति को युद्धाग्नि से बचाने के लिए निम्न आदर्शो को जीवन और कृति मे उतारना होगा—

(१) कि वह साहित्य और सस्कृति को वाद विशेष की चहारदीवारी में न बाधे।

(२) कि वह सामाजिक चेतना को जागृत करने के लिए जनपदीय कार्यक्रम अपनाये ।
(३) कि वह केन्द्रीकरण के बजाय विकेन्द्रीकरण की नीति से काम ले ।
(४) कि वह लोकभाषा में जन-जन तक पहुचने वाले साहित्य की सृष्टि करे ।
(५) कि वह पशु-सत्य, युग-सत्य और चिरन्तन सत्य का समपात सन्तुलन करे ।

अगर इस प्रकार साहित्य-सर्जना होती रहेगी तो आज का कला के अनुकूल सिद्ध न होने वाला युग, कला और कलाकार से तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ हो सकेगा और तब गौतम बुद्ध का यह आदर्श भी व्यवहार मे आकर मुस्करा उठेगा कि--

"चरथ भिक्खवे चारिक बहुजन हिताय बहुजन सुखाय
लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सान ।"

हे भिक्षुओ ! बहुजनो के हित के लिए, बहुजनो के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देवताओ और मनुष्यो के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिये विचरण करो ।

पर जो साहित्यकार सजग होता है, प्रबुद्ध होता है वह इसका उपयोग मानव-हित के लिये कर सकता है। सन्त साहित्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है। कबीर जैसा फक्कड़ कवि "खंजरी" सम्भाल कर जब घूमता तो सबके कान चौकन्ने हो जाते थे, सबके हृदय की सूखती भावनाएं तरल हो जातीं। कबीर ने जो कुछ लिखा "कागद छूकर" नहीं लिखा "आंखिन देखी" बात लिखी थी। *आज का साहित्यकार सामाजिक चेतना के विकास में तभी योग* दे सकता है जब वह कबीर की तरह जीवननिष्ठ बने।

आज के साहित्यकार में अनुभूति नहीं है, अध्ययन की व्यापकता है। वह सोच कर लिखता है। उसके कंठ से वाल्मीकि की तरह छंद फूटता प्रतीत नहीं होता। वह गाँव की बात लिखता है पर नगर में रह कर, गांव में जाकर नहीं; वह झोंपड़ी की गरीबी का चित्रण करता है पर महल की अमीरी में पल कर, झोंपड़ी के गरीब का दर्शन कर नहीं; वह अपने देश के फूल पत्तों की, पशुपक्षियों की, कल-कारखानों की जीवन गाथा लिखता है पर घर की चहारदीवारी को छोड़ कर नहीं, केवल पुस्तकों के ढेर को उलट पुलट कर। अतः आवश्यकता इस बात की है कि साहित्यकार देश के गांवों-गांवों में घूमे। आचार्य विनोबा ने एक जगह लिखा है कि "कबीर बुनकर न होता तो कबीर न बनता। उस जमाने में छापेखाने नहीं थे, फिर भी उनके बिना ही कबीर के काव्य का प्रचार हुआ। वह जनता के उद्योग के साथ एक रूप था, इसलिये जनता के सुख-दुख को वह समझता था। जनता के हृदय के साथ भी वह एक रूप था इसलिये मैं मानता हूँ कि साहित्यिक या तो किसान हो सकता है या कोई उद्योग करने वाला, फकीर भी हो सकता है पर जनता पर निर्भर रहने वाला।"

दूसरी बात जो साहित्यकारों को ध्यान में रखनी है, वह है लोक-संस्कृति और लोक-भाषा की रक्षा। सन्तों के गान आज भी उसी तन्मयता से गाये जाते हैं, तुलसी की चौपाइयां आज भी कंठों में लहर मचाती हैं। किस लिए? इसलिए कि उनमें अस्पष्ट भावों की धूमिलता नहीं है, अनबूझ पहेलियों की भीड़ नहीं है। जो कुछ है—स्पष्ट और व्यंग्य। इसीलिये लोक-जीवन उसे समझ सका, हृदय में उतार सका। आज पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रभाव से प्रभावित होकर अवचेतन, अचेतन-तहों में पैठ कर जो साहित्य मुक्ता (कुंठा) निकाला जा रहा है वह जनतांत्रिक सामाजिक चेतना के विकास में क्या योग देगा यह तो वे ही जानें। हां, अलबत्ता कुलीनतंत्रीय

वैयक्तिकता को भले ही उभाड़ दे। अतः साहित्यकारों का कर्त्तव्य है कि अगर वे गांव को ही अपनी साधना-भूमि बनाते हैं तो वहां के ग्राम-गीतों और लोक-गीतों का संग्रह करें। वहां के ग्रामीण जन-जीवन का अध्ययन करें और फिर कोई आंचलिक उपन्यास या कहानी लिखें। यदि साहित्यकार नगर को अपना साधना-केन्द्र बनाता है तो वह वहां के लोक-नायकों से मिल कर जन-जागरण का शंख बजाये और सृजनात्मक साहित्य का निर्माण करे। श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' के स्वरों में स्वर मिलाकर यह पुकार करनी पड़ेगी कि "प्रवासी कवि! तुम्हारे गीत कालर टाई और धुले कपड़े के गीत हैं। इनमें इत्र और फुलेल की खुशबू है, सौंधी मिट्टी की महक नहीं। इनमें लिपिस्टिक और रासायनिक योगों का रंग है, धान के नये कोमल पत्तों की हरीतिमा नहीं। गांव की मिट्टी तुम्हें बुलाती है, कवि! टाई और कालर खोलकर फेंक दो, धुले कपड़े और रंगीनियों का मोह तुम्हारे बंधन और व्यवधान हैं। तुम जैसे जन्मे थे, वैसे ही बनकर अपने घर जाओ? मां ने जो बोली तुम्हें सिखलाई थी, उसी में बोलते हुए तुम घर लौटो। उस बोली को केवल मनुष्य ही नहीं, गांव के पशु-पक्षी और फूल-पत्ते भी समझेंगे।"

तीसरी बात जिस ओर आज के साहित्यकार को ध्यान देना है वह है—वैज्ञानिक साधनों का समुचित उपयोग। रेडियो, सिनेमा आदि ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा साहित्यकार अपनी बात जन-जन के मन तक पहुंचा सकता है। श्री विनोबा भावे ने साहित्यकार को 'देवर्षि' कहा है जिसका दिल प्रेम से भरा हुआ होता है और जिसका प्रतीक है नारद। छापाखाना तो केवल पढ़ेलिखे लोगों को ही ज्ञानदान दे सकता है पर जो लोग अनपढ़ हैं और भारत में जिनकी संख्या अधिक है और जिनकी सामाजिक चेतना सुषुप्त पड़ी है—उनमें जागृति और शक्ति लाने के लिए जन भाषा में साहित्यिक को अपनी बात सिनेमादि माध्यम से कहनी होगी और यह आश्चर्य का विषय है कि जहां नये लेखकों में (छापेखाने के लेखकों में) व्यक्तिवाद का असामाजिक स्वर अधिक मुखर है, मार्मिक प्रसंगों के बदले दैनन्दिन साधारण कार्यकलापों का निरुद्देश्य अंकन अधिक है और अधिक है पात्रों का व्यक्तित्वहीन एकांगी कुंठित चित्रण, वहां लोक साहित्य में सामाजिकता का स्वर प्रमुख है, शाश्वत भावों का अंकन अधिक है और अधिक सजीव तथा प्राणवान है पात्रों का व्यक्तित्व। जहां शिष्ट साहित्य में संक्रान्ति युग की स्थिति प्रतिरोधक बन रही है, वहां लोक-साहित्य में उतनी ही तेजी और त्वरा बढ़ रही है। आज

६ सूर की काम-भावना का मनो-वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विवेचन

आहार, निद्रा, भय और मैथुन जीव-जगत की चार अदम्य प्रेरणाएँ हैं। आहार के बिना जीव का जीना असम्भव है, निद्रा के अभाव में उसका कर्मनिष्ठ बनना दुर्लभ है, भय द्वारा उसकी आत्म-रक्षण भावना का विकास होता है और मैथुन उसकी यश-परम्परा (वंश-वर्धन की दृष्टि से) की भीत्ति है। आचार्यों और ऋषि-मुनियों ने जीवन को चतुर्विध पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—से मण्डित किया है। इनमें काम और मोक्ष तथा धर्म और अर्थ का जोड़ा है। काम हो पर मोक्ष की सिद्धि के लिये, अर्थ हो पर धर्म की स्थापना के लिये। अर्थ और काम के दोनों ओर दो पहरेदार हैं—धर्म और मोक्ष, जो पूरी निगरानी रखते हैं। *आज के भौतिक युग में काम-भावना मूल प्रेरणा* मानी जाने लगी है जिससे प्रेरित होकर ही जीवन के अन्यान्य कार्य-व्यापार होते हैं। फ्रायड, एडलर और युँग आदि मनोवैज्ञानिकों ने साहित्य-सृजन के मूल में भी इसी काम-भाव को प्रश्रय दिया है। इन लोगों की मान्यता है कि मनुष्य की अतृप्त कामनायें उसकी उपचेतना में संचित रहती हैं और मनुष्य उनकी पूर्ति स्वप्न में करता है। साहित्य में ये ही कामनायें छद्म रूप में व्यक्त होती है। जीवन को प्रभावित करती हुई ये कामवासनायें विकास का मार्ग—स्वप्न, दैनिक भूलें, हँसी-मजाक के रूप में खोजती रहती हैं। काव्य या कला का मार्ग परिष्कृत मार्ग है। इसमें वासना का उन्नयन (Sublimation) हो जाता है। जैसे निराश प्रेम का देश-प्रेम में पर्युत्थान हो जाता है वैसे ही ईश्वर प्रेम या प्रकृति-प्रेम के रूप में वह साहित्य में प्रकट होता है।

महाकवि सूरदास के जीवन पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो पता चलता है कि वे सौन्दर्य के प्रेमी थे और एक स्त्री के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर

बहुत समय तक उसका अनुगमन करते रहे। बाद में उन्हें यह सोचकर वेदना हुई कि जिन नेत्रों में नन्दनन्दन भगवान कृष्ण का रूप समाया, उसमें नारी के लावण्य ने इतनी चांचल्यवृत्ति क्यों उत्पन्न कर दी? आराध्यदेव के प्रति अनन्य भक्ति के आवेश में आकर उन्होंने अपने ही हाथों से आँखें फोड़ ली, और ऐसे 'सूरसागर' की रचना की जिसके लिए श्री सुमित्रानन्दन पन्त को लिखना पड़ा 'वह ईश्वरीय प्रेम की पवित्र भूलभुलैया है जिसमें एक बार बैठकर बाहर निकलना कठिन हो जाता है। कुए में गिरे हुए को 'जदुपति' भले ही बाँह पकड़कर निकाल सकें, पर जो एक बार 'सागर' में डूब जाता है उसे सूर के श्याम भी बाहर नहीं खींच सकते'।[1]

काम-भावना से सूर ही प्रभावित हुये हों, ऐसी बात नहीं है। लोक नायक तुलसीदास भी रत्नावली पर आसक्त थे। मूसलाधार वर्षा मे भी उफनती हुई नदी को पारकर मध्यरात्रि में ससुराल पहुँच कर, सर्प को रस्सी समझकर (प्रिया-मिलन के आवेग में) प्रियतमा के पास पहुँचने की व्यग्रता कामोद्दीपन का ज्वलन्त प्रतीक है। बाद में पत्नी की फटकार[2] पाकर वे रामोन्मुख हो गये। सुजान वेश्या की आसक्ति ने घनानन्द को कृष्णोन्मुख बनाकर अमर कर दिया। यह सब देखते हुए निःसंकोच कहा जा सकता

1—'पल्लव' की भूमिका

2—(क) लाज न आवत आपको दौरि आयेहु साथ,
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहुँ मैं नाथ।
अस्थि चर्ममय देह मम, तामे जैसी प्रीति,
तैसी तो श्री राम मँह होति न तो भवभीति।

(ख) धिक धाये तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ कुल धर्म-धूत,
राम के नही काम के सूत कहलाये।
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ हाड़ चाम,
कैसी शिक्षा? कैसे विराम पर—आये?

—तुलसीदासः—निराला

है कि 'संसार के प्रायः सभी श्रेष्ठ कवियों की जीवनियों से पता चलता है कि उन्होंने अपने जीवन में किसी न किसी स्त्री के उन्मादक प्रेम का अनुभव अवश्य किया है, और उसी प्रेम की तीव्र अनुभूति से प्रेरित होकर वे अमर रचनायें लिख कर छोड़ गये हैं'।[3]

सूर ने राधा और कृष्ण तथा विभिन्न गोपिकाओं की जिस प्रेम-क्रीड़ा का अबाध और अमर्यादित सागर लहराया है उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि बिना काम भावनाओं के यह सब सम्भव न था। मुरादाबाद से प्रकाशित 'अरुण' के दिसम्बर १९३८ के अङ्क में एक लेख श्री वशिष्ठजी का छपा था जिसका शीर्षक था 'कवि और व्यभिचार'। उसमें उन्होंने लिखा है कि सूर की तरह और कवियों ने भी राधा कृष्ण को ही नायिका-नायक माना है, परन्तु उनके काव्य धार्मिक न होने के कारण उतना विष नहीं फैला सके जितना सूर का 'धर्मसागर'। अन्य कवियों की कृतियाँ शृङ्गार और विलासिता की नग्नमूर्तियाँ हैं, 'लेबिल' लगी मद्य की बोतलें हैं। जिन्हें पीने वाला शराब समझकर पीता है, किन्तु सूर की बोतल पर लिखा है 'सोमरस' और गन्ध आती है मृगमद की। यद्यपि दूसरे कवियों (रीतिकालीन) की बोतल का जो प्रभाव है, वही सूर के सोमरस का भी।''

इस आक्षेप का उत्तर 'साहित्य-लहरी' की प्रस्तावना में श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने इन शब्दों में दिया है, 'हमें मालूम है कि सूर वैरागी महात्मा थे। उनकी जीवनी और लेखनी में छिछोरे समालोचक को काफी व्याघात दीख पड़ेगा। परन्तु डूब कर देखने से पता चलेगा कि वह व्याघात केवल व्याघाताभास मात्र है। सूर की राधा नायिका है सही किन्तु लोकोत्तर नायिका और कृष्ण एक लोकोत्तर नायक। अतः उनके शृङ्गार के साथ हमारी भावनाएँ पूर्ण तादात्म्य का अनुभव नहीं कर पातीं।' जो कुछ समाधान धर्मेन्द्र जी ने किया है वह भक्तिपरक समाधान मात्र है। हम यहाँ काम-भावना के मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक-पक्ष का विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

सूर की काम-भावना का मनोवैज्ञानिक पक्ष—सूरदास मनोविज्ञान के बहुत बड़े पण्डित थे। इसीलिए उन्होंने काम-भाव का मनोवैज्ञानिक उद्घाटन क्रमशः किया है। काम एक वृत्ति है जिसका घोषणापत्र है—

> 'पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ
> यह स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, भरा ;

3—श्री इलाचन्द्र जोशी

मधु लहरों के टकराने से,
ध्वनि में है क्या गुंजार भरा'

—कामायनी: श्री जयशंकर प्रसाद

काम-भावना को ज्यों-ज्यों तृप्त किया जाता है त्यों-त्यों वह और बढ़ती जाती है—

'प्यासा हूँ मैं अब भी प्यासा
संतुष्ट ओघ से मैं न हुआ;
आया फिर भी वह चला गया
तृष्णा को तनिक न चैन हुआ।'

—कामायनी: श्री जयशंकर प्रसाद

सूरदास ने काम को स्थूल रूप में न देखकर उसके अंग-प्रत्यंगों का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। मनोवैज्ञानिकों ने काम-वृत्ति के निम्नलिखित भेद किये हैं, जिनका क्रमबद्ध विवेचन सूर-काव्य की विशेषता है।

(१) स्व-शरीर प्रेम की अवस्था (Auto erotic Stage) :—यह अवस्था जन्म से लेकर लगभग एक वर्ष तक पाई जाती है। इस अवस्था में बच्चे की केन्द्रीयवृत्ति स्व-शरीर तक ही सीमित रहती है। कभी वह पैर का अंगूठा चूसता है, कभी जननेन्द्रिय को सहलाता है, कभी पैरों को हिला-हिला कर आनन्दित होता है। उसका व्यापार-स्थल शरीर के आगे आत्मा तक नहीं पहुँचता, अन्य पारिवारिक सदस्यों से वह तादात्म्य स्थापित नहीं करता, केवल स्व-शरीर-रमण ही उसका लक्ष्य होता है। सूर ने बालक कृष्ण की इस अवस्था का बड़ा मनोहारी वर्णन किया है। कृष्ण के जन्म होते ही 'महर के मन्दिर' बधाइयाँ बजने लगी, गोपी-ग्वाल प्रफुल्लित हो कर इधर-उधर फिरने लगे। यमुना का जल प्रवाहित्र हो उठा, जल के भार से लदे बादलों के यूथ गरजने लगे। यही नहीं स्वयं काम उल्लसित हो उठा—

नृत्यत मदन फूले, फूली रति अंग-अंग,
मन के मनोज फूले, हलधर वर के॥

और बालक कृष्ण अपने मृदुल हाथों में पैर पकड़कर अंगूठे को चूसने लगा। यह काम-वृत्ति का प्रथम द्वार-प्रवेश है, लेकिन सूर ठहरे भक्त। अतः इस भावना का सम्बन्ध उन्होंने प्रलय के साथ बाँध कर बालक की अलौकिकता का संकेत दिया। इसीलिये शिव और ब्रह्मा सोच में पड़ गये, मुनिगण

भयभीत हो उठे और वासुकि सहस्र-फनों को समेटने लगा पर ब्रज के लोग काम की इस अवस्था के ज्ञाता थे अतः उन्हें यह घटना असाधारण न लगी। सूर का घटना-वैचित्र्य देखिये—

कर पग गहि अंगूठा मुख मेलत।
प्रभू पौढ़े पालने अकेले, हरषि-हरषि अपने रङ्ग खेलत॥
सिव सोचत, विधि बुद्धि विचारत, वट बाढ्यो सागर जल झेलत।
बिडरी चले घन प्रलय जानिकै, दिगपति दिगदंतीनि सकेलत॥
मुनिगन भीत भये भव कंपित, शेष सकुचि सहसौ फन पेलत।
उन ब्रजवासिन बात न जानी, समुझे सूर सकट पग ठेलत॥

(२) आत्मप्रेम की अवस्था (Narissim Stage)—लगभग २-२½ वर्ष के बच्चे में यह अवस्था देखी जाती है। इस अवस्था में बालक स्व-आत्मा में रमण करने लगता है। स्वयं कभी नाचने लगता है, कभी हँसने लगता है, कभी एकान्त में गाने लगता है और परिवार के किसी सदस्य या माँ-बाप को देखकर वह आत्म-क्रीड़ा बन्द कर देता है। सूर ने बालक कृष्ण की इस अवस्था का चित्र निम्नलिखित पद में उतारा है—

हरि अपने आगे कछु गावत।
तनक तनक चरननि सों नाचत, आपुहि आप रिझावत।

(३) बाह्य-प्रेम की अवस्था (All-erotism Stage)—लगभग ६-७ वर्ष के बच्चे में यह अवस्था देखी जाती है। इस अवस्था में बालक की अन्तर्वृत्ति-बहिर्मुखी हो उठती है। वह अनेक प्रकार के खिलौनों द्वारा बहिर्जगत से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। सङ्गी-साथियों के साथ हिलमिल कर अपने बाह्य-प्रेम की परिधि को विस्तृत करता है। सूर ने दोनों रूपों में इस वृत्ति को देखा है।

बाबा नन्द बालक कृष्ण को चलना सिखा रहे हैं और कृष्ण 'अरब-राइ' गिर पड़ते हैं तब नन्द उन्हें 'कर टेकि उठावत' हैं। कृष्ण 'दै मैया भंवरा चकडोरी' कह कर सभी साथियों को इकट्ठा करते हैं और 'नन्द की पौरी' में खेलते हैं। खेल ही खेल में कभी रूठते हैं, कभी रिझते हैं और कभी माँ से आकर शिकायत करते हैं 'मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायौ।' यह बाह्य प्रेम की वृत्ति खेल-खिलौनों और संगी-साथियों से आगे मिट्टी तक बढ़ जाती है। मोहन मिट्टी खाने लगते हैं बड़ी रुचि के साथ। माता यशोदा जब यह देखती है तब वह माटी उगलने के लिये उन्हें डाँटती है, भय दिखाती है,

अरुचि प्रकट करती है, पर कृष्ण अपना मुँह क्या खोलते हैं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रत्यक्ष कर देते हैं। काम-भावना के साथ यह अलौकिक संकेत भी दृष्टव्य है—

मोहन काहे न उगिलौ माटी।
वार बार अनरुचि उपजावत, महरि हाथ लिये साँटी।
× × ×
वदन पसारि दिखाइ आपने नाटक की परिपाटी॥

(४) सुप्त-प्रेम की अवस्था (Latency period)—लगभग १०-११ वर्ष के बच्चे में यह अवस्था देखी जाती है। इस अवस्था में बालक के हृदय में प्रेम-भावना के बीज वपन होते हैं पर वे सुप्तावस्था में रहते हैं। अवचेतन मन की गहराई में सुपुप्त ये भाव, आगे चलकर पल्लवित, पुष्पित होते हैं। इस अवस्था में बालक-बालिकाएँ सहज भाव से साथ-साथ खेल सकती हैं, पढ़ सकती हैं, छीना-झपटी कर सकती है। बालक कृष्ण गोपिकाओं के साथ खेलते हैं, रासलीला करते हैं, दूध और दही की चोरी करते हैं। गोपियों के शिकायत करने पर अपना स्पष्टीकरण इन शब्दों में देते हैं :—

मैया मेरी, मैं नहीं माखन खायो।
भोर भयो गैयन के पीछे, मधुबन मोहि पठायो।

फिर वह माखन खा भी कैसे सकता है ? दिन के चार पहर वंशीवट में भटक-भटक कर बिताये, सन्ध्या होने पर घर आना हुआ। समय भी तो नहीं मिला। चोरी करने के लिए शरीर भी साथ नहीं दे सकता क्योंकि 'मैं बालक बहियन को छोटो,' फिर 'छींको केहि विधि पायो'। सच तो यह है कि 'ग्वालवाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो'। तर्क के आगे गोपियों की फहरिश्त झूठी पड़ गई। माँ की अदालत में कृष्ण ने सब को 'डिफीट' दे दी।

पर दूसरा प्रसंग देखिये। माखन चोर कृष्ण रंगे हाथों पकड़े गये। फिर 'अदालत' बैठी। अबकी बार तो कृष्ण छूटने वाले नहीं थे। गोपियाँ बड़ी प्रसन्न थीं, पर कृष्ण ने ऐसा जवाब दिया कि सब देखती ही रह गयीं और वे दूध के धोये से सच्चे प्रमाणित हुए। कृष्ण का तर्क था कि दूध के बर्तन में हाथ तो अवश्य डाला पर यह समझकर कि यह मेरा ही घर है या फिर धोखे में आ गया। दूसरा दूध में चींटी थी, उसे निकालना ही मेरा उद्देश्य था न कि दूध पीना—

मैं जान्यो यह घर अपनो है या धोके में आयो।
देखत ही गोरस में चींटी, काढ़न को कर नायो॥

मुरली-वादन और गोचारण-प्रसंग में भी सुप्त-प्रेम भावना व्यंजित हुई है। बच्चों को गुड़ियों का खेल बड़ा प्रिय होता है। वे दूल्हा और दुल्हिन बना-बना कर आपस में खेलते हैं। कृष्ण ने 'चन्द्र-खिलौना' लेने का हठ किया है पर माता यशोदा बड़ी धीमी आवाज में कृष्ण के कान में एक बात कहती है-(ताकि दाऊ, नहीं सुन लें)

चन्दा हू ते अति सुन्दर तोहि, ग्वाल दुलहिया ब्यैहैं।

कृष्ण भला कब चूकने वाले 'शुभस्य शीघ्रम्' झट कह उठे—

तेरी सौंह मेरी सुन मैया, अब ही ब्याहन जैहौं।
सूरदास सब सखा बराती, नृतत मङ्गल गैहौं।

सुप्त प्रेम भाव की कैसी सरस स्वाभाविक व्यंजना है।

(५) मित्र-प्रेम की अवस्था (Homo-Sexual Stage) लगभग १२-१३ वर्ष के बच्चे में यह अवस्था देखी जाती है। इस अवस्था में बालक मित्र-प्रेम में इतना तल्लीन हो जाता है कि वह माँ-बाप के प्रेम को भूल जाता है, खान-पान की सुधि उसे नहीं रहती। समय बे-समय वह मित्र-मण्डली के साथ ही घूमता रहता है। कृष्ण की मित्र-मण्डली तो भरी-पूरी थी। बलराम, श्रीदामा, सुदामा उनके अनन्य मित्र थे। गोचारण-प्रसंग में उनकी मित्रता अंकुरित हुई थी, वृन्दावन के कुंजों में वह विकसित हुई थी, मुरली की माधुरी में उसकी ममता बिखरी थी और माखन-चोरी में वह सक्रिय बनी थी। आज कृष्ण गोचारण के लिए माता से हठ कर रहे हैं 'आजु मैं गाइ चरावन जैहौं'। माँ कहती है-बेटा तू छोटा है 'तनक तनक पग चलिहौ कैसे, आवत ह्वै है राति'। पर बालक कृष्ण तो मित्रों का प्रेम चाहते थे। सभी मित्र नित-प्रति वृन्दावन जाते हैं, भला वे घर में कैसे बैठे रह सकते हैं? अपनी टेक पर अड़ गये और स्पष्टतः माँ से कह दिया :—

तेरी सौं मोहि घाम न लागत, भूख नहीं कछु नेक

अन्ततोगत्वा कृष्ण जंगल को चल दिये। वहाँ वे मित्रों के साथ रहे। कलेवा किया, वृक्षों के मीठे-मीठे फल खाये, मुरली बजा-बजा कर अचल को चल, चल को अचल बनाया। यमुना-जल में गोते खाये, वनमाला से शृङ्गार किया और 'नटवर भेष धरे' ब्रज की ओर प्रस्थान किया। कितनी मादक मस्ती, कितनी लापरवाही, कोई चिन्ता नहीं, कोई आशङ्का नहीं। क्या हुआ

आपस में लड पडे सङ्गी-साथी, क्या हुआ दाऊ ने कृष्ण को खिझाया, क्या हुआ ताली दे-देकर ग्वाल-बाल हँसे और क्या हुआ कृष्ण 'मैया हौ न चरैहो गाई' कहकर रूठे। मैत्री-भावना और बढती गई। कृष्ण ने दावानल का पान किया, कालिया नाग का मर्दन किया। किसलिए ? प्रेम-भाव की रक्षा के लिए, खेल-क्रीड़ा की अबाध प्रगति के लिए। मित्र-भाव का आदर्श देखना हो तो सुदामा-मिलन प्रसग मे देखिए। दूर ही मे 'मलिन वसन' और 'छीन सरीर' सुदामा को देखते ही पर्यंक पर पौढे हुए कृष्ण तत्काल उठ बैठे। द्वार पर जाकर अगवानी की। बगल मे छिपी पोटली को छीन कर कृष्ण तन्दुल चबाने लगे, *मानो एक एक तन्दुल चबा-चबा कर वे मैत्री-भाव की एक-एक धारा को* हृदयङ्गम करने लगे। सादीपन की चटसार के ये दो सहपाठी मित्रता के इतिहास मे अजर-अमर हैं।

(६) स्त्री-पुरुष प्रेम की अवस्था (Hetro Sexual Stage)–लगभग १२-१७ वर्ष की वय मे यह अवस्था देखी जाती है। इस अवस्था मे विपरीत-लिंग की ओर आकर्षण पाया जाता है। महाकवि सूर ने कृष्ण और राधा तथा गोपियों के प्रेम पक्ष का बडी बारीकी के साथ चित्रण किया है। राधा और कृष्ण का प्रेम अचानक उठे हुए तूफान की तरह, जीवन मे हलचल नही मचाता, अचानक उठी हुई आँधी की तरह, मन के आवेगो को विचलित नही करता बल्कि वह तो जीवनोत्सव की तरह मन्थर गति से अन्तस्तल मे आता है और अपनी अनन्य भाव धारा से अ ग-प्रत्यग को उल्लसित कर देता है। कृष्ण के प्रेम मे 'Love at first sight' का दर्शन तो है पर साहचर्य की सीमेंटी-ताकत लेकर। रूप और साहचर्य के किनारो के बीच सतत प्रवाहिनी प्रेम-धारा, काम-तत्त्व को इतना धो देती है कि वह भक्ति तत्त्व का उज्ज्वल परिधान बन जाता है।

राधा-कृष्ण के प्रणय-व्यापार का आरम्भ सूर ने जिस मनोवैज्ञानिकता के साथ किया है, वह देखते ही बनता है। कृष्ण यमुना तट पर खेलने गये हैं। वही राधा को देखकर वे रीझ जाते हैं—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
गये श्याम रवि-तनया के तट, अङ्ग लसित चन्दन की खौरी॥
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन विशाल भाल दिये रोरी।
सूर श्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिली परी ठगोरी॥

यह प्रथम रूप-दर्शन था। इसी से साहचर्य-भावना बढी और वे पूछ बैठे--

"कहाँ रहति, काकी तू बेटी ? देखी नाहिं कहूं व्रज खोरी"

फिर क्या था ? राधा कृष्ण के घर आने लगी और कृष्ण राधा के घर की परिक्रमा लगाने लगे। यशोदा को यह अच्छा नहीं लगा। उसने राधा से कह ही दिया--"बार-बार तू ह्याँ जनि आवै।' बार-बार तू यहाँ मत आया कर। राधा कब चुप बैठने वाली थी। वह उबल पड़ी। 'मैं क्या करूँ, तू अपने पुत्र को क्यों नहीं बरजती ? वही तो मुझे घर आ-आकर बुलाता है और मुझ से कहता है कि तुझे देखे बिना मेरे प्राण नहीं रहते--

मैं कहा करौं सुतहिं नही बरजति, घर तें मोहिं बुलावै।
मोसों कहत तोहिं बिनु देखे. रहत न मेरे प्रान॥'

बेचारी यशोदा क्या कहे, चुप्पी साध कर बैठ गई। अब तो प्रेम का ज्वार बढ़ने लगा। कृष्ण के प्रत्येक कार्य में रति का रंग चढने लगा। गोदोहन करते समय सात्विक भाव हो आया--

'धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढी।'

राधा ने व्यंग्य किया--

'तुम पै कौन दुहावै गैया।
इत चितवत उत धार चलावत, एहि सिखायो है मैया।'

यह प्रेम-भाव गोपियों के साथ भी बढ़ता गया। दानलीला, मान-लीला, रासलीला, चीर-हरण-लीला सभी इसी भाव के पोषक अंग हैं। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों ने 'निस दिन नैन बरसा-बरसा कर' जिस वियोग-वारिधि का सृजन किया है वह उनके प्रेम-भाव का मनोवैज्ञानिक सत्य है जो लाख आरोप लगाने पर भी निखरता रहेगा।

(७) जनन-साधक-आसक्ति की अवस्था (Period of parental love)--स्त्री-पुरुष के प्रणय की चरम सार्थकता जनन-साधक-आसक्ति की अवस्था ही है। काम को पुरुषार्थ भी इसीलिए माना गया है कि इसके द्वारा व्यक्ति अपने आपको अमर कर सके। भगवान कृष्ण ने काम पुरुषार्थ का भी सच्चे अर्थों में सेवन किया था। रुक्मणी से उनके प्रद्युम्न नाम का पुत्र हुआ था। सूरदास को वह विषय रुचा नहीं। इसलिए काम की इस अन्तिम

अवस्था का चित्रण कृष्ण के व्यक्तित्व में नहीं किया गया है, पर इसका वर्णन हमें नन्द-यशोदा के चरित्र में मिल जाता है। यशोदा और नन्द का कृष्ण के प्रति जो वत्सल-भाव है उसका विशद वर्णन कर सूर ने वात्सल्य को दसवां रस तक बना दिया है। जब तक कृष्ण गोकुल में खेलते रहे, माँ यशोदा अपना स्नेहिल-अंचल उन पर लहराती रही पर जब कृष्ण गोकुल छोड़ कर मथुरा चले गये तब वह उद्भ्रांत सी हो गई। नन्द कृष्ण के साथ मथुरा गये थे और यह उम्मीद थी कि वे कृष्ण को साथ लेकर ही लौटेंगे। पर जब नन्द अकेले लौटे तो—

'जसोदा कान्ह-कान्ह कैं बूझै।
फूटि न गईं तिहारी चारौं, कैसे मारग सूझे।
इक तनु जरो जात बिन देखे, अब तुम दीने फूँक।
यह छतियाँ मेरे कुँवर कान्ह बिनु, फटि न गईं द्वै टूक॥'

कितनी व्यथा है। माँ की ममता छलकी पड़ती है, नयनों में समा नही पाती। माता यशोदा ने देवकी को जो संदेशा भेजा है, उसमें आत्म-समर्पण की कितनी उदात्त भावना है—

सन्देसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाइ तिहारे सुत की, मया करति नित रहयो॥'

काम-भावना के उपर्युक्त भेदों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि सूर मनोविज्ञान की गहराई में खूब डूबे थे और जो कुछ उन्होंने लिखा वह 'ठाले बैठे' का काम समझ कर नही बल्कि परिस्थितियों का मनोविज्ञान और काव्य के साथ पूर्ण सामंजस्य कर लिखा।

सूर की काम-भावना का दार्शनिक पक्ष—

महाकवि सूर वल्लभाचार्य के पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इस सम्प्रदाय में ज्ञान और कर्म की अपेक्षा भक्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है। 'पोषणं तदनुग्रह' के अनुसार भगवान के अनुग्रह को ही पोषण या पुष्टि कहते हैं। पुष्टि-मार्ग के अतिरिक्त दो मार्ग और हैं। एक तो वेद द्वारा निर्दिष्ट कर्म और ज्ञान का 'मर्यादा मार्ग' और दूसरा सांसारिक सुख-भोग की आकांक्षा से लोक मे प्रस्थित 'प्रवाह मार्ग'। तीनो मार्गों पर चलने वाले पथिकों (साधको) की भी तीन कोटियाँ मानी गई हैं।

(१) पुष्टि-जीव—आत्म-साक्षात्कार का अमृत पीकर जो पुष्ट हो

गये है, ऐसे जीव (साधक) मोक्ष पुरुषार्थ के उपासक और सात्विक वृत्ति वाले होते हैं।

(२) मर्यादा-जीव—ये वेदानुकूल मार्ग का आश्रय लेते हैं। तामस एव सात्विक वृत्ति से परे ये जीव रजोगुणी होते हैं और धर्म तथा अर्थ की उपासना करते हैं। इनका धर्म सत्त्वप्रचुर और अर्थ-धर्म-प्रचुर होता है।

(३) प्रवाह जीव—ये सासारिक सुखोपभोग की जिज्ञासा लिए लोक-प्रवाह मे बहते रहते हैं। 'काम' के उपासक ये जीव तामसवृत्ति वाले होते हैं।

इन तीनों प्रकार के जीवो पर भगवान का 'सच्चिदानन्द' स्वरूप अंशत प्रकट होता है। पुष्टि-जीवो मे आनन्दांश का प्राधान्य रहता है, मर्यादा-जीवो में चिदांश का एवं प्रवाह जीवो में सदांश का।

सूर ने अपने विनय के पदो में प्रवाह-जीव के आकुल निवेदन को गूँथा है। कभी वे मन से कहते हैं—

'छाँडि मन हरि विमुखन को संग।'

कभी वे पश्चाताप करते हैं—

'सबै दिन गये विषय के हेतु।
तीनौंपन ऐसे ही खोए, केस भए सिर सेत॥'

कभी वे विवशता प्रकट करते हैं—

'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।'

काम-क्रोध का चोला पहना, कंठ में विषय की माला डाली, पैरों में महामोह के नूपुर बाधे, तृष्णा की ताल दे देकर भ्रमगति की लय को नाचा, कमर मे माया का फेंटा बाँधा, भाल पर लोभ का तिलक दिया।

कभी वे आकुल पुकार करते है—

'अब कै नाथ मोहि उधारि।
मगन हौं भव अम्बुनिधि में, कृपा सिंधु मुरारि।'

× × × +

लिए जात अगाध जल को, गहे ग्राह अनंग।
मीन इन्द्री अतिहि काटति, मोट अघ सिर भार॥'

यही 'प्रवाह-जीव' अन्त मे अनुग्रह का सम्बल पाकर पुष्टि मार्ग के पथ पर बढ चला। वह राधा बन गया, गोपी का प्रतीक बन गया। कृष्ण परमेश्वर बन गये और रास-लीला होने लगी 'रास मंडल मध्य श्याम राधा।'

इसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता–'रास रस रीति नहीं बरनि आवै।' इस रास-लीला मे कृष्ण कभी ओझल हो गये तो गोपियाँ पछाड़ खाकर गिर पड़ी और आलोचको ने इसे काम-पीड़ा की संज्ञा दे दी, पर सच्चे अर्थों में यह उत्कृष्ट प्रेम की व्यंजना है—

'गोपी प्रेम की ध्वजा।
जिन जगदीश किये वश अपने, उर धरि श्याम भुजा।।'

यह सृष्टि के आविर्भाव और तिरोभाव का रूपक है। उस चिदानन्द सत्ता के लिए सृष्टि और प्रलय का कोई अर्थ नहीं। जिस प्रकार महान समुद्र मे आवर्त्त अथवा बुद्बुद् उठा करते हैं और लोप हो जाया करते हैं उसी प्रकार उस चिद् सत्ता से जड़ और चेतन का जन्म तथा विकास होता है और अन्त में सब दृष्ट जगत उसी चित्त सत्ता में लुप्त हो जाता है।[1] 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में काम और रति के महत्त्व का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

'हम दोनों का अस्तित्व रहा
उस आरम्भिक आवर्त्तन सा।
जिससे संसृति का बनता है
आकार रूप के नर्त्तन सा।।'

पाश्चात्य संस्कृति में काम शरीरी रूप में ही देखा गया है पर भारतीय दृष्टि मे वह अशरीरी है। शिव ने उसे जलाकर अनंग बना दिया है। इसीलिए वह घृणा, लज्जा, ताप तथा भोग का प्रतीक न बनकर प्रेम, श्रद्धा, आशा और भक्ति का प्रतीक बन गया है। 'प्रसाद' ने इस भाव को श्रद्धा के मुख से यों व्यक्त कराया है—

'काम मगल से मंडित श्रेय,
सर्ग, इच्छा का है परिणाम।
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल,
बनाते हो असफल भवधाम।'

काम की पुत्री श्रद्धा है जो दया, माया, ममता, विश्वास, सब कुछ मनु को समर्पण करने को तैयार है, क्योंकि वह चाहती है—

'बनो संसृति के मूल रहस्य,
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल;

1—भारतीय-साधना और सूर-साहित्य : श्री मुन्शीराम शर्मा

विश्व भर सौरभ से भर जाय,
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।'

सूर ने काम का आदर्श दाम्पत्य प्रेम में तो देखा ही है पर वह भक्ति का आंचल भी नहीं छोड़ता। उनकी राधा जयदेव की राधा सी प्रगल्भा नहीं, विद्यापति की राधा सी विलासिनी नहीं, वह तो मिलन में लीला का अवतार और विरह में करुणा की मूर्ति है। उद्धव से कुछ 'सन्देशा' कहते नहीं बना। गोपियों ने न मालूम क्या कहा? राधा का कंठ भर गया, वचन मुँह से न निकले, आखिर हृदय थाम कर यही कहा—

'इतनी विनती सुनहु हमारी, बारक हु पतिया लिख दीजे।
चरन कमल दरसन नव नौका, करुनासिंधु जगत जस लीजे।'

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सूर ने काम-भावना को पकड़ा अवश्य पर स्थूल रूप में नहीं, एक मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक के रूप में उन्होंने काम-भाव का गहरा मंथन कर भक्ति का वह नवनीत निकाला जिसको चख कर नैतिक स्वर फिर से निनादित हो उठे। 'वे साहित्य की सृष्टि करने के लिए नहीं गाते थे, गाते थे साधना के लिए। साधना भी व्रजतत्त्व की—जहाँ लौकिक रस बिलकुल विपर्यस्त हो जाते हैं। व्रजतत्त्व में जो काम है, वही प्रेम है, जो प्रेम है, वही राग है, जो राग है, वही भक्ति है। इस व्रजतत्त्व की आलोचना करने का अधिकार सबको नहीं है।'[1]

---

1. सूर-साहित्य : श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

७ | निराला की राष्ट्रीयता

निराला की राष्ट्रीयता पर चर्चा करने के पूर्व 'राष्ट्रीयता' के स्वरूप पर दृष्टि डालनी होगी। राजनीतिक विचारकों ने 'राष्ट्रीयता' शब्द का जितना भ्रामक प्रयोग किया है कदाचित उतना और किसी शब्द का नहीं। कुछ लोगों ने उसे केवल राज्यत्व (Statehood) का पर्याय मानकर राजनीतिक संगठन की इकाई माना है और उसकी सांस्कृतिक विरासत तथा आध्यात्मिक एकता का बहिष्कार किया है। सच तो यह है कि राष्ट्रीयता से प्रकट होने वाली एकता मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक है जबकि राज्य की एकता राजनीतिक है। प्रो० जिमर्न के शब्दों में, 'राष्ट्रीयता धर्म की भाँति आध्यात्मिक है, राज्यत्व भौतिक है; राष्ट्रीयता मनोवैज्ञानिक है, राज्यत्व राजनीतिक है; राष्ट्रीयता मन की स्थिति है, राज्यत्व कानून की स्थिति है।' कहना न होगा कि निराला ने राष्ट्रीयता की अखण्ड आत्मा को जीवन का उमड़ता हुआ विद्रोह और भाव का मुक्त सूक्ष्म आकाश दिया है।

निराला की राष्ट्रीयता राजनैतिक नेताओं की तरह नारेबाजी, दौड़-धूप, तोड़-फोड़ और पद-प्रभुता में व्यक्त नहीं हुई है। वह संस्कृति के जागरूक कवि, आध्यात्म के उद्गायक और क्रांति के प्रणेता के शत-शत स्वरों में अपना रूप निखारती रही है। निराला का कृतित्व ही राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत नहीं है, वरन् उनका व्यक्तित्व भी राष्ट्रीयता के ताने-बाने से गूँथा हुआ है। बैसवाड़े के जीवन की मस्ती और पिता द्वारा पीठ पर पड़ने वाली प्राणघातक चोटों ने उनके जीवन में वह प्यार और प्रतिकार भरा जिससे वे 'मोगल दल बल के जलद यान' से लड़ सके। दार्शनिक मस्तिष्क, भक्त का सा हृदय, कलाकार से हाथ और पहलवान

सा वक्षस्थल—यही तो राष्ट्रीयता है। इसी को व्यक्त करने के लिए 'अवयव की दृढ मासपेशियाँ' हैं, 'स्फीत शिराएँ' हैं जिनमे 'स्वस्थ रक्त संचार' करता है और ऊर्जस्वित होता है 'अपार वीर्य'।

स्वामी विवेकानन्द से आध्यात्मिकता, रामकृष्ण मिशन से अद्वैतवादी भावना तथा गांधी और तिलक से विद्रोह की खाद पाकर निराला की राष्ट्रीयता अंकुरित और पल्लवित हुई थी। तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक जीवन की विषमता, अतीत के उज्ज्वल वैभव की गरिमा और भविष्य की मनोहारिणी कल्पना ने उनकी राष्ट्रीय चेतना को गतिशील बनाया था। भारतेन्दु-युग में राष्ट्रीयता हिन्दुत्व की सीमा से सर्वथा मुक्त नहीं थी और न राज-प्रशस्तियों से ही उसका सम्बन्ध छूटा था। द्विवेदी युगीन राष्ट्रीयता ने जाति, समाज और देश की सीमा के बाहर अपना मुँह नहीं निकाला था; पर निराला ने राष्ट्रीयता को मानवता के व्यापक धरातल पर ला उतारा; वह केवल मात्र हिंदुत्व की परिधि मे ही सीमित नही रही। भारतीयता का सर्वांग-सम्पूर्ण रूप हिंदू और मुसलमान, दोनों को गले लगा कर विहँस उठा। राज-प्रशस्ति-सी चाटुकारिता को भस्मीभूत कर निराला ने इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ती हुई मजदूरिन का स्वागत किया। भिक्षुक के प्रति सहानुभूति प्रकट की और हृदय की आँख उठाकर उस भिक्षुक को सर्वप्रथम देखा—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को,
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता।

जाति, समाज और देश से आगे बढ़कर निराला की राष्ट्रीयता ने अन्तर्राष्ट्रीयता के साथ कदम मिलाया है। सांस्कृतिक दृष्टि से विश्व की एकात्मकता पर जोर दिया है और जड़ता तथा चेतनता में हो रहे द्वन्द्व मे भारती (आध्यात्मिकता) की विजय घोषणा की है—

होगा फिर से दुर्धर्ष समर,
जड़ से चेतन का निशिवासर;

कवि का प्रति छवि से जीवनहर, जीवन भर;
भारती इधर, है उधर सकल,
जड़ जीवन के संचित कौशल,
जय, इधर ईश, हैं उधर सबल माया कर।

संक्षेप में निराला की राष्ट्रीयता के निम्नलिखित रूप हैं—

(१) देश की तत्कालीन सामाजिन एवं आर्थिक दुर्दशा पर मानसिक क्षोभ।

(२) नारी की महानता और पवित्रता का चित्रण।

(३) अतीत के सांस्कृतिक वैभव का गौरव-गान।

(४) भविष्य के सुखी, स्वाधीन समाज का मधुर चित्र।

(५) राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति अगाध निष्ठा।

(१) तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक दुर्दशा पर कवि का क्षोभ—

निराला ने देश की सामाजिक विभीषिका और आर्थिक शोषण की मनोवृत्ति का कठोर व्यंग्यात्मक शैली में तिलमिला देने वाला हृदयद्रावक चित्र खींचा है। पद्य की अपेक्षा गद्य में उनका व्यंग्य अधिक खिल उठा है। 'कुल्लीभाट' मे बंगाल की मध्यवर्गीय संस्कृति तथा साहित्य और संगीत की रहस्यात्मक कुलीनता के संदर्भ में उन अछूत बच्चो को रखकर पूरे युग पर व्यग्य कराया है—जो मारे डर के फूलों को निराला के हाथ मे इसलिए नही दे रहे थे कि छू जाने पर निराला को नहाना पड़ेगा। इससे अधिक हीन भावना और क्या हो सकती है? 'बिल्लेसुर बकरिहा' ग्रामीण जीवन की स्वार्थपरता, ईर्ष्या और पैसे की पूजा का सुन्दर चित्र है और साथ ही हैं भारतीय किसान की अपराजेय शक्ति एवं दृढ़ता की व्यग्यभरी कहानी। 'चतुरी चमार' में शूद्रत्व के प्रति उठती हुई विद्रोह की वह चिनगारी है जो अन्त में जमीदारी की कुलीनता को भस्मीभूत करके रहती है।

गिरी हुई अवस्था का सबसे सांगोपांग चित्र 'तुलसीदास' में मिलता है। प्रारंभ के छंदों में कवि ने मुगल सस्कृति के आलोक मे मलीन पडती हुई आर्य संस्कृति का दिग्दर्शन कराया है। एक ओर भारतीय आकाश का 'प्रभापूर्ण शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य' अस्त हो रहा है और दूसरी ओर मुस्लिम संस्कृति का चन्द्र पृथ्वी के अधरों का चुम्बन कर रहा है—

झरते हैं शशधर से क्षण-क्षण
पृथ्वी के अधरों पर निःस्वन
ज्योतिर्मय प्राणों के चुम्बन, सजीवन।

सांस्कृतिक विकास के नाम पर कपट, धोखा और छलना का साम्राज्य है--

'छल छल छल' कहता यद्यपि जल
वह मंत्र मुग्ध सुनता 'कल कल'।

वर्ण-व्यवस्था टूट गई है-'पूजा में प्रतिरोध-अनल है जलना'। क्षत्रिय 'रक्षा से रहित सर्व', द्विज 'चाटुकार' और शूद्र--

शेष -- श्वास, पशु मूक-भाष,
पाते प्रहार अब हताश्वास,
सोचते कभी, आजन्म ग्रास द्विजगण के।

कवि इस सांस्कृतिक पतन को देखकर आन्दोलित हो उठता है और निश्चय करता है--

'करना होगा यह तिमिर पार---
देखना सत्य का मिहिर द्वार--
बहना जीवन के प्रखर-ज्वार से निश्चय।'

'कुकुरमुत्ता' 'बेला' और 'नए पत्ते' के व्यंग्य भी हृदय को तिलमिला देने वाले हैं। यहाँ 'कुकुरमुत्ता' का एक व्यग्य देखिये जो गुलाब पर कसा गया है--

रोज पड़ता रहा पानी
तू हमारी खानदानी

गुलाब 'कैपिटेलिस्ट' व्यक्तित्व का प्रतीक है।

(२) नारी की महानता और पवित्रता--

नारी को सन्तों और भक्तों ने वासना की पुतली और मायाविनी के रूप में देखा था। रीतिकाल में नायिका केवल काम-क्रीडा का कन्दुक बनकर रह गई थी। छायावादी कवियों ने नारी के मन की सूक्ष्म गहराइयों की थाह ली। निराला ने नारी के 'शक्ति' रूप की उपासना की। वह उनकी दृष्टि में अबला न रहकर सबला होकर समादृत हुई। नारी की दीनता, निराशा और असहायता का चित्रण करते हुए भी निराला ने उसे प्रेरणा और शक्ति-त्रात के रूप में देखा। वह वासना का विष न होकर साधना

का अमृत है। 'विधवा' उन्हें 'इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी' पवित्र और 'दीप-शिखा सी' शान्त लगती है। 'तुलसीदास' में रत्नावली का जो चित्र उतारा गया है वह नारी के अबलापन को, उसके वासनात्मक व्यक्तित्व को जला देने वाला है। तुलसी का विलासी मन उसे 'सत्य-यष्टि' के रूप में स्वीकार कर उर्द्धगामी होता है। वह 'प्रेम के फाग में आग त्याग की करुणा' बनकर तुलसी के 'जड़-युगल किनारों' के बीच स्वर्गंगा बनकर प्रवाहित हो उठती है—

नश्वरता पर आलोक-सुघर दृक्-करुणा।

रत्नावली 'नील वसना शारदा' और 'अनल प्रतिमा' के रूप मे तुलसी को धिक्कारती है—

'धिक ! धाए तुम यों अनाहूत,
धो दिया श्रेष्ठ कुल-धर्म धूत,
राम के नहीं, काम के सूत कहलाए
हो बिके जहाँ तुम बिना दाम,
वह नहीं और कुछ—हाड़, चाम।
कैसी शिक्षा, कैसे विराम पर आए ?'

लगता है जैसे कवि ने सम्पूर्ण रीतीकालीन परम्परा को धिक्कारा है। नारी की यही भर्त्सना पाकर तुलसी का मन जागता है और वह बिखरे हुए तत्त्वों को बाँधकर राष्ट्रीयता का उद्घोष करता है। मुस्लिम संस्कृति का चन्द्र अस्त होता है और 'जागो जागो आया प्रभात'। रत्नावली ही सरस्वती और लक्ष्मी के रूप में—

'संकुचित खोलती श्वेत पटल
बदली, कमला तिरती सुख-जल,
प्राची-दिगंत-उर में पुष्कल रवि-रेखा।'

'पंचवटी-प्रसंग' में लक्ष्मण ने सीता की मातृत्व शक्ति को आत्मार्पण किया है। यहाँ लक्ष्मण उत्कट देशप्रेमी के रूप में और सीता भारत माता के रूप में चित्रित हुई है। पराधीन भारत माता को ऐसे ही प्राणोत्सर्ग-मय बलिदानी भाव उसके लाड़ले बेटों ने समर्पित किये थे—

यदि प्रभो मुझ पर संतुष्ट हो
तो यही वर मैं माँगता हूँ।'

माता की तृप्ति पर
बलि हो शरीर-मन
मेरा सर्वस्व-सार;
तुच्छ वासनाओं का
विसर्जन मैं कर सकूँ;
कामना रहे तो एक
भक्ति की बनी रहे।

क्योंकि उसकी यह माता 'आदि-शक्ति रुपिणी' है जो 'सारे ब्रह्माण्ड के मूल में विराजती' है।

'जुही की कली' के रूप में निराला ने नारी के प्रेमिल हृदय को पहचाना है। वह 'प्यारे' को शय्या के पास देखकर

नम्र मुखी हँसी—खिली,
खेल रंग, प्यारे संग।

(३) अतीत का सांस्कृतिक वैभव—

निराला ने जहाँ वर्त्तमान की विभीषिका और दुर्दशा का चित्रण किया है वहाँ अतीत के उज्ज्वल वैभव की झांकी भी उतारी है। कवि को अपनी संस्कृति की आध्यात्मवादी भावना पर गर्व है। संस्कृति का यह प्रेम रहस्यवाद, प्रकृति-प्रेम और राष्ट्रीय महान आत्माओं के प्रति श्रद्धांजलि के रूप में व्यक्त हुआ है।

स्वामी शारदानन्द जी महाराज, स्वामी प्रेमानन्दजा आदि को कवि ने भारतीय संस्कृति के अग्रदूत के रूप में स्वीकार किया है। रामकृष्ण मिशन के सम्पर्क से मिली हुई अद्वैतभावना कवि को विश्व-संस्कृति का चितेरा बना सकी। जीव और ब्रह्म के अमिट सम्बन्ध की कैसी कामना निम्नलिखित पंक्तियों में झलकती है—

तुम दिनकर के खर किरण-जाल,
मैं सरसिज की मुसकान,
तुम वर्षों के बीते वियोग,
मैं हूं पिछली पहचान।
तुम भोग और मैं सिद्धि,
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि।

कवि आध्यात्मवाद से प्रभावित होकर भी सांसारिकता से विमुख नहीं है। वह निष्क्रिय जीवन का विरोधी है। उसके लिए साधना ही जीवन है। तभी तो लक्ष्मण का आदर्श है—

(१) बहता हूँ माता के चरणामृत-सागर में,
मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे, काफी है।

(२) आनन्द बन जाना हेय है,
श्रेयस्कर आनन्द पाना है।

कवि प्रकृति की ओर भी अधिक आकृष्ट हुआ। उसने बंगाल में बरसते हुए बादलों की बौछारें अपनी पीठ पर सहीं, तभी तो विभिन्न स्वरों में 'बादल-राग' सजग हो उठा। वसन्त के प्रति उसका अटूट विश्वास बना रहा, 'अभी न होगा मेरा अन्त'। 'संध्या सुन्दरी' के रूप में उसने अपनी मानवीय भावनाओं का परिष्कार किया और 'यमुना के प्रति' तथा 'दिल्ली और खण्डहर' में पुरातन वैभव के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए उसे नवीन जीवन दिया।

निराला ने 'महाराज शिवाजी का पत्र' और गुरु गोविंदसिंह पर 'जागो फिर एक बार' नाम की कविताओं में उस राष्ट्रीय जागरण का मंत्र फूँका जो स्वतंत्रता से पूर्व अपने पूरे उभार पर था। औरंगजेब की राष्ट्र विघातिनी नीति के जाल में जयसिंह के फँसने पर शिवाजी उसे ललकारते हुए अफसोस प्रकट करते हैं—

हाय री दासता !
पेट के लिए ही
लड़ते हैं भाई भाई—
कोई तुम ऐसा भी कीर्तिकामी !
वीरवर ! समर में
धर्म-घातकों से ही खेलती है रण क्रीड़ा
मेरी तलवार, निकल म्यान से !

और उद्बोधन देते हैं—

शत्रुओं के खून से
धो सके यदि एक भी तुम मां का दाग,
कितना अनुराग देशवासियों का पाओगे !

निर्जर हो जाओगे—
अमर कहलाओगे !

गोविन्दसिंह के शब्दों को उद्धृत कर 'जागो फिर एक बार' में कवि ने भारतीय संस्कृति की उत्सर्ग-भावना का चित्र खींचा है—

समर में अमर कर प्राण,
गान गाए महासिंधु से
सिन्धु-नद-तीर वासी !
सैन्धव तुरंगों पर
चतुरंग चमू संग;
सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्दसिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।

और आत्मा की अमरता का उद्घोष करते हुए दैन्य, निराशा और कामपरता का परिहार किया है—

तुम हो महान, तुम सदा हो महान्,
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता
ब्रह्म हो तुम,
पद-रज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व भार—
जागो फिर एक बार !

'राम की शक्ति-पूजा' निराला की अन्यतम प्रौढ कृति है। इसमे कवि ने राम के व्याज से अपने युग की अनुभूति, निराशा, पराजय, संघर्ष और विजय-कामना का चित्र खींचा है। यहाँ राम का मानवीय रूप हमें अधिक आकर्षित करता है। वे साधक हैं। उनमें शक्ति और पुरुषार्थ है। रावण को परास्त करने की सिद्धि प्राप्त करने के लिए वे शक्ति पूजा करते हैं, पर देवी द्वारा परीक्षा लेने पर पूजा का कमल न पाकर वे चंचल हो उठते हैं—

धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध,
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध !

पर शीघ्र ही उनके मस्तिष्क में विचार आता है—

कहती थीं माता मुझे सदा राजीवनयन।
दो नील कमल है शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन॥

और तभी शक्ति (देवी) आकर उनका हाथ पकड़ लेती है और वह राम के बदन में प्रवेश करती हुई कह उठती है—

'होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन।'

(४) सुखी स्वाधीन समाज का चित्र :—

कवि अतीत के वैभवपूर्ण चित्र खींचने में या वर्तमान की अधोदशा पर आँसू बहाने में ही नहीं लगा रहा, वरन् भविष्य के प्रति आस्थावान भी रहा है। उसे विश्वास है कि यह दयनीय अवस्था अधिक दिनों तक न रहेगी और सचमुच आज हम 'बाधा विहीन-बंध छन्द ज्यों' विदेशी सत्ता से सदा के लिए मुक्त हो गये हैं। 'शत-शत कल्मष के छल' छलका कर जो रागिनियाँ बहती थीं, वे सब सो गई हैं। पर कुछ भी हो, निराला अन्त तक संघर्षों में ही पलते रहे। उनको प्रत्यक्ष जीवन में भौतिक सुखों का आनन्द नहीं मिल सका। भले ही वे कहते रहे—

जागा दिशा-ज्ञान;
उगा रवि पूर्व का गगन में, नव-मान।
हारे हुए सकल दैन्य दलमल चले,—
जीते हुए लगे जीते हुए गले,
वन्द वह विश्व में गूँजा विजय-गान।

(५) हिन्दी के प्रति अगाध निष्ठा :—

राष्ट्रीय एकता के लिए भाषा की एकता का होना अनिवार्य नहीं तो आवश्यक शर्त है। निराला नागरी के उद्धार और हिन्दी के सम्मान के लिए जीवन भर लड़ते रहे। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग के इन्दौर अधिवेशन में जब गांधीजी ने यह कह दिया कि मुझे हिंदी में कोई रवीन्द्रनाथ नजर नहीं आता, तो निराला तिलमिला उठे। उन्हें इस कथन में हिन्दी का अपमान नजर आया और उन्हें लगा, जैसे उनके स्वाभिमान को कोई कुरेद रहा है। वे शीघ्र गांधी जी के पास पहुँचे और कहने लगे, 'आपने मेरा 'तुलसीदास पढा है ?' गाँधीजी ने गोस्वामी तुलसीदास का 'मानस' पढ़ा था, निराला का 'तुलसीदास' नहीं। इस पर निराला बोले—'अगर आपने मेरा 'तुलसीदास' पढ़ लिया होता तो शायद यह कहने की हिम्मत न करते कि

हिन्दी में कोई रवीन्द्रनाथ नहीं है।' पर हिन्दी का यह अनन्य सेवक और दृढ़ समर्थक हिन्दी-सेवियों द्वारा ही इतनी उपेक्षा से देखा गया कि जीवन के अन्तिम दिनों में उसे हिन्दी से चिढ़ हो गई और अंग्रेजी को ही अपनी बात-चीत का माध्यम बनाकर उसने हिन्दी और हिन्दी भक्तों के प्रति आक्रोश प्रकट किया। पर इससे उनकी राष्ट्रीयता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता।

इस प्रकार निराला की राष्ट्रीयता विधिपरक (Positive) है। उसमें विद्रोह है, उत्पीड़न है, पर निगति के लिए नहीं, प्रगति के लिए। निराला का विद्रोह जीवन को निखारता है, उनका दैन्य सामाजिक विद्रूप को कुचलने की प्रेरणा देता है और उनका 'चिरकालिक क्रन्दन' घोषणा करता है—

हो रहे आज जो खिन्न-खिन्न
छुट-छुट कर दल से भिन्न-भिन्न
यह अकल-कला, गह सकल छिन्न, जोड़ेगी।

८ | नयी कविता में सत्यं, शिवं, सुन्दरम्[1]

'नयी कविता में सत्य, शिवं, सुन्दरम्' विषय पर अपने विचार लिपिबद्ध करने को जब मैं अपनी बैठक (अध्ययन–कक्ष) के किवाड बन्द कर बैठ गया तब अचानक किवाडों को जोर से ढकेलते हुए एक आलोचक आ पहुचे और मेरे दाहिने कान मे हौले से कहने लगे—"तुम पागल हो गये हो क्या जो गूलर के फूल की बात कर रहे हो?" मैंने कहा—"मैं आपका मतलब नहीं समझा। पर आप इतने परेशान क्यो हैं?"

वे बोले—'तुम मतलब क्यों समझोगे? तुम लोगों ने हमारे प्राचीन भारतीय शाश्वत सिद्धान्त-आभूषण (सत्यं, शिवं, सुन्दरम्) को इस नई-नई जनमी हुई दूधमुँही विदेशी छोकरी (नई-कविता) के गले मे डालने को कमर कसली है।'

मैं मन ही मन हँसा और विनम्रता से बोला—'ऐसी बात नही है आचार्य प्रवर! सत्यं, शिवं, सुन्दरम्, जैसा शाश्वत मान-दण्ड भारत की ही बपौती हो, यह नहीं कहा जा सकता। यूनानी दार्शनिक अफलातून के हृदय से भी the true, the good, the beautiful के रूप मे ये भाव निसृत हुए थे। मैं तो इसे कला और साहित्य का भी (केवल धर्म और दर्शन का ही नही) शृंगार मानता हूं जिस पर देशकालातीत कृतित्व को कसा जाना चाहिए। और नयी-कविता विदेशी प्रभाव को ग्रहण करती हुई भी भारतीय-सस्कार और भारतीय जीवन-प्रेरणा से सांस ले रही है, ऐसी मेरी मान्यता है।'

1—राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा आयोजित बूंदी-उपनिषद् (१९६०) मे पठित।

मेरी इस बात को सुनकर आचार्य प्रवर तो चुप हो गये पर फिर भी मुझे खतरा है कि कितने ही पण्डित श्रेष्ठ और प्रबुद्ध श्रोता इस विषय को विरोधाभास की आंखों से देख रहे होंगे और जहां तक 'विरोधाभास' का ही प्रश्न है, वहां तक मुझे कोई आपत्ति भी नहीं।

विषय-प्रवेश के पहले 'नयी-कविता' के बारे में जो भ्रांतियां हैं, उनका निराकरण कर लिया जाय तो अच्छा है। सबसे पहली भ्रांति तो यह है कि नयी कविता, वह कविता है जो आज चढ़ती और ढलती उम्र के सभी कवि लिख रहे हैं, बोल रहे हैं, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करवा रहे हैं। दूसरी भ्रांति यह है कि नई कविता भारतेन्दु के साथ जन्मी है और उसने रीतिकाल के विरुद्ध क्रांति की है। तीसरी भ्रंति यह है कि नई कविता में एक ओर राष्ट्रीय धारा के कवि-मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी आदि-आते हैं तो दूसरी ओर छायावाद के पंत, निराला महादेवी आदि। चौथी भ्रंति यह है कि नयी कविता में उत्तर छायावादी कवि बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, 'अंचल,' 'दिनकर' आदि-समाविष्ट होते हैं और होते हैं नई पीढ़ी के गीतकार नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, रामकुमार चतुर्वेदी, रामावतार त्यागी आदि। यहाँ यह स्पष्ट करदूं कि नई कविता न तो अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित है न रीतिकाल के विरुद्ध भारतेन्दु-युग की प्रतिक्रिया, न तो उसमें राष्ट्रीयता की उत्ताल तरंग है न छायावाद—उत्तर छायावाद— की प्रकृति की मानवीकरणपरक छाया-स्निग्ध व्याख्या और न नयी गीति की गूंज।

नयी कविता सच्चे अर्थों में प्रथम 'तार-सप्तक'[1] की प्रयोगवादी वीणा से झंकृत हुई है। जो वीणा पहले बेसुरा, विश्रृंखल, नैराश्य और कुंठा से भरा हुआ निरा वैयक्तिक राग अलापा करती थी, वही वीणा दूसरे[2] और

1—जिसमें गजानन माधव मुक्तिबोध, डॉ० रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरजाकुमार माथुर, नेमिचन्द जैन और अज्ञेय (जो सम्पादक भी हैं) की कविताएं संग्रहीत हैं। (प्रकाशन-काल, सन् १९४३)।

2—जिसमें—भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुरसिंह, नरेश कुमार मेहता, रघुवीर सहाय एवं धर्मवीर भारती की कविताएं संग्रहीत हैं। (प्रकाशन-काल सन् १९५१)।

तीसरे[1] सप्तक में कुछ आस्था, जिंदादिली और सामाजिकता का स्वर-संधान करने लगी। यही प्रयोग-वादी कविता से नयी कविता तक की विकास यात्रा का सीमा-चिन्ह है। संक्षेप में प्रयोग की नन्हीं नग्न बालिका सामाजिक-असामाजिक संस्कारों का परिधान पहनकर नयी कविता किशोरी हो गई। कीर्ति चौधरी के शब्दों मे 'नयी कविता प्राय. नये विषय पर लिखी जाती है या पहले के विषयों को नये ढंग से कहना चाहती है। लयात्मक अथवा लयहीन मुक्त छन्द में होती है। समाज और व्यक्ति की जटिल समस्याओं का अंकन करती हुई 'प्रगतिशील' अथवा सिद्धान्त-प्रधान होती हुई भी अपने को भावात्मक दिखाना चाहती है। :उक्ति सरीखी. लगती है। कभी जटिल और कभी बिल्कुल सरस हो जाती है। प्रायः शिथिल और कभी-कभी सुनिश्चित गठनशाली होती है। नगर की पृष्ठभूमि में लिखी गयी है पर गंवई-गांव के शब्दों का उपयोग करती है। भग्नता तथा विषाद को व्यक्त करती है पर आस्था और निष्ठा का संदेश देती है। (वह) परस्पर विरोधी या विरोधी जान पड़ने वाले गुणों और विशेषताओं का एक अनोखा संगम है।'[2]

अतः स्पष्ट है कि नयी-कविता प्रयोगवाद (जिसे अब वाद नहीं माना जाने लगा है इन्ही कवियों द्वारा) तथा प्रपद्यवाद या नकेनवाद (नलिनी विलोचन, केसरीकुमार और नरेश के काव्य-संकलन-नकेन के प्रपद्य से प्रचलित) के रूढ़ अर्थ में ही प्रयुक्त हुई है। जब आलोचकों ने 'प्रयोग' पर प्रयोग-काल में ही कुठाराघात करने आरम्भ कर दिए तो 'प्रयोग' कुछ संस्कारित होकर 'नयी कविता' बन गया और इसका नाम-सस्कार हुआ इलाहाबाद की तथाकथित गोष्ठी में तथा प्रचार-पत्रिका बनी 'नयी कविता।'

'नयी कविता' की इसी परिसीमित रूप सज्जा में हमे सत्य, शिव, सुन्दरम्, की झांकी देखनी है।

नयी कविता में सत्यम्:

मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते जीवन और जगत् के विभिन्न परिपार्श्वों को स्पर्श करता है। कभी वह समाज-नीति की मर्यादाओं से अपने

1—जिसमें प्रयागनारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथसिंह, कुँवरनारायण, विजयदेवनारायण साही, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविताएं संग्रहीत हैं। (प्रकाशन-काल सन् १९५९)

2—तीसरा सप्तक : पृ० ६७

सामूहिक व्यक्तित्व को बांधता है तो कभी धर्म-नीति के नियमों से अपने को पहचानता है और कभी अर्थ-नीति की उलझनों में फंसकर जीवन की मूलभूत पार्थिव आवश्यकताओं की पूर्ति में व्यस्त रहता है। ये ही विभिन्न प्रभाव आज के वैज्ञानिक युग के जटिल मानव व्यक्तित्व को संपूर्णता प्रदान करते हैं। इन्हीं की ईमानदारी के साथ व्यंजना करना काव्यगत सत्य की उपासना करना है। मोटे तौर से इस सत्य को दो वर्गों में बांटा जा सकता है।

(१) पशु-सत्य और (२) मानव-सत्य।

मानव अपने बुद्धि-बल से आहार, निद्रा, भय और मैथुन जैसी आवश्यकताओं की पूर्ति परिष्कृत रूप में कर लेता है, इसीलिये वह बुद्धिमान पशु है। जिन नियमों और सिद्धान्तों का सहारा लेकर यह बुद्धिमान पशु अपने पशु-जीवन की समस्याओं का हल करता है, उन्हीं की समष्टि को पशु-सत्य कहते हैं।

मानव-सत्य को दो उपवर्गों में बांट सकते हैं—(१) युग-सत्य अथवा जीवन-सत्य और (२) चिरन्तन अथवा महाप्राण सत्य। बुद्धि के सहयोग से जब मानव पशु-वृत्ति का दमन न कर अनुचित संग्रह, अमर्यादित व्यभिचार और भू-सम्पत्ति पर अन्यायपूर्ण अधिकार कर लेता है तब कई प्रकार की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याएँ पैदा होती हैं। इन समस्याओं के निराकरण एवं युग-विशेष अथवा काल-खण्ड के विशेष प्रश्नों के समाधान के लिए जिन नियमों और सिद्धान्तों का आविष्कार तथा प्रचलन किया जाता है इनकी समष्टि को युग-सत्य अथवा जीवन सत्य कहते हैं। यह युग-सत्य व्यक्ति को वीर, समाज को सचेतन और देश को जागरूक बनाता है। लेकिन युग-सत्य भी जब किन्हीं कारणों से विकृत हो जाता है तब चिरन्तन सत्य अपने निर्विकार रूप में प्रकट होता है। जो स्वयं तो अचल होता है पर गतिशील युग-सत्य से अनुप्राणित होकर स्वयं गतिवान हो उठता है। सच्चा कवि-धर्म पशु-सत्य, युग-सत्य, और चिरन्तन सत्य का समुचित सन्तुलन एवं स्वस्थ समन्वय करता है और यदि ऐसा नहीं कर पाता है तो उसके सृजन में निर्माणकारी ताकत नहीं रहती।

इस तात्त्विक विवेचन की कसौटी पर जब हम नयी कविता को कसते हैं तो यह सर्वग्राही तथ्य है कि इसमें पशु-सत्य आवश्यकता से अधिक उभरा है फलतः युग-सत्य और चिरन्तन-सत्य की गूँज दब सी गई है। कुछ लोग

तो इसके अस्तित्व को भी स्वीकार नहीं करते और यह आरोप लगाते हैं कि उसमें केवल निराशा, पलायन, पराजय, कुंठा, वासना और पीड़ा का स्वर है, यौन-भावना का नग्न प्रदर्शन है, और है मनुष्य केवलमात्र बीभत्स लोथड़ों का पिण्ड—शायद इन पंक्तियों को सुनकर या पढकर—

(१) मेरी जिन्दगी बरबाद !
इन फीरोजी होठों पर मेरी जिन्दगी बरबाद
—भारती (गुनाह का गीत)

(२ आह मेरा श्वास है उत्तप्त
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार
प्यार है अभिशप्त, तुम कहां हो नारी ?
—अज्ञेय: इत्यलम्

लेकिन यही प्रमुख या केवल मात्र स्वर नयी कविता का रहा हो, ऐसा कहना एकान्तिक सत्य को व्यंजित करना है। यह ठीक है कि 'गर्भवती है मेरी कुण्ठा क्वारी कुन्ती'[1] और यह भी ठीक है कि मैं 'इतना विवश, इतना विवश कि सिर्फ रोटी हूं, पेट हूं,'[2] पर इन सबसे परे जो 'सोऽहं का त्वम् में लय ही लक्ष्य परम है' [3] उससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रधानता के कारण आज का नया कवि चाहे 'तथ्य' को ही 'सत्य' समझने लगा हो फिर भी काव्यगत सत्य (जो है, वही सत्य नहीं है जो हो सकता है वह भी सत्य है) को उसने शब्दों में बाँधा है जिससे आस्था, विश्वास और दायित्व का स्वर फूटता प्रतीत होता है—

(१) मैं श्मशान यात्रा पर नहीं निकला हूँ
मैं जिन्दगी का मुसाफिर हूँ
—प्रयागनारायण : यह हाथ

(२) यहीं रहूँगा मैं स्वजनों के बीच भोगने को परिणतियाँ;
वय के किसी काल में हो,
संचित जिजीविषा से विराग तो आत्मघात है।
— राजेन्द्रकिशोर : लहर, मार्च ६०

1—निकष ३—४ : साहित्य सन्देश, मई १९६०
2—एक हस्ताक्षर और : राजा दुबे।
3—प्रयागनारायण त्रिपाठी : तीसरा सप्तक

नया कवि सामाजिकता का भार व्यंग्य के कंधों पर उठाता है। जो तीखा और आत्मा को तिलमिला देने वाला बौद्धिक व्यंग्य नई कविता में मिलता है उसके दर्शन पहले कभी नहीं हुए। मदन वात्स्यायन ने 'असुरपुरी में दस से छह' कविता में जो मनुष्य पर मशीन द्वारा व्यंग्यात्मक आक्रमण कराया है, वह हमारी यांत्रिक भावुकता को कचोट देता है—

बातें बड़ी बड़ी करता है
ऐंठा-ऐंठा ही फिरता है
हम सब डटे हुए ड्यूटी पर
पर उस कोने में पाइप पर
ऊँघ रहा है मानव, हा-हा,
ऊँघ रहा है मानव, देखो
ऊँघ रहा है मानव—
हा-हा—
हा-हा-हा-हा-हा !

सरकारी कारखाने में काम करने वाले कर्मचारी की चिन्ता का कारण है—'अफसर की एक लाइन' जिसने उसके बाग को निर्गन्ध कर दिया, उसकी जीवन-कविता को निरर्थ कर दिया और इस निर्दयता पर कारखाने की निर्जीव मशीन भी सन्न रह गई—पर अफसर का दिल धड़का—

'एक मशीन के जबड़ों में एक रोज मेरा हाथ पड़ गया।
कण्ट्रोल का अलार्म चीख उठा, मशीन बन्द हो गयी, जबड़े हट गये,
मेरा हाथ निकल आया।
काश ! हमारे नये कारखाने में बड़े दाम वाले साहबों में,
ऐसी इन्सानियत होती।'

और इस विराट् काण्ड का अपराध इतना ही कि कर्मचारी भारतीय तो है पर अफसर के प्रान्त का नहीं।

नया कवि (कीर्ति चौधरी) व्यस्त जीवन के खोखले दैनिक सत्य पर भी अपनी दृष्टि डालता है। वह देखता है आज के वैज्ञानिक मानव का 'कार्यक्रम'—

दिन-दिन भर सोना,
उठे भी तो भाग्य को रोना,
बहुत हुआ तो किताबों में दिल-दिमाग
खोना।

वर्ना किताब फेंक
दीवार में यों ही निगाहों के बीज बोना !

यह स्थूल-क्षण सत्य है पर उसके पीछे जो सन्देश है, वही आज के कवि का कथ्य है—

'इन सबसे सच मानो
कुछ नहीं होना
जिन्दगी को ऐसा न बनाओ—
कि लगे बोझा ढोना।
दुनिया में बड़ी नियामतें हैं मित्र
जरा उठो, हौसला करो ना !
थोड़ा श्रम-पैर चलाओ
इन्ही पैरों की चाप से,
निर्झर फूटेंगे,
इन्हीं हाथो से तो उगेगा सोना !

संक्षेप में यह कहना अधिक न्यायसगत होगा कि नयी कविता में सत्य तो है पर वह परिष्कृत (Polished) नहीं। उसमें पाशविकता है, कटु-जीवन की विकृतियां हैं और इन सबका उत्तरदायित्व है हमारी समाजगत रुग्ण परिस्थितियों और पराधीन दुर्बल मानसिक वृत्तियों पर। नयी कविता का जन्म स्थूल दृष्टि से 'तार सप्तक' के प्रकाशन (सन् १९४३) से माना जाय तो स्पष्ट है कि वह युग पराधीनता का युग था। आजादी की लौ लिये कवि-हृदय जल रहे थे, आशंका, पराजय, निराशा, कुंठा के पतगे चारों ओर उड़ रहे थे अत. वैयक्तिकता, वासना और पीड़ा का दर्द स्वाभाविक था। दूसरे 'सप्तक' तक आते-आते स्वतंत्रता के साथ-साथ (सन् ५१ तक) कुंठा का कोहरा थोड़ा दूर हटने लगा, आस्था का सूरज विश्वास के क्षितिज पर मुस्कराने लगा और तीसरे 'सप्तक' तक (१९५९) तो विविध निर्माण कार्यों का सुहावना, स्निग्ध स्पर्श या हृदय कमल शत-शत दलो में, जीने का, आगे बढने का रङ्ग लेकर विकसित होने लगा बावजूद इसके कि उसमे युग-सत्य का ही विकास अधिक दिखाई देता है, जिसके मूल में स्वर भी पशु-सत्य का ही है पर उसकी फैलने की जो छटपटाहट और कसमसाहट है उसमे चिरन्तन सत्य की आह है, इससे कोई भी ईमानदार सूक्ष्म द्रष्टा इन्कार नही कर सकता।

(३) यदि दुर्बलता दर्प मे बदल जाय,
व्यथा अन्तर्दृष्टि दे,
खंडित आत्माएं
संचित कर सकें शक्ति की समिधाएं
जो जलकर अग्नि को भी
गंध ज्वार बना दें,
तो मैंने अपना कवि-धर्म पूरा किया
चाहे मर्म सहलाया न हो, कुरेदा हो।

--तीसरा सप्तक : सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

और यही सत्य है कि नया कवि अभी मर्म सहलाने में नहीं कुरेदने में ही अधिक व्यस्त दिखाई देता है। यह सब इसीलिये कि—

'इसी दुखी: संसार में जितना बने हम सुख लुटा दें'[1]

केवल मनुष्य को ही नहीं, बल्कि समस्त जीवधारियों को, तभी तो कवि की सहानुभूति गर्मी की दोपहरी में तपे आसमान के नीचे अंगार-सी सड़क पर दौड़ते हुए घोड़े पर पड़ती है, जिसकी गर्म पीठ पर कोचवान की काली-सी चाबुक वेदर्दी से छटपटा रही है।[2]

नया कवि आस्थावान है, मंगल भावनाओ का वाहक है और दुनिया की सारी गन्दगी से परिचित है—उसे चाहिये ताजा पानी जो समस्त गन्दगी घो डाले,[3] उसे चाहिये ऐसी मानवता जो तूफान और लहरों के आने पर काई की तरह फटे नही, भूख लगने न लगने पर रोटी के लालच में तोते की तरह रटे नही[4] अतः वह अपने अह को इदं में मिलाने के लिए व्याकुल है—

'और हम तुम एक होकर
कोटि जग की सिंधु-लहरों में मिला दें
आप अपनापन !

---दूसरा सप्तक : हरिनारायण व्यास

कहना न होगा इसी व्याकुलता की भट्टी में तपकर कवि 'व्यक्ति सत्य' को व्यापक सत्य बनाने का अपना सनातन उत्तरदायित्व निभा पायेगा।

---

1 दूसरा सप्तक : भवानीप्रसाद मिश्र
2 दूसरा सप्तक : सुश्री शकुन्तला माथुर
3 वही : शकुन्तला माथुर
4 वही : शकुन्तला माथुर

शिवं की सोपानों को पार करते समय नया कवि सत्य की ओर दृष्टि लगाये रहता है। वह जब देखता है कि जड-सत्य आत्मा को दबाकर उस पर हावी हो गया है तो दयार्द्र होकर तिलमिला उठता है—

ओ विज्ञान !
देह भले ही वायुयान में उड़े,
मन अभी ठेले, बैलगाड़ी
पर ही धक्के खाता है।
हाय री रूढ़िप्रिय जड़ते,
तेरी पशुओं की सी
सशंक, त्रस्त, चितवन देख
दया आती है।

—विकास : पंत (कला और बूढ़ा चांद)।

वह देखता है कि लोह-सत्य साध्य बनता जा रहा है तो आवाज लगाता है—

ओ इस्पात के सत्य,
मनुष्य की नाडियों में वह
उसके पैरों तले विछ-
लोहे की टोपी बन उसके
सिर पर मत चल।

——मूर्धन्य : पंत (कला और बूढ़ा चांद)

'सिर चढ़ी रही, पाया न हृदय' जैसी अमङ्गलकारी स्थिति आज के नये कवि को भी प्रिय नहीं।

नयी कविता में सुन्दरम् :

कवि हमेशा सौंदर्य प्रिय रहा है। पर है वह 'मन माने की ही बात' कभी वह मानवीय-सौंदर्य पर रीझता है तो कभी प्राकृतिक-सौन्दर्य पर। सौन्दर्य—रूपी जलधि से कभी वह विष बटोरता है तो कभी अमृत। इसी सौन्दर्यनुभूति का एकान्त आनन्द वह घण्टों अकेला अपने-आप में डूबकर, लेता है—जीवन और जगत् पर सोचता है फिर 'कान्तासम्मततयोपदेशयुजे' के रूप में बिखर पड़ता है।

सौन्दर्य का मानदण्ड देश-काल पर निर्भर है। हमारे यहा के कवि 'गजगामिनी' पर ही लट्टू हैं तो अरब-फारस के कवि ऊँटनी की चाल पर ही मंत्र-मुग्ध हैं। हम 'कोयल' पर जी जान से मरते हैं तो वे बुलबुल से

नयी कविता में शिवम् :

शिवं अर्थात् मंगल की भावना का सीधा सम्बन्ध साहित्य से न होकर धर्म या दर्शन से है। पर शिवं की भावना साहित्य के अन्तराल में अंतः सलिला की भांति प्रवहमान रहती है। भक्त कवियों की काव्य-साधना का मूल उत्स यही था, तभी तो तुलसी जैसे महाकवि भी कह उठे--

"कीरति भणिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कंह हित होई॥"

शिवं का धर्म है—आध्यात्मिकता के साथ-साथ मनुष्य की मानसिक एवं भौतिक शक्तियों में समन्वय स्थापित कर, उन्हें सुसंगठित एवं सम्पन्न बनाना। आज मनुष्य का जीवन बिखर गया है, वह मशीन से भी अधिक जड़ और निस्पन्द हो गया है और ऐसे वक्त से गुजर रहा है जिसमें 'घृणा और प्यार के जो नियम हैं उन्हें कोई नहीं जानता'[1] वह अपनी सहजता को भी भुला चुका है। मानवोचित्त पौरुष, वीर्य और पराक्रम के अभाव मे वह न तो सुख की अनुभूति कर पाता है न दुःख की। असहाय, आश्रयहीन उसका जीवन-चित्र—

कटी पतंग-सा टूट गया मैं
कुंठाओं के नग्न छोकरे
दौड़ रहे हैं मुझे नोंचने
जीवन की गन्दी गलियों में

—हरिकृष्ण मिश्र : लहर, मार्च, ६०।

या फिर पंक्तिबद्ध सामाजिकता के प्रति आक्रोश-'अच्छी कुण्ठा रहित इकाई, सांचे ढले, समाज से'[2] या फिर इन्सानियत को निगलने वाला राजनैतिक स्वर 'आदमी को सेब सी कमजोर फांकों सा तुम्हीं ने काट डाला'[3]। सब मिलाकर ऐसा लगता है कि आज जीवन की अतल गहराई में जो अशिव, अपवित्र और असामाजिक शिला-खण्ड इकट्ठे हो गये हैं उन्हीं की जानकारी आज का कवि देना चाहता है और जानकारी देते समय, अपनी 'रिपोर्ट' पेश करते समय वह थोड़ा अधिक उदार बन रहा है, इसीलिए उभर-उभर कर सारी विकृतियाँ सामने हड्डियों के ढेर की तरह जमा हो गई हैं और यह

1—तीसरा सप्तक : कीर्ति चौधरी
--अरी ओ करुणा प्रभामय : अज्ञेय
3--पंछी जाल अहेरी : अनन्त

दृश्य देखकर ही आलोचक ढोल पीटता है कि आज का नया कवि शिव-द्रोही है और आज की नयी कविता शिवत्व हीन।

पर जरा कवि की 'साइकोलोजिकल एप्रोच' भी तो देखिए! वह डाक्टर की तरह समझ गया है कि अगर रोगी के रोग का सही निदान ज्ञात करना है तो पहले उस रोग को उभाड़-उभाड़ कर प्रकट करो। आज का नया कवि रोग को उभाड़ने में अधिक दत्तचित्त होकर लगा है। किसी का 'ऑपरेशन थियेटर' देखकर साधारण व्यक्ति मंगल कामना के भाव मन में नहीं ला सकता, कुछ ऐसी ही बात नये कवि और नयी कविता (आपरेशन-थियेटर) के बारे में कही जा सकती है। उनका शिवं का स्वर अभी अन्तर्धान है। कभी-कभी प्रकट भी हो जाता है पर हमेशा नहीं। शिव अध्यात्म दृष्टि से औदार्य के प्रतीक माने गये हैं। उनके जीवन का उपक्रम स्वच्छन्द-विहार एवं वैभव-विलास का नहीं है, वरन् लोक-हित के लिए विषपान का है। नया कवि अभी विष-पान में ही लगा है, अमृत बांटने के स्वर्णावसर की प्रतीक्षा कर रहा है। उसके संकेत-चिन्ह हैं—

(१) अगर रोती है मेरे तटों पर तुम्हारी लहरें,
अगर जलते हैं मेरी बांहों में तुम्हारे धान,
अगर बन्द है मेरी मुट्ठी मे तुम्हारी नदियां,
अगर कैद हैं मेरी छाती में तुम्हारे गान,
तो ओ रे भाई,
ओ रे भाई,
मुझे जंग-लगे लोहे की तरह
टूटने दो,
टूटने दो,
टूटने दो!

— तीसरा सप्तक : केदारनाथ सिंह

(२) एक नन्हा बीज मैं अज्ञात नवयुग का,
आह, कितना कुछ-सभी कुछ-न जाने क्या-क्या
समूचा विश्व होना चाहता हूँ।
भोर से पहले तुम्हारे द्वार—
तुम मुझे देखो न देखो—
कल उगूंगा मैं!

—तीसरा सप्तक : केदारनाथ सिंह

क्षण भर के लिए भी अलग नहीं होते। काल–प्रभाव से सौन्दर्य का 'टेस्ट' भी बदल जाता है। यही बात कविता के लिए भी इतनी ही सत्य है जितनी जीवन की और विधाओं के लिए। आज का नया कवि उषा की रंगीनियों को देखता है पर अपने ही संघर्ष रत जीवन की प्रतीकात्मक इकाई के रूप में—

'मेरे हाथ में जुए की एक और बाजी की तरह,
उषे, तुम फिर आ गयी हो।
हारी हुई बाजियों ने जब मुझे परेशान कर रखा था
मुझे तबाह कर रखा था,
खाये डाले रही थी मुझे
उस वक्त मेरे हाथ में एक बार
और ताश के पत्तों की तरह
उषे, तुम फिर आ गयी हो!

—तीसरा सप्तक मदन वात्स्यायन

सौन्दर्य बोध होता अवश्य है, पर कई प्रभाव परिस्थियों से परिवृत्त होकर। मानवी–सौन्दर्य को एकटक निहारने का अवसर आज के कवि को नहीं है वह तो उस सौन्दर्य द्वारा उसके संपूर्ण जीवन को प्रकट करने में ही प्रयत्नशील है। बालिका का ठुनक ठुनक कर नाचना या उसकी तुतलाहट भरी हँसी से घर आंगन को भरना, नये कवि का अभिप्रेत नहीं रहा, इसीलिए वह कहता है—

कलेंडर दिसम्बर तक फटा है,
ग्लास चनके हुए हैं,
किताबों के पन्ने फट-फट कर एक दूसरे में मिल गये हैं,
कान टूटने से प्यालियां कटोरियां बन गई हैं
दिवालों पर लाल-काली मकडी-जालियां खिंची हैं,
टेबुल लेम्प में न बल्ब है न छतरी,
मौसमी फुलवाड़ी में सिर्फ डण्ठल और डाल हैं,
(क्योंकि) शिशु हाथी की सूँड जैसे चचल हाथों वाली,
मेरी लक्ष्मी वहां एक महीने रह कर गयी है।

नया कवि सुन्दर-असुन्दर, वैभव वीभत्स, सभी में समान रस लेता है। उसका सौन्दर्य-दर्शन है कि दुनिया विवशता नहीं, कुतूहल खरीदती है। इसीलिए वह चाहता है—

अपने इस गटापारची बबुए के
पैरो में शहतीरें बांधकर
चौराहे पर खडा कर दो,
फिर, चुपचाप ढोल बजाते जाओ,
शायद पेट पल जाय।

—तीसरा सप्तक : सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

उसके सौन्दर्य में न रहस्य है न छाया, न चमत्कार है, न अध्यात्म। उसमें है जीवन की विरूपता, समाज की विकृति और यथार्थ की अनुभूति। इसीलिये वह प्रकृति की तरफ आंख उठाकर देखता भी है तो उसे जीवन की यांत्रिकता हठात् आकर विवश कर देती है कि वह उसे भी देखे तभी तो 'कम्पनी बाग' के सुन्दरम् में—

लोहे का फाटक है।
फाटक पर बोर्ड है।

—कीर्ति चौधरी

पर आत्मगत सौन्दर्य का नितांत अभाव भी नयी कविता मे मुझे मान्य नही, पन्तजी के बोल हैं—

'ए तटस्थ प्रेमियों,
रूप विरक्त मत होओ!
रस स्रोत मन मे है
सौन्दर्य आनन्द भीतर हैं–देह में न खोजो।'

—कला और बूढ़ा चांद

संक्षेप मे सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के गहरे-हल्के, बनते-बिगड़ते चित्र नयी कविता मे देखे जा सकते हैं। वैसे नये कवि का अधिक आग्रह सत्यं पर रहा है उसी प्रकार जैसे छायावादी कवि का सुन्दरम् या प्रगतिवादी कवि का शिवं पर। आज के यान्त्रिक युग मे जब कलाकार ही नही, विचारक और राजनीतिज्ञ भी दिशाभ्रमित हैं तो उससे विशुद्ध रूप में 'सत्य, शिवं, सुन्दरम्' की आशा नही की जा सकती। जीवन की साहित्य–पटरी पर जो काव्य है, जो कविता की नई रेल आज चल रही है उसमें शोर-गुल अधिक है और मुझे ऐसा लगता है कि वह क्षण थोडा दूर है जब 'इंजन की हैड-लाइट–सा शोर-गुल के बीच सूरज निकल आये'—इतना दूर कि नीम की निबौरी को जरा पकने दो ताकि मीठी लगने लगे।

—o—o—

९ | हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ

पौराणिक युग में जो स्थान और महत्त्व नारद का था वही स्थान और महत्त्व आज के वैज्ञानिक युग में समाचार पत्र का है। समाचार-पत्र युग की उष्मा को नापने का थर्मामीटर और वातावरण की सघनता-विरलता को अंकित करने का बेरोमीटर है। राजनीतिक चेतना-सम्पन्न प्राणी समाचार-पत्र की उसी प्रकार प्रतीक्षा किए बैठा रहता है जिस प्रकार अपार जनता की भीड़ अपने राष्ट्र-नायक के दर्शनों के लिए तरसती रहती है। व्यापारी वर्ग समाचार-पत्र को पाकर इतना उल्लसित होता है मानो किसी आसामी ने उसे कर्ज चुका दिया हो। बुद्धिजीवियों के लिए तो वह मानसिक खाद्य ही नहीं 'टी-टेबुल' का मुख्य टॉपिक भी है। जनतांत्रिक देशों में इन समाचार-पत्रों को 'लोकसंसद का स्थायी अधिवेशन' कहा गया है।

ये समाचार-पत्र सामान्यतः दैनन्दिन देशी-विदेशी घटनाओं, राजनीतिक स्थितियों, सामाजिक विकृतियों और आर्थिक उतार-चढ़ावों से परिचित कर हममें विश्व-नैकट्य की भावना भरते हैं। इनसे सूचनात्मक ज्ञान तो मिलता है पर वह राग का विषय बनकर हृदय को गुदगुदाता नहीं, इनसे मानवीय संबंध स्थापित तो होता है, पर उत्तेजना का, उथल-पुथल का, तन्मयता और आनन्द का नहीं। इस अभाव की पूर्ति साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं द्वारा होती है। साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ राजनीतिक क्षुब्ध वातावरण से ऊपर उठाकर पाठक को सांस्कृतिक स्तर पर रस-विभोर करती हैं। दोनों (समाचार-पत्र और साहित्यिक-पत्र) का अपना २ मूल्य है। एक बाजार मूल्य (Market Price) है तो दूसरा सामान्य मूल्य (Normal Price)[1] एक समुद्र की लहर की तरह ऊपर-नीचे उठता है तो दूसरा अन्तर तक पैठकर मानस को शान्त और तृप्त करता है। प्रस्तुत निबन्ध का विषय सामान्य मूल्य से सम्बन्धित साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ ही हैं।

---

1 अर्थशास्त्र में इनका प्रयोग होता है। बाजार मूल्य अल्पजीवी होता है जबकि सामान्य मूल्य दीर्घजीवी।

स्वतन्त्रता-पूर्व पत्र-पत्रिकाओं की स्थिति :

हिन्दी पत्रकार-कला का आरम्भ विद्वान ३० मई सन् १८२६ से मानते हैं। इसी दिन कलकत्ता से 'उदित मार्त्तण्ड' प्रकाशित हुआ।[1] पर इसमें पत्रकारिता के लक्षण न थे। अतः कुछ विद्वान हिन्दी पत्रकार-कला का वास्तविक आरम्भ भारतेन्दु के 'कवि वचन सुधा' (सन् १८६८) से मानते हैं।[2] इसके पूर्व 'सितारे हिन्द' ने 'बनारस अखबार' (सन् १८४५) में निकाला था पर उसकी भाषा उर्दू थी। इसके विरोध में तारामोहन मित्र ने 'साप्ताहिक सुधा' (सन् १८५०) और राजा लक्ष्मणसिंह ने 'प्रजाहितैषी' (सन् १८५५) निकाला। भारतेन्दु की 'कवि वचन सुधा' साहित्यिक पत्रिका न थी वह सार्वविषयक थी।[3] उनकी 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (१८७३) साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। साहित्यिक पुट लेकर बालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दी-प्रदीप' (१८७७) आलोक बिखेरता हुआ प्रकट हुआ। लगातार ३२ वर्षों तक यह 'प्रदीप' हिन्दी भाषा और साहित्य का संवर्धन करता हुआ स्वतन्त्रता के प्रभात के लिए जलता रहा। बालमुकुन्द गुप्त के साथ 'भारत-मित्र' (१८८६) ने जोर पकड़ा। प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' (१८८४) और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'आनन्द कादम्बिनी' का प्रकाशन किया। 'काशी नागरी प्रचारणी पत्रिका' (१८९७) और 'सरस्वती' (१९००) के प्रकाशन ने पत्रकार-कला को नया मोड़ और नई दृष्टि दी।

स्वतन्त्रता-पूर्व पत्र-पत्रिकाओं के दो प्रमुख उद्देश्य थे—

(१) हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का समर्थन।

(२) देश-भक्ति की भावना को जागृत कर देश को स्वाधीन बनाना।

कहना न होगा कि इन उद्देश्यों की पूर्ति करने में ये पत्र सफल रहे। बालगंगाधर तिलक, महात्मा गांधी, गणेशशंकर विद्यार्थी आदि राष्ट्र नेताओं

---

1 अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : सामाचार–पत्रों का इतिहास, पृ० ९३

2 डॉ० राजेन्द्र शर्मा : हिन्दी गद्य के युग-निर्माता पं० बालकृष्ण भट्ट, पृ० १४३

3 उस पर लिखा रहता था A bimonthly journal of Literature news and Politics"

ने पत्रों के माध्यम से ही वह अलख जगाई कि जन-जन की आत्मा आन्दोलित हो उठी। स्वतन्त्रता-पूर्व पत्रकारिता अपने आपमे कठोर तपस्या थी। सरकार स्वयं बाधक थी। पत्रकार को उसी के विरुद्ध लडना था। सरकार के साथ-साथ उसके हिन्दुस्तानी पिट्ठू भी कम खतरनाक न थे। अर्थाभाव से पत्रकार पीडित था, प्रेस का संकट भूत की तरह सामने था। पाठको का अभाव था, लेखको की कमी थी। फिर भी पत्रकार शहीद बनकर, अपनी हड्डियो को गलाकर, खून की स्याही से लिखता रहा।

स्वातन्त्र्योतर पत्र-पत्रिकाएँ :

स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ-साथ जन-जीवन के सभी अङ्ग उल्लसित हो उठे। राष्ट्रदेह मे नया रुधिर प्रवाहित हुआ। 'पराजित काल रात्रि' अन्तर्धान हो गई और जयलक्ष्मी 'उषा के सुनसले तीर बरसाती' प्रकट हुई। साहित्य को नया स्वर मिला। संस्कृति को फैलने का मुक्त सूक्ष्म आकाश मिला। व्यक्तित्व को सर्वाङ्गीण विकास करने का अवसर मिला। दृष्टि का कोण अब फैलता गया, नये-नये स्तरो मे नवीन-नवीन सृष्टि की तडफ लिये। बदलते हुए राजनीतिक, सामाजिक एव आर्थिक परिवेश में पत्रकार को समलकर चलना था। उसने परिवर्तन की पदचाप सुनी। अब उसका उद्देश्य 'देशभक्ति की भावना को जागृत कर देश को स्वाधीन बनाना' नहीं रहा वरन् प्राप्त की हुई आजादी की रक्षा करना रहा, अवरुद्ध सृजनशीलता को गति देना रहा, सास्कृतिक सकट को दूर करना रहा, मानवीय संवेदना और सहानुभूति को जगाकर भावात्मक एकता को प्रतिष्ठित करना रहा। सच्चे अर्थों मे—सम्पादक को 'व्यास' बनना पडा। उठते हुए 'महाभारत' (नये भारत) को स्वर देना पडा। गूँजती हुई रागिनी को सयोजित करना पडा। भारतेन्दु ने पत्रकार की हैसियत से 'स्वत्व निज भारत गहै' खल गनत सौं सज्जन दुखी मति होय,' और 'नारि नर सम होहिं' का जो नारा बुलन्द किया था उसे सवैधानिक मान्यता प्राप्त हो गई। अब पत्रकार[1] का उद्देश्य रहा—

(१) प्राचीन साहित्य, सस्कृति और कला का उद्घाटन कर उसका नवीन मूल्याकन करना।

(२) अभिनव साहित्य-सृजन को प्रोत्साहन देना और उसकी वैज्ञानिक, सास्कृतिक व ऐतिहासिक समीक्षा प्रस्तुत करना।

---

1 यहाँ पत्रकार से तात्पर्य साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओ के सम्पादक से ही है।

(३) समस्त भारतीय भाषा और साहित्य के बीच समानता की खोज करना व आदान-प्रदान का द्वार मुक्त करना।

(४) लेखन प्रकाशन की अधुनातन दिशा, प्रवृत्ति, और उपलब्धि का परिचय प्रस्तुत करना।

इन उद्देश्यों की पूर्ति स्वातन्त्र्योत्तर पत्र-पत्रिकाओं ने बड़ी सजगता और ईमानदारी के साथ की। यहां संक्षप में प्रत्येक उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिन प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं का योगदान मिला, उनका परिचय दिया जा रहा है–

(१) प्राचीन साहित्य, संस्कृति एवं कला सम्बन्धी शोध-पत्रिकाएं :

भारत में साहित्य सर्जन की प्रवृत्ति आदि कवि वाल्मीकि से मानी जाती है। मुद्रणालय का अभाव होने से यह साहित्य शिष्य-प्रशिष्यों के कण्ठों में बन्दी बन कर पड़ा रहा या ताम्रपत्रों, भुर्जपत्रों और हस्त-लिखित ग्रन्थों के रूप मे लिपिबद्ध होकर भण्डारों और राजकीय पुस्तकालयों में संगृहीत रहा। स्वतन्त्रता पूर्व इस साहित्य के जीर्णोद्धार की ओर कम ध्यान गया। परतन्त्र-मानस ने इसका मूल्य भी नही समझा। जब कर्नल टॉड और डा० एल० पी० तैस्सितोरी आदि ने इसका मूल्यांकन कर भारतीय विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया तब छुट-पुट प्रयत्न होने लगे। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (काशी), हिन्दुस्तानी (इलाहाबाद), सम्मेलन पत्रिका (प्रयाग), व्रजभारती (मथुरा) आदि त्रैमासिक पत्रिकाओं ने प्राचीन साहित्य और संस्कृति का सम्यक् अनुशीलन कर वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया।

स्वतन्त्रता मिलते ही विद्वानों ने अनुभव किया कि जब तक हम अपनी प्राचीन साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं कलात्मक थाती को नहीं सम्भालेंगे (जगायेंगे) तब तक हममे नव जागरण, स्वाभिमान और स्वाश्रयी भावना का विकास नहीं होगा न हम नवीन साहित्य-सर्जन को खाद दे सकेंगे। इस दिशा मे द्रुतगामी प्रयत्न शुरू हुए और विभिन्न विश्व-विद्यालयों तथा शोध सस्थाओं से कई त्रैमासिक शोध-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। राजस्थान इस दौड़ में सबसे आगे रहा। यह स्वाभाविक भी था। यहा का प्राचीन साहित्य विविध और विशाल है। हिन्दी का आदि काल बहुत कुछ इसी की देन है। राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर के साहित्य संस्थान ने सब से पहले 'शोध-पत्रिका' का प्रकाशन आरम्भ किया। इसमें प्राचीन साहित्य, संस्कृति एवं

कला सम्बन्धी विविध लेख प्रकाशित होते रहते हैं। बिड़ला एज्यूकेशन ट्रस्ट, पिलानी के राजस्थानी शोधविभाग ने 'मरुभारती' का प्रकाशन किया इसमें प्रधानतः राजस्थानी साहित्य और संस्कृति सम्बन्धी लेख प्रकाशित होते हैं। राजस्थानी लोक कथा-कोश और शब्द-चर्चा इसके विशिष्ट स्तम्भ रहे हैं। सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीटयूट, बीकानेर की 'राजस्थान-भारती' के 'तैस्सितोरी' 'राठौड पृथ्वीराज जयन्ती' और 'महाराणा कुंभा' विशेषांको ने तो शोध को नई दिशा दी है। विद्वानो ने डा. एल. पी तैस्सितोरी, वेलिकार पृथ्वीराज और महाराणा कुंभा के विषय मे तथ्यपूर्ण नवीन सामग्री यहा प्राप्त की है। राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी की 'परम्परा' ने तो शोध के क्षेत्र मे एक नई परम्परा ही डाली है। इसका हर 'साधारण अंक राज सस्करण' होता है। लोकगीत, गोरा हटजा, जैठवे रा सोरठा, डिंगल कोश, राजस्थानी वात सग्रह, राजस्थानी साहित्य का आदिकाल, मध्यकाल, राठौड रतनसिंघरी वेलि, पिंगल सिरोमणि, लोक-साहित्य आदि अंको ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को अलभ्य सामग्री दी हैं। राजस्थान साहित्य समिति, बिसाऊ की 'वरदा' लोक साहित्य एवं लोक सस्कृति के उद्घाटन मे महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है। बागड प्रदेश साहित्य परिषद्, डूंगरपुर के 'बागवर' ने जनपदीय साहित्य को प्रकाश मे लाने का कार्य किया है। बीकानेर से 'विश्वम्भरा' भरतपुर से 'समितिवाणी' और कोटा से 'हाडौती वाणी' का प्रकाशन नया कदम है।

राजस्थान के बाहर अन्य प्रान्तो मे भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्व विद्यालय की शोध–पत्रिका 'हिन्दी अनुशीलन' प्राचीन एवं नवीन साहित्य सम्बन्धी शोध–दिशा के विभिन्न छोर खोलती रही है। विद्यापीठ, आगरा का 'भारतीय साहित्य' तथा राष्ट्रभाषा परिषद्, बिहार की 'परिषद् पत्रिका' भी उल्लेखनीय है। बगीय हिन्दी परिषद्, कलकत्ता की 'जनभारती' ने कई सुन्दर विशेषांक निकाले है जिनमे, मीरा, तुलसी, भारतेन्दु, रवीन्द्र, प्रसाद, निराला आदि के विशेषांक उल्लेखनीय हैं। वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली का द्वैमासिक 'अनेकात' विशिष्ट शोध प्रवृत्ति का द्योतक है। इसमे जैन काव्य–रूपो, जैन काव्यकारो तथा जैन मन्दिरो का शोधपरक परिचय मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि शोध की दिशा मे इन पत्रिकाओ ने जो कार्य किया है उनमे हिन्दी भाषा और साहित्य सशक्त बना है। हिन्दी

का प्राचीन साहित्य उसकी बोलियों का साहित्य है । अतः आवश्यक है कि ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, राजस्थानी आदि बोलियों के साहित्य को प्रकाशित करने के लिए नवीन और विशिष्ट पत्रिकाओं का प्रकाशन हो ।

(२) अभिनव साहित्य एवं समीक्षा सम्बन्धी साहित्यिक पत्रिकाएँ :

हम केवल प्राचीनता के बल पर नहीं जी सकते। उससे तो केवल प्रेरणा लेकर आगे बढ़ सकते हैं। आगे बढ़ना ही नवीनता का मार्ग प्रशस्त करना है। युग की धड़कन को सुनकर उसे प्रकट करने का सबसे सरल और समुचित माध्यम पत्र-पत्रिकाएँ हैं। युग की आवाज को स्वर देने और उसमें बल भरने का काम दशक की पत्रिकाओं ने किया है। नवीन साहित्यिक आंदोलन का नेतृत्व इन्हीं पत्रिकाओं ने सम्भाला है। प्रयोगवादी कविता को परिष्कृत और परिमार्जित बनाकर 'नयी कविता' का नाम इन्हीं पत्रिकाओं ने दिया है। 'नई कहानी' और 'आंचलिकता' का वस्तु-बोध (रस-बोध भी) इन्हीं पत्रिकाओं से मिला है। समीक्षात्मक और रचनात्मक दोनों दिशाओं में प्रगति हुई है। इस दृष्टि से इन पत्र-पत्रिकाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(क) विशुद्ध समीक्षात्मक (ख) सरस रचनात्मक

(क) विशुद्ध समीक्षात्मक :

विशुद्ध समीक्षात्मक पत्र-पत्रिकाओं का मूल सम्बन्ध साहित्यिक आलोचना से है। परीक्षा को केन्द्र मानकर इस आलोचना के दो रूप किये जा सकते हैं : परीक्षा-सापेक्ष और परीक्षा निरपेक्ष । परीक्षा-सापेक्ष आलोचना का स्वर संकीर्ण, स्थूल और व्यावसायिक है। पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों को ही आलोचना का विषय बनाकर छात्रोपयोगी समीक्षा प्रस्तुत की गई है। 'साहित्य सन्देश', (साहित्यरत्न भंडार, आगरा) 'सरस्वती संवाद' (मोती कटरा आगरा) और 'समीक्षा' (अलवर) इसी प्रकार की आलोचनात्मक पत्रिकाएँ हैं। अपने वार्षिक विशेषांकों में इन पत्रिकाओं ने अपनी दृष्टि को थोड़ा स्वस्थ और व्यापक बनाया है। वे परीक्षोपयोगी घेरे से थोड़ी बाहर

निकलती हैं। इन पत्रिकाओं में 'साहित्य सन्देश' का एप्रोच स्वस्थ तथा संतुलित है। उसने छात्रों तथा शोधार्थियों दोनों को खाद्य दिया है। इसके विशेषांक-आलोचनांक कहानी-अंक, आधुनिक काव्यांक, अन्त:प्रान्तीय नाटकांक, आधुनिक उपन्यास अंक, भाषा विज्ञान विशेषांक, सन्त साहित्य विशेषांक, ऐतिहासिक उपन्यास अंक, रीति काव्यालोचनांक, शोध अंक, प्रगति विशेषांक ५९, ६०, ६१, निबन्धांक, रांगेय राघव स्मृति अंक, आदि उपयोगी व तथ्यपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं। 'सरस्वती संवाद' की दृष्टि परीक्षाओं पर अधिक रही है। फिर भी उसके विभिन्न विशेषांक-गद्य विशेषांक, प्रसाद अंक, महाकाव्य अंक, काव्यशास्त्र अंक, इतिहास अंक, सूर अंक—उच्चस्तरीय विचारोत्तेजक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। 'समीक्षा' द्वैमासिक पत्रिका है (अर्थाभाव के कारण अब उसका प्रकाशन बन्द हो गया है) आरम्भ से ही यह परीक्षोपयोगी दृष्टि लेकर चली। इसके चार विशेषांक–तुलसी, सूर, आधुनिक कविनांक, प्रेमचन्द अंक–छात्रों में लोकप्रिय तो हुए पर अधीरता एवं जल्दबाजी के कारण प्रकाशक इसे जीवित न रख सके।

परीक्षा-निरपेक्ष आलोचना का स्वर अधिक सूक्ष्म, सशक्त और वजनदार है। उसने साहित्य के शास्त्रीय मानदण्डों को बदला है, रूढ़िगत आलोचना प्रणाली को झकझोरा है और साहित्य का मनोविश्लेषणात्मक, समाजशास्त्रीय, वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। त्रैमासिक पत्रिका 'आलोचना' और मासिक 'समालोचक' (आगरा) ने आलोचना का यह रूप बड़ी जागरूकता के साथ रखा पर मत-भेद के कारण इनका प्रकाशन बीच ही में अवरुद्ध हो गया। 'आलोचना' का प्रकाशन फिर से प्रारम्भ हो गया है। इलाहाबाद से प्रकाशित 'माध्यम' और 'क ख ग', ने तथा उदयपुर से प्रकाशित 'बिन्दु' ने साहित्यिक पत्रिका के स्तर को ऊंचा उठाकर उसे आधुनिकता और जीवन-मूल्यों के विभिन्न प्रश्नों और संदर्भों से जोड़ा है।

(ख) सरस रचनात्मक

सरस रचनात्मक पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार और प्रसार भी इस दशक में बढ़ा। इस श्रेणी की पत्र-पत्रिकाओं के भी दो रूप है। सार्वविधामूलक और विशिष्ट विधामूलक। सार्वविधामूलक पत्र-पत्रिकाएँ वे हैं जो साहित्य की विभिन्न विधाओं–निबन्ध, आलोचना, कहानी, एकांकी कविता, हास्य-

व्यंग्य आदि सभी–को प्रश्रय देती हैं। 'विशाल भारत' (कलकत्ता) और 'सरस्वती' (इलाहाबाद) आज भी अपनी उज्ज्वल परम्परा का गौरव निभा रही हैं। ये पत्रिकाएँ सामान्य पाठक के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होती हैं। उसे ज्ञानवर्द्धक सामग्री के साथ-साथ मनोरंजन के लिए सरस सामग्री भी पढ़ने को मिलती है। साहित्य के अतिरिक्त अन्य सामाजिक विषयों-इतिहास भूगोल, राजनीति, विज्ञान, कला, धर्म–को भी ये परिस्पर्श करती हैं। वीणा (इन्दौर), कल्पना (हैदराबाद दक्खन), नवनीत (बम्बई), नई धारा (पटना), ज्ञानोदय (कलकत्ता), सप्तसिन्धु (पटियाला), सरिता (दिल्ली), त्रिपथगा (लखनऊ), भारती (बम्बई), कादम्बिनी (दिल्ली) लहर (अजमेर) मधुरानी (उदयपुर) वातायन (बीकानेर), प्राच्यभारती (भागलपुर), रसवन्ती (लखनऊ) विक्रम (उज्जैन) नया जीवन (सहारनपुर) त्रिकोण (कलकत्ता) आदि पत्र-पत्रिकाएँ रचनात्मक साहित्य का संवर्धन कर रही हैं। वीणा, कल्पना नई धारा, सप्तसिन्धु, लहर, वातायन और रसवन्ती में आलोचना का स्तर और स्वर भी ऊंचा एवं सशक्त रहा है। इनके विशेषांकों में तो प्रायः समीक्षा की प्रवृत्ति ही प्रधान रही है। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' 'धर्मयुग' 'दिनमान' अपनी श्रेणी के विशिष्ट साप्ताहिक पत्र हैं।

विशिष्ट विधामूलक पत्र-पत्रिकाओं की प्रकाशन प्रवृत्ति इस दशक की विशेष देन है। इससे पूर्व किसी साहित्यिक विधा-विशेष को लेकर सामान्यतः पत्र नहीं चले। इस दशक के साहित्य की दो विधाएँ–कहानी और कविता–इस ओर सचेष्ट रहीं। कहानी आज के व्यस्त जीवन को सशक्त करने वाली रस-धारा है। गहन चिन्तन और तात्कालीक समस्याओं को पाठक के समक्ष सरल और सीधे रूप में रखने का कहानी के अतिरिक्त और कोई माध्यम नहीं। पाठकों की रुचि इस ओर जितनी अग्रसर है उतनी और किसी विधा की ओर नहीं। पाठकों की इसी भूख को मिटाने के लिए केवल मात्र कहानियों की पत्रिकाएँ इस दशक में प्रकाशित हुईं। 'कहानी' 'नई कहानियाँ' 'सारिका' इस दिशा में उल्लेखनीय पत्रिकाएँ हैं। इन पत्रिकाओं में केवल कहानियाँ ही नहीं रहतीं वरन् आधुनिक कहानियों की टैकनीक, दशा, दिशा और उपलब्धि पर परिचर्चा भी रहती है। सस्ते मनोरंजन के लिए हल्के स्तर की पत्रिकाओं में 'माया' 'मनोरमा', 'मनोहर कहानियाँ' और 'अरुण' के नाम लिए जा सकते हैं।

कविता की टैकनीक में इस दशक ने आमूलचूल परिवर्तन किया। सम्मान्य आलोचकों ने कमर कसकर इस तथाकथित कविता की खबर ली। पर युग की बौद्धिक चेतना नई कविता को अपनाकर ही रही। कवि को इस संक्रमण काल में स्वयं आलोचक ही नहीं प्रकाशक भी बनना पड़ा। 'नयी कविता' (इलाहाबाद), 'कविताएँ' (जोधपुर) और 'कविता' (अलवर) इस संदर्भ में उल्लेखनीय प्रकाशन हैं।

इस सामान्य विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि अभिनव साहित्य और समीक्षा सम्बन्धी पत्रिकाएँ उत्तरोत्तर विकास कर रही हैं। सरस रचनात्मक पत्रिकाएँ तो व्यावसायिक दृष्टि से सफल होने के कारण फल-फूल रही हैं पर विशुद्ध समीक्षात्मक पत्रिकाओं की आर्थिक नींव सुदृढ़ नहीं है। 'साहित्य सन्देश' के अतिरिक्त अन्य सभी पत्र प्रायः लगड़ाते रहे हैं। यह स्थिति हिन्दी साहित्य के लिए कभी भी खतरनाक हो सकती है। अतः आवश्यकता है कि पाठकों की रुचि का परिष्कार हो और आलोचना का मानदण्ड स्वस्थ बने अन्यथा समीक्षा के 'माली' के अभाव में रचनात्मक साहित्य की वाटिका 'अवांछनीय' तत्वों से भर जायगी।

(३) अन्तर-भारती भाषा, साहित्य और संस्कृति सम्बन्धी पत्रिकाएँ:

आजादी के बाद भारतीय राष्ट्रीयता का जो अखण्ड और पूर्ण स्वरूप सामने आया, वह कभी नहीं आया। जिस राष्ट्रव्यापी एकता की कल्पना अशोक और अकबर ने भी नहीं की वह सहज ही हमें प्राप्त हो गई। अब मूल प्रश्न राष्ट्रीयता और एकता को स्थायी बनाये रखने का है। यह दायित्व राजनीतिक नेताओं का जितना नहीं है उतना संवेदनशील, अनुभूतिप्रवण साहित्यकारों का है। इस प्रकार का वैचारिक सरस साहित्य घर-घर में पहुंच सके, ऐसी व्यवस्था करना आज के पत्रकार और प्रकाशक का कार्य है। पिछले कुछ वर्षों से भाषा-भेद की आग सुलगाकर राष्ट्र देवता को झुलसाया जा रहा है। हिन्दी अपने सहज गुणों से राष्ट्र भाषा बन गई, पर उसका जीवित रहना अपने प्रादेशिक भाषाओं की बहनों के सहयोग पर ही निर्भर है। उन्हें अपदस्थ कर वह जी नहीं सकती। उसका मूल विरोध भी अंग्रेजी से है। भारतीय भाषाओं के साथ हिल-मिल कर वह अपना गौरव और वैभव

बढाना चाहती है। इस दिशा में पत्र-पत्रिकाएँ महत्वपूर्ण कार्य कर सकती हैं।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने 'भाषा' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन किया है। इसका उद्देश्य है-(१) शिक्षा, कला, विज्ञान, अनुसंधान कानून और शासन आदि के लिए अन्य भारतीय भाषाओं से शब्द ग्रहण कर हिन्दी की समृद्धि करना (२) हिन्दी को सब प्रकार की अभिव्यक्ति का सशक्त और प्रभावशाली साधन बनाने के उद्देश्य से उसकी प्रकृति के अनुकूल प्रादेशिक भाषाओं का सहयोग लेना। (३) समस्त भारतीय भाषाओं के बीच समानता की खोज करना और आदान-प्रदान का द्वार मुक्त करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए और भी कुछ पत्रिकाएँ कार्य कर रही हैं। साहित्यिक आदान-प्रदान का कार्य राष्ट्रभारती (वर्धा) आजकल (दिल्ली), राष्ट्रभाषा पत्र, (कटक) दक्षिण भारती (हैदराबाद—कई वर्षों से यह पत्रिका बन्द है) देवनागर (दिल्ली) आदि पत्रिकाओं द्वारा सम्पन्न हो रहा है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान का माध्यम है 'संस्कृति' (दिल्ली)। 'मुक्ता' (दिल्ली) भारतीय भाषाओं में प्रकाशित महत्वपूर्ण सामग्री का मासिक संकलन है जिसका काम है भारत के कोने-कोने में बिखरे मोतियों की लड़ी पिरोकर उसे जागरूक और प्रबुद्ध पाठकों तक पहुँचाना।

पत्रकारिता के क्षेत्र में इस प्रकार का आदान-प्रदान, भाषा और साहित्य के क्षेत्र मे एकदम नया है। यह कार्य प्रधानतः सरकारी स्तर पर हो रहा है। दक्षिण भारत की कुछ पत्रिकाओं ने भी इस ओर अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया है। उत्तर भारत में भी इस प्रकार के गैर सरकारी प्रयत्न होने चाहिये। इससे हिन्दी के विरुद्ध जो विष उगला जा रहा है, वह अमृत बन जायगा।

(४) लेखन-प्रकाशन की आधुनातन प्रवृत्तियों की सूचक पत्रिकाएँ :

पहले पत्रकारों के सामने पाठकों एवं लेखकों की कमी थी। पर अब दिन-प्रतिदिन बढ़ल्ले के साथ नया साहित्य सामने आ रहा है। इस ढेरी में से चयन कर अभीष्ट कृति का पठन-पाठन आज के साहित्य-जगत की जटिल

समस्या है। यों तो प्रत्येक पत्रिका में साहित्य-समीक्षा का एक स्तम्भ रहता ही है पर इस दशक में नवलेखन एवं प्रकाशन की प्रगति को सूचित करने के लिए कई स्वतन्त्र पत्रिकाओं का प्रकाशन भी हुआ है। इनका प्रकाशन किसी न किसी प्रकाशक संस्था से हुआ है। ऐसी पत्रिकाओं में 'ज्ञानपीठ पत्रिका', 'पुस्तक-समाचार', 'विश्व साहित्य', 'हिन्दी प्रकाशक', 'नया साहित्य' आदि उल्लेखनीय हैं। 'ज्ञानपीठ पत्रिका' ने विभिन्न विश्वविद्यालयों में हो रहे हिन्दी-अनुशीलन कार्य का विषयवार विवरण देकर शोध-जगत की महती सेवा की है। इससे शोधार्थी विषय की पुनरावृत्ति से तो बचेंगे ही नवीन शोध-दिशा ढूँढ़ने में भी समर्थ होंगे।

समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि इन पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण सेवा की है। नयी कविता सम्बन्धी आन्दोलन का सूत्र तो इन्हीं पत्रिकाओं ने सम्भाला है। पहले की पत्रिकाएँ प्रायः सार्वविषयक होती थीं। इस दशक में विशिष्ट-विद्यामूलक पत्रिकाओं का प्रकाशन भी आरंभ हुआ। अन्तर-भारती भाषा और साहित्य सम्बन्धी पत्रिकाओं ने हिन्दी की गोद भरकर उसे अखण्ड सौभाग्यवती बनाया। प्रबुद्ध सम्पादक और अनुभूतिशील लेखक का दायित्व है कि वह पूंजी के व्यामोह से अलग हटकर पाठक की रुचि का परिष्कार करता रहे, उसे कलुषित न होने दे।

राजस्थानी साहित्य

१० प्राचीन राजस्थानी गद्य में श्रृंगार-वर्णन[1]

राजस्थानी गद्य प्राचीनता की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, अपनी रूपगत एवं शैलीगत विशेषताओं के कारण भी वह समूचे भारतीय गद्य साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए है। जिस प्रकार राजस्थानी पद्य साहित्य में रास, रासो, चौपई, चर्चरी, वेलि, पवाड़ा, फागु, बारहमासा, बावनी, कुलक, सज्झाय, ढाल आदि काव्य रूप प्रचलित हुए उसी प्रकार राजस्थानी गद्य साहित्य वचनिका, दवावैत, वात, सिलोका, वालावबोध, ख्यात, वंशावली, पट्टावली, गुर्वावली, दफ्तर-बही आदि विविध रूपों में विकसित हुआ। राजस्थानी का यह गद्य अपनी स्पष्ट भाव-व्यंजना, यथातथ्य चित्रण क्षमता और एक विशेष प्रकार की अनुप्रासमयी शैली के लिए प्रसिद्ध है।

राजस्थानी साहित्य की प्रमुख विशेषता शौर्य और बलिदान की भावना है। इसी की गोद में प्रेम-भावना को फलने-फूलने का अवसर मिला। 'ढोला मारू रा दूहा,' 'वेलि किसन रुकमणीरी' जैसे काव्य-ग्रन्थों में विशुद्ध प्रेम का चित्रण देखने को मिलता है। राजस्थानी कहानियों में जिन्हे वात कहा जाता है, प्रेम का लौकिक रूप बड़ी कलात्मकता के साथ निरूपित हुआ है। ढोला-मारू, जलाल-बूबना, रतना-हमीर, नागजी-नागवन्ती, खीवजी-आभलदे, जसमादे ओडण, बींझा-सोरठ, निहालदे सुलतान, जेठवा-ऊजली, मूमल-महेन्दर आदि कथाओं में प्रेम की अमरता का आख्यान है। ये कथाएं प्रेम के सहज और मानवीय पक्ष को उद्‌घाटित करने में अत्यन्त सफल हुई हैं।

१—आकाशवाणी, जयपुर के सौजन्य से

राजस्थानी गद्य में जहां प्रेम-भाव की व्यंजना की गई है वहां गद्यकार नायक-नायिका के रूप-चित्रण, मिलन और विरह के विविध दृश्यों, प्रेम-निर्वाह की बाधाओं, सन्देश-प्रेषण और प्रकृति के मनोहर चित्रों को चित्रित करने में रस लेना रहा है। उसकी भाषा कोमल, मधुर और सरस हो उठी है।

नायिकाओं के रूप-वर्णन में उपमाओं की झड़ी लग गई है। झींमा चारणी ने गागरोण गढ के स्वामी अचलदास खीची के सम्मुख जांगलू के खीवसी की पुत्री उमा सांखली का जो रूप-वर्णन किया, उसे सुनकर अचलदास के मन में उमा के प्रति पूर्वराग का उदय हो गया जो अन्त में विवाह में परिणत हुआ। झींमा चारणी ने कहा—उमा के सौन्दर्य का क्या कहना? वह आसमान से उतरी हुई इन्द्र की अप्सरा, मानसरोवर का हंस, शरद का कमल, बसन्त की मंजरी, भादों की बदली, बादल की बिजली, वर्षा की बीरबहूटी, बावना चन्दन, सोलहवां सोना, रायकदली का गर्भ, राजहंस का बच्चा, लक्ष्मी का अवतार, प्रभात का सूर्य, पूर्णिमा का चांद, शरद की कृपा, स्नेह की लहर, गुण का प्रवाह, रूप का भण्डार, गुणवानों में श्रेष्ठ है और उसका यौवन दर्शनीय है—

असमांन ऊतरी इन्द्र री अपछरा, सरोवर रो हंस, सरद रो कमल, वसंत की मंजरी, भाद्रवा की बादली, बादल का बीज, मेह को ममोलो, बावनो चन्दण, सोलमो सोनो, रायकेल को ग्रभ, हंस को बच्चो, लक्ष्मी को अवतार, प्रभात को सूर, पूनिम को चांद, सरद को क्रिपा, सनेह की लहर, गुण को प्रवाह, रूप को निधांन, गुणवन्त री लूस, जोवन को पेखणो, इसी उमां सांखुली छै।

रूप-वर्णन में नखशिख-निरूपण की पद्धति का व्यवहार भी राजस्थानी गद्य में देखने को मिलता है। पूंगल के पिंगल राजा की कन्या मारवणी साक्षात रूप का अवतार है। वह पद्मिनी स्त्री है। उसका मुख चन्द्रमा के समान, आँखें मृग के समान, गति हंस की सी, कमर सिंह के समान, शरीर सोलहवां सोना, मुख की सौरभ कस्तूरी के समान और शरीर की सौरभ चन्दन के समान, नासिका तोते की चोंच या दीप शिखा सी, स्तन नारियल के समान, बोली कोयल सी मीठी, दांत दाड़िम के कणों से, वेणी नागिन सी, बांह चम्पा की डाल सी, एड़ी सुपारी सी और पगस्थली कुत्ते की जीभ सी है—

मारवणी पदमणि, नै चन्द्रमा सो बदन, म्रग लोचणी, हंस की सी गति, कटि सिंघ सरीखी छै। काया सोलमो सोनो, मुख री सौरम किस्तूरी जिसी छै। गात री सौरम चन्दण सरीखी छै। नासिका जांणै सुवारी चाच तथा दीपक री सिखा सरीखी छै। पयोधर श्रीफल जिसा। वांणी कोयल जिसी। दांत जांणै दाडिम कुली। वेणी जाणै नागणी। बांह जांणै चम्पारी डाल। ऐडी सुपारी सी नै पगथली स्यांन री जीभ सरीखी छै।

रूप-वर्णन में सद्यस्नाता नायिका का सौन्दर्य-चित्र कवियों का विशेष प्रिय विषय रहा है। मारवणी का अनन्त प्रतीक्षा के बाद जब अपने प्रिय ढोला से मिलन होता है तो वह स्नानादि कर सोलह शृंगार सजाती है। अनेक प्रकार की सौरम, चोवा, चन्दनादि से शरीर पर विलेपन करती है और वेणी में मोती गूंथती है—

अबै मारवणि पण सनांन कियो। अनेक सोरम, सुगन्ध, चोवा-चदन रा विलेपन किया। केसा में मोती सारि सोलै सिणगार साझे तैयार हुवा छै।

ढोला भी बचपन में ब्याही अपनी प्राणप्रिया से मिलने के लिए शृंगार करता है। स्नानादि कर अच्छे वस्त्र पहनता है। सुगन्धित पदार्थों का विले-पन करता है। उसकी रूप-छवि को देखकर मारवणी की सभी सखियां प्रसन्न हो उठती हैं—

अबै पिंगल राजा आपरा खवास नै कह्यो-कँवरजी नै मरदन करावौ, पोसाक वणावौ। तद खवास कंवरजी नै सपाड़ो कराय सिरपाव कियो। घणा केसर अरगजो में गरक हुवा। ढोलाजीरो रूप सोबो देखनै सहेलियां सगली राजी हुई।

स्त्रियों के रूप-वर्णन के साथ-साथ पुरुष के सौन्दर्यमय शक्ति सम्पन्न व्यक्तित्व की झांकी भी राजस्थानी गद्य मे देखने को मिलती है। जलाल बूबना की प्रेम कथा में नायक जलाल सुघड़ छैल है और नायिका बूबना सयानी-'जलाल सुघड़ छैल छै नै बूबना पण सयाणी छै।' बादशाह के यह पूछने पर कि सुघड़ छैल की क्या पहचान है? काजी उत्तर देता है-स्नान करते समय सिर के बाल उलझ जाने पर जब कंघी बालों के ऊपर रखने पर बिना किसी रुकावट के सीधी धरती पर उतर आती है, तब वह पुरुष सुघड़ छैल कहलाता है। जलाल ऐसा ही है।

बादसाह कही–सुघड़ छैन क्यूं करके जांणिये । तरै कह्यो–सांपड़े जणा माथा रा केस उलभाय देवै पछै कांगसी केनां रै ऊपर धरै तिकी पावरी चली आवै, अटकाव नहीं होवै, धरती तक चली आवै, सो पूरो सुघड़ छैन कहीजै । सो इसड़ो जलाल छै ।

संयोग शृंगार के चटकीले चित्र बड़ी तन्मयता के साथ यहां उतारे गये हैं । जलाल–बूबना की कथा में संयोग के कई भव्य चित्र हैं । इस कथा की विचित्रता यह है कि जलाल अपने मामा जगतमायची की विवाहिता बूबना से प्रेम करता है जबकि उसका विवाह बूबना की बड़ी बहिन मूमना से हुआ है । जलाल अनेक संकटों को पार कर बूबना से मिलने की अपनी प्रतिज्ञा बड़ी बहादुरी से निभाता है । बादशाह ने बूबना के चारों ओर पहरेदार बिठाये पर जलाल कोई न कोई हल निकाल कर अपने प्रेम की परीक्षा देता ही रहा । कभी बूबना अपनी बड़ी बहिन मूमना से मिलने के लिए रथ में बैठकर निकली तो जलाल सहेलियों के बीच रथ में जा बैठा और अवसर आने पर बूबना से गाढालिंगन किया––

तरै जलाल बाह घाल, आलिंगन कर चुंबन कियौ । मांही–मांही एकमेक हुइया । घणा दिन री विरह दूर भागियौ । कांम कोट मांहो लुट पड़ी । दोनूं खुसहाल हुवा ।

कभी फूलों के ढेर में छिपकर उनसे मुलाकात की, कभी छींके के बल पर चढ़कर आधी रात में उसके साथ आनंद–विहार किया–

सो रात आधी ढलतां बूबना रै महल आयो । बूबना वाट ही जोहती थी सो सुंगध रा भोलां सूं जांण, तुरत छींको नीचो न्हांक नै ऊपर लियौ । घड़ी पांच सात मांही रहि, हुंस–खेल रजामन्द होय फेर पाछो आय सो रह्यो ।

कभी पहरेदारों को मारकर प्रेम का निर्वाह किया तो कभी साँपों, शेरों और पानी के पहरों को पारकर टापू के बीच निर्मित महलों में स्थित बूबना से भेंट की ।

संयोग–शृंगार की आयोजना में चौपड़ खेलने के प्रसंग बड़े मनोरंजक हैं । सौतिया डाह का रूप 'अचलदास खीची री बात' में देखने को मिलता है जहां अचलदास की पहली रानी लालां नव परिणिता उमा सांखली से खार

लाये बैठी है। वह अचलदास को उमा से मिलने की स्वीकृति देती है, पर केवल एक दिन के लिए, वह भी इस शर्त पर कि अचलदास वागा नहीं उतारें। इतना ही नहीं, इस एक दिन की भेंट के लिए भी उमा को अपनी तपस्या के बल से प्राप्त हार लालां को देना पड़ता है। अचलदास उमा के रनिवास में जाते हैं पर अपने वचन की रक्षा में हथियार बांधे ही सो जाते है, सात वर्षों के बाद का यह क्षणिक मिलन और उस पर भी वचन-निर्वाह की यह अर्गला ! प्रेम पर कर्तव्य की यह विजय अनूठी और असाधारण है-

आज दिन भलो ऊगो जो सातां बरसां सों ठाकुरां रो मुंह दीठो। आणंद उछाव हुआ। तरै ढोलियां बिछायो नै ठाकुरां नै मांहि पधारिया। झोमी आगे बैठी वीणा बजावै छै नै ऊमांजी आगै हाथ जोड़नै ऊभी छै। तरै अचलदासजी ऊमांजी रो हाथ पकड़िनै ढोलियै बैसाड़ी छै ढोलियै बैसाड़ नै बातचीत करण लागा। झीमी आगै बैठां वीणा बजावै छै अर गावै छै। ठाकुरां नै रीझावै छै। तिसड़ै बैठां आधी राति हुई। तो ठाकुर बागो उतारै नहीं। कटारी छोड़ै नहीं।

संयोग के इन रंगीले चित्रों के साथ-साथ वियोग के हृदय विदारक, मार्मिक, करुण चित्र भी राजस्थानी कहानियों में अंकित है। ढोला और मारवणी का विरह प्रेम की अनन्यता और उच्चता का प्रतिमान है। जब मारवणी डेढ वर्ष की थी तभी तीन वर्षीय ढोला के साथ उसका विवाह हो गया था। सौदागर के प्रसंग से जब मारवणी को ढोला के साथ विवाहित होने की बात ज्ञात हुई तो उसकी सारी स्मृतियां ताजी हो गई। वह अपनी सखियों से कहने लगी-मुझे तो केवल मात्र कंवरजी का ही ध्यान है। उनकी ही सूरत मेरे हृदय में बसी हुई है। उनके बिना मुझे रात-रात भर नींद नहीं आती, मेरा शरीर यद्यपि यहां है तथापि मेरे प्राण तो नलवरगढ़ में उन्हीं के साथ हैं-

म्हारै तो मन एक निकेवल ध्यांन कंवरजी रो हीज छै। कंवरजी री सूरत म्हांरा हिरदा मे बस रही छै। रात सूती नै कंवरजी आंण जगावै छै। रात-रात भर नींद आवै नहीं। म्हांरी खोड़ तो अठै छै अर जीव नलवरगढ में छै।

मारवणी ढाढ़ियों के साथ अपना संदेशा भेजती है। पहले जितने भी संदेशे भेजे सब मालवणी ने नष्ट कर दिये। इस बार ढाढ़ियों ने वीणा की नाली में कागज रख, किसी तरह बीच-बचाव कर ढोला को मारवणी की सुध

दिखाई। ढोला प्रेम-विह्वल हो गया। उसने उत्तर में मारवणी को कागज ही नहीं दिया वरन् अपने पहनने के कड़े-मोती भी भिजवा दिये और कहलाया कि जब मैं आऊंगा तभी ये कड़े-मोती पहनूंगा—

कागद में लिख्यो छै-अै कड़ा-मोती थां कनै आस्यां जद पैरस्यां। हूं पण वेगो आवूं छूं। म्हारो जीव थां कन्है छै, थां बिन एक घड़ी ही जाय छै सो अलखै छै।

इधर मारवणी ढोला की दिन रात प्रतीक्षा करती है। शकुन मनाती है। नित्य काग और मोर उड़ाती है—

मारवणी पूंगल बैठी दिन गिणै छै। ढोला री वाट देखै छै। नितका काग-मोर उडावैं छै। एक दिन रै समाजोग परभात ही मारवणी ऊठ झरोखै बैठी छै। इण समै काग आंगण मोड़ै बोल्यो। ताहरां मारवणी बोली-कंवर जी पधारै तो उडज्या। इण भांत थाकी काग-मोर उडावै छै।

जलाल बूवना की कथा में यद्यपि संयोग शृंगार की प्रधानता है तथापि विरह की मार्मिक अनुभूति भी एकाध स्थल पर है। जब जलाल बादशाह द्वारा युद्ध में भेज दिया जाता है तब बूवना विरह में अत्यन्त बिलखती है। वह शृंगार के सभी प्रसाधनों को त्याग देती है। न पान खाती है न सुगन्धादि पदार्थों का लेप करती है, न नये गहने पहनती है न पूरा खाना खाती है। वह धरती पर पड़ी-पड़ी बिलखती है—

बूवना नित बिलखै। एक टंक खाणो खावै, नेत्रां खवास बहोत धीरज बंधावैं, बिलमावै, पण मानै नहीं, अर धरती पर पड़ी रहै। पांन अरोगै नहीं, सुगन्ध लगावै नहीं, नवोड़ो गहणो, कपड़ो-कपड़ी पहरै नहीं।

राजस्थानी गद्य की एक विशेषता उसकी तुकान्तता है। 'सभा शृंगार' नामक वर्णक ग्रन्थ में सामान्य विरहिणी नायिका की मानसिक दशा और उसकी उद्वेगजनित क्रियाओं का तुकान्त गद्य में स्वाभाविक वर्णन मिलता है। विरह दिशा में विरहिणी को भोजन व खान-पान से विरक्ति हो जाती है। उसे सब प्रकार के शृंगार अंगार के समान प्रतीत होते हैं। चन्द्रमा की शीतल चांदनी उसके लिए वृष राशि के सूर्य के समान दाघकारी लगती हैं। वियोग की आग से उसका शरीर जलता है और सहेलियों का साथ उसे नहीं सुहाता।

किसी एक विरहिणी हुई ?
विरहावस्था, आहारि ऊपरि करइ अनास्था ।
सव श्रृंगार, मानइ अंगार ।
चन्द्र तपइ पान, थ्या विखवान ।
विरहानल प्रज्वलइ अंगु, सखी जन स्यूं विरंग ।

इसमे आगे भी उद्वेग दशा मे विरहिणी अपने हार को तोडने लगती है, हाथो के वलय को मोडती है, गहनो को तोडती है, कपडे उतार कर ढेर लगा देती है । किंकिणी को उतार कर अलग रख देती है । अपने मस्तक व वक्षस्थल पर प्रहार करती है, बालो को बिखेरती है और धरती पर लोट कर आंसुओ से अपनी कंचुकी को भिगोती है—

हारु त्रोडती, वलय मोडती ।
आभरण भाजती, वस्त्र गाजती ।
किंकिणी कलाप छोडती, मस्तक फोडती ।
वक्षस्थल ताडती, कंचुड फाडती ।
केश कलाप रोलावती, पृथ्वी तली लोटती ।
आसू करी कंचुक सीचती, डोडली दृष्टि मीचती ।

विरह–विलाप के वर्णन मे प्रेमी के विभिन्न विशेषणो का प्रयोग किया गया है—

हा कांत !
हा हृदय विश्रांत !
हा प्रियतम !
हा सर्वोत्तम !
हा सौभाग्य सुन्दर !
हे प्रेमपात्र !

युगल प्रेमियो के इस विरह भाव की निष्कपटता और प्रेम की अनन्यता पर शिव–पार्वती भी रीझे हैं । जलाल की मृत्यु के झूठे समाचार सुनकर जब बूबना के प्राण–पखेरु उड गये और बूबना को मरा हुआ जानकर जब जलाल का प्राणान्त हो गया, दोनों प्रेमी एक दूसरे के विरह मे मर मिटे तब बादशाह ने एक ही कब्र में दोनो को दफनाने की आज्ञा दी । प्रेम की प्रभावना से कब्र के

चारों ओर का वातावरण सुरभित हो उठा। भंवरे गुंजार करने लगे। यह देख पार्वती ने शंकर से दोनों प्रेमियों को जीवित करने की प्रार्थना की और भगवान शंकर ने छींटा देकर दोनो को जीवित कर दिया—पारवती री हठ देख कैलासनाथ आप उणरै छींटा दीन्हा सो दोनूं जी उठिया।

राजस्थानी गद्य मे चित्रित प्रेम का यह लौकिक स्वरूप शृंगार भावना के साथ-साथ त्याग, समर्पण और बलिदान की भावना को भी आत्मसात किये हुए है।

——

११ राजस्थानी, काव्य और संगीत में राम[1]

रामजी सबका सिरजणहारा ।
ऊंच नीच कोई भेद न जाणे, सब्यां उतारे पारा ।।
सन्त मिन्या सब ही विधि पावे, भजन भेव अविकारा ।
राम नाम निरपक्ष बतावे, नही कोई म्हारा थारा ।।
घट घट व्यापक राम कहीजे, उत्तम, मध्यम व्यवहारा ।
जो ध्यावे सो ही पद पावे, जा मे फेर न सारा ।।
तन मन जीत राम रस पीवे, जीवे ई आधारा ।
रामचरण ताहि और न भावे, सब रस लागे खारा ।।

रामस्नेही सम्प्रदाय शाहपुरा शाखा के प्रवर्तक रामचरण जी का यह पद राम के सार्वभौम व्यक्तित्व का प्रतीक है। राम सबका स्रष्टा है। उसके लिये सब बराबर हैं। कोई ऊंचा, नीचा नही। जो भी उसका भजन करता हैं, उसका इस ससार मे तरण होकर आत्म कल्याण होता है। यह राम सभी के घट-घट में रमा हुआ है। जिसने एक बार इस राम-रस का आस्वादन कर लिया, फिर ससार के सारे रस खारे लगते हैं।

राम भारतीय जन-जीवन मे आदर्श महापुरुष के रूप मे प्रतिष्ठित हैं और उनकी कथा हमारे जीवन और सस्कारो के साथ एकरस होकर घुलमिल गई है। इस महत् कथा ने सुदूर देशो तक अपना प्रकाश फैलाया

१—आकाशवाणी, जयपुर के सौजन्य से

है। राम-कथा के विविध-पात्रों का आदर्श ग्रहण कर हम अपने जीवन व्यवहारों को आदर्श और अनुकरणीय बनाते हैं। राम का आदर्श भारतीय लोक-संस्कृति का मूल मंत्र है। उन्होंने अन्याय और अत्याचार के प्रतीकराक्षस दल का दमन कर राम-राज्य की स्थापना की थी। राजस्थानी जन-जीवन में शौर्य की यह भावना अपने पूरे वेग के साथ संचरण करती रही है। अपने मान की रक्षा के लिये राजस्थानी नर-नारियों ने असाधारण त्याग और बलिदान किया है। यहां के कई राजवंश भी रघुवश से सम्बन्धित रहे हैं। अतः राजस्थानी कवियों और गायकों ने सहज रूप से राम को आदर्श मानकर, उस अमरवाणी का सृजन किया है, जिसे पाकर, शताब्दियों तक आंधी और तूफान से लड़कर भी वे अपनी संस्कृति की रक्षा कर सके।

प्रसिद्ध भक्त कवि पृथ्वीराज राठौड़ ने दशरथ पुत्र राम के महिमामय व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हुए कहा हैं—हे राम तुम तो रघुकुल तिलक हो, तुम्हारे प्रभाव से पत्थर भी जहाज बन गया। तुम्हारी खड्ग रावण रूपी घटा के बीच बिजली बन कर चमक उठी—

> आइयो महिमा आण, ताहरि रघुकुल रा तिलक।
> पोत थयो पाखाण, दीठँ दसरथ रावउत ।।
> करि अम्बहरि करागि, बर रावण भीतर घटा।
> खिवी तुम्हांरी खाग, दामिणी दसरथ रावउत ।।

ऐसे राम जैसे पुत्र को पाकर कौन धन्य नहीं होगा? प्रत्येक परिवार के लिये राम जैसा पुत्र वांछित रहा है। रामनवमी आते ही घर-घर में यह गीत गूंजने लगता है—

'सिरी रामचन्दर जी जनम लिया है, चैत राम नौमी'

राजा दशरथ के लिये इससे अधिक प्रसन्नता और क्या हो सकती है? राम-जन्म की खुशी में उन्होंने हाथी और महारानी कौशल्या ने मोतियों का दान किया। दशरथ ने दान में इतने हाथी दिये कि हस्तिशाला में केवल एक हाथी रह गया। माता कौशल्या ने इतने मोती लुटाये कि उनकी नथ में मंगल सूचक केवल एक ही मोती रह गया—

> जनमें राम बड़ेरी आनन्द में, बडी री खुसियों में।

राजा दसरथ हाथी बकसै, रहा एक हाथी राजाजी की हतसाला में।
माता कौसल्या मोती बकसै, रहा एक मोती रानीजी की नथ में।
कौसल्या जी की नथ में।
जनमे राम बड़े ही आनन्द में, बड़ी री खुशियों में।

राम मानव रूप में शक्ति, शील और सौन्दर्य के धनी हैं। उनके शक्ति प्रदर्शन के कई प्रसंग क्रम में दुष्टों का दमन कर, लोक-कल्याण करने की भावना भरते है। वे राक्षसों का दमन कर ऋषि मुनियों के यज्ञ की रक्षा करते हैं। राक्षसनी ताड़का को मारते हैं, सुबाहु को पछाड़ते हैं, कवन्ध राक्षस का वध करते हैं और रावण जैसे भौतिक बल के प्रतीक महान योद्धा से मुकाबला करते हैं। डिंगल के प्रसिद्ध कवि माधोदास ने 'रामरासो' में रावण-युद्ध का वर्णन करते हुए लिखा है-राम क्रोधित होकर बाणों की झड़ी लगा देते हैं। रक्त के नाले बहने लगते हैं, गिद्ध लाशों पर मंडराने लगते हैं। प्रलय सा मच जाता है, रावण के दस मुख दसों दिशाओं में गिर पड़ते हैं—

रोस चढ़े श्री राम झाड़ पड़ि आड बाण झड़।
पड़े पाल श्रोणी पयाल पड़े पल ग्रीव झड़ फड़॥
पड़ै रोलि गढ़ प्रोलि रीठ पड़ि भीठ प्रलै रूप।
पड़ै हार पोकार मार पड़ि मार दस मुप॥
श्री राम प्रतग्या तामसति वध्वि बाणि वगाड़ियौ।
दस दिसी दहकंधरा पडियां रामण पाडियौ।

अत्याचार, अधर्म और अन्याय का शासन रावण की मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाता है। राम नये आदर्श राज्य की स्थापना करते हैं। मंछ कवि ने 'रघुनाथ रूपक गीतांरो' मे राम-राज्य का वर्णन करते हुए कहा है-राम ने परम्परागत सभी विरोधों को शान्त कर दिया। उनके राज्य में मयूर सर्प के ऊपर नृत्य करता है, बिल्लियां चूहों के मस्तक पर घात नहीं करती। सर्वत्र शांति है। कोई अपराधी नजर नहीं आता, अतः दण्ड केवल ध्वजा के सहारे के रूप में रह गया है। कोई कुटिल नहीं दिखाई देता, कुटिलता केवल धनुष में रह गई है। किसी की शिकायत के लिये प्रजाजन पुकार नहीं करते, केवल एक पल के श्वास की ही पुकार है। शराब का वहां नाम नहीं, केवल मदिरा नामक एक विशेष छंद ही कवियों के पास रह गया है। चोरी केवल दूसरों के चित्त को हरण करने की है, और स्त्री पुरुष की जोड़ी ही देखी

जाती हैं अर्थात् सभी प्रेम मग्न हैं, समान वय वाले हैं—

नाचै मोर निहारे अहिफण ऊपरे,
मूषक सीस न धारै घात मंजारियां ।
माहोमाह न मारै वैर बुन्यादरां,
ऐसे तेज प्रकारै, राजै रघुपति ।।
दण्ड धजा के होल, दार धनुर्वंकाधार ।
पल छ साम पुराजै पुकार, छद मदरा सार ।।
चोरी पर चिन हरण, नार नर जोरी नार ।
ऐसा राज करे उदार, कवमल कंवार ।।

राम के इस शक्ति रूप के साथ–साथ उनका शील–रूप भी उभरा है। जब सीता का हरण हो जाता है तब राम सामान्य विरही की भाँति विलाप करते हैं। सीता के प्रति उनका अनन्य प्रेम उमड़ा पड़ता है। माधोदास ने 'रामरासौ' में राम का यह मानवीय रूप बड़ी भावुकता के साथ व्यक्त किया है। वे लक्ष्मण से कहते हैं–हे लक्ष्मण ! यह झोपड़ी सूनी है। सीता को कोई उठा ले गया है। प्रत्येक वृक्ष कल्प वृक्ष नहीं होता, प्रत्येक सरोवर मे हंस नहीं होता, जानकी की कुशल नहीं है।' राम जल से रहित मछली की भाँति तड़पते हुए, सीता के गुणों का स्मरण करते हुए वन–वन घूमते हैं–

लषमंण सूंना झूंपड़ा, सीता चोर पइठ ।
वर घण दीसी नाह विण, घण विण नाह म दिठ ।।
तरि तरि पेषि न कलपतरु सर सर हंस म सोझि ।
कुसल न लषमंण जानकी नडि नडि विहड न षोजि ।।
मंणि-मणि सीत सुमांम वंन-वंन पिण पिण विचरतां ।
व्यापै रामं विरांम, जल तोछै थल माछ जिम ।।

सीता–प्राप्ति के बाद जब उसके सम्बन्ध में लोकापवाद सुनकर राम सीता को निर्वासित करते हैं तब भी उनका शील–स्वभाव सामने आता है। वे राजा के कर्त्तव्य से बधे होने के कारण सीता को वन भेज देते हैं पर सीता की पवित्रता पर उन्हें अगाध विश्वास है। अपने इस कृत्य पर इसीलिये उन्हें आत्मग्लानि होती है। प्रसिद्ध जैन कवि समय सुन्दर ने 'सीताराम चउपई, में राम की इस ग्लानि का मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। राम अपने

आपको धिक्कारते हुए कहते हैं—मैं मूढ शिरोमणि हूं, मैंने लोक मे हंसी और घर में हानि करवाई है—

> धिग धिग मूढ़ सिरोमणि हुँ थयो दुख तणि महा खाणि ।
> दुरजण सो कि तपो दुरवचने, हुइ हांसी वर हाणि ॥

जब लक्ष्मण को शक्ति बाण लगने पर वे मूर्छित हो जाते हैं तब भी राम का भ्रातृ-प्रेम और अन्य साथियों के प्रति स्नेह-भाव उमड पड़ता है । 'रघुनाथ रूपक गीतां रो' मे मंछ कवि ने राम की इस दशा का वर्णन करते हुए कहा है कि राम ने लक्ष्मण को गोद मे उठा लिया और आंखों मे आंसू भरकर बोले—अरे भाई लक्ष्मण उठो । ऐसे सकट के समय जबकि सीता हर ली गई, युद्ध स्थापित होगया, तू साथ छोड़कर पृथ्वी पर निश्चित सो रहा है । तेरी भुजाओं के बल पर ही हमने जनक के प्रण की रक्षा कर सीता से विवाह किया और विभीषण को लंकेश कहा । अरे भाई ! विभीषण को दिया हुआ वचन व्यर्थ जा रहा है । बदर तो वन मे चले जायंगे, रीछ पर्वतो की गुफा में आश्रय ले लेंगे, देवगण स्वर्ग को प्रस्थान कर जायेंगे पर यह रावण का भाई कहा जायगा ? कितनी शालीनता, वचन निभाने की कितनी चिन्ता—

> 'नैण' झरे हरि बदन निहारे, अंक भरे निज अंगा ।
> बोले सिथल कह रे बंधव, उठो लषण अभंगा ॥
> सीता वरी जनक पण सांचव, सुपह किया अपसोसै ।
> छाता खलां उतोले छोला, भ्राता तूझ भरोसे ॥
> बनता हरण वर्णं बनवासो, लंका बणी लडाई ।
> सज इणावार छोड़ धर सूतो, भलो नचीतो भाई ॥
> वकै वयण लकेस विभीषण, म्हे तो भुजवल मिता ।
> भाणी क्रिया हुवै रे बीरा, चित अवकाणी चिंता ॥
> कपि कुल विपन रीछ गिर किन्नर सुर भुर सरग समावै ।
> रावण अनुज सहोदर राजिद, जिको कवण घर जावै ॥

इसी विरह-भाव और उदात्त प्रेम ने राम को सवेदनशील बनाया । उन्होने जटायु का उद्धार किया और शबरी नामक भीलनी के प्रेम में वशीभूत होकर बड़े उल्लास से उसके उच्छिष्ट बेर खाये, शूद्र समझकर उसकी अवमानना नही की ।

शक्ति और शील के साथ-साथ राम सौन्दर्य के भी धनी हैं। आढ़ा किशना ने 'रघुवर जस प्रकास' में उनके सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा है—राम के नेत्र कमल के समान, मुख चन्द्र के समान, गर्दन शंख के समान, दांत हीरे के समान, ओठ बिम्बाफल के समान सुन्दर है तो युद्ध में उनका हृदय चट्टान के समान दृढ़, पैर स्तम्भ के समान अडिग और व्यक्तित्व का तेज करोड़ों सूर्य के समान हैं—

नयण कंज सम निपट, सुनग आणण हिमकर सम।
जप सम गीवह जलज, तवत सम हीर डसण तिम॥
अधर व्यंब सम अरुण, समह भुज नाग री ज नग ।
सिल समांन उर समर, अथघ सम स्यत्र उदर अग॥
कह सम मयद अत छीण कट, जयत खंभ रिण सुपय जिम।
समवल् विधांन खटपद किसन, सुज रावत रवि कोट सम॥

ईडर के महाराजा प्रतापसिंह की रानी कवयित्री रत्नकुंवरी राम के सौन्दर्य पर बलि जाती है—

सियावर तेरी सूरत पै हूं वारि रे।
कीट मुकुट की लख्य मनोहर, म्हानू लागत है अति प्यारी रे॥
या छवि निरखत को मो नैना, जोवत बाट निहारी रे।
रतनकुंवरि कहे मो ढिग आर्क, झलक बताजा धनुधारी रे॥

अलवर के राजा विनयसिंह की रानी कवयित्री रूपदेवी ने 'राम-रास' में कृष्ण के रास वर्णन की तरह सरयू नदी के किनारे राम के रास का वर्णन किया है। राम के इस रसिक रूप पर शिव-शक्ति भी चकित हैं—

सब मिल रास रच्यो मझ रात।
तट सरजू की तीर निकट अति, सहस सखा लै साथ॥
घुंघरू झनक झनकार सबद सुनि, चकित भयो ब्रह्म मुसकात।
संकर चकित चित्त आतुर, निरखि सरूप रघुनाथ॥

राम के इस लीला रूप के साथ-साथ राम के निरजन-निराकार रूप का भी विस्तार से वर्णन मिलता है। राजस्थान के दादू पंथ, निरंजनी सम्प्रदाय, राम स्नेही सम्प्रदाय, चरणदासी सम्प्रदाय के विभिन्न संत कवियों ने राम-नाम

की महिमा का अपरम्पार वर्णन किया है। दादू का राम निर्गुण, निरंजन, निराकार, निष्कल तथा सभी भेद भावों से परे है। न वह हलका है न भारी है, न उसका मोल है न माप है, न उसकी कीमत है न लेखा है, न उसका वार तथा पार है। उसके यथार्थ स्वरूप को कोई नहीं जान सकता—

ऐसा राम हमारे आवै, वार पार कोई अन्त न पावे।
हलका भारी कह्या न जाय, मोल माप नहिं रह्या समाय॥
कीमत लेखा नहीं प्रमान, सब पचि हारे साधु सुजान।
आगो पाछो परिमित नांहीं, केते पारिष आवहिं गांही॥
आदि अन्त मधि कहै न कोई, दादू देखे अचिरज होई।

इन सन्तों ने राम से भी राम के नाम को अधिक महत्त्व दिया है। नामोपासना से ही कर्म बन्धनों से मुक्ति मिल सकती है। रैंण के दरियावजी का कहना है कि आत्मा पर जो मेल लगा हुआ है, उसे प्रेम के साबुन और राम-नाम के पानी से ही दूर किया जा सकता है। राम का ध्यान भेदाभेद व भ्रम को दूर कर जरामरण से मुक्त करता है—

नाम विन भाव करम नहिं छूटै।
साध संग और राम भजन विन, काल निरन्तर लूटै॥
मल सेती जो मल को धोवै, सो मल कैसे छूटै।
प्रेम का साबुन नाम का पानी, दोय मिल तांता टूटै॥
भेद-अभेद भरम का भांडा, चौड़े पड़ पड़ फूटै।
गुरु मुख सब्द गहै उर अन्तर, सकल भरम से छूटै॥
राम का ध्यान तू धर रे प्रानी, अमरत का मेंह वूटै।
जन दरियाव अरप दै आपा, जरा मरण तव टूटै॥

राम का यह नाम सामाजिक एवं धार्मिक एकता में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। हिन्दू और मुसलमान दोनों ने इसे बड़े प्रेम से गाया। कवि रज्जव कहते हैं—राम रस पीते ही सारे पाप कट जाते हैं। नाम के प्रभाव से कलियुग का सारा विष उतर जाता है। सभी सुखी हो जाते हैं, कोई दुखी नहीं रहता।

राम और कृष्ण में इन कवियों ने कोई अन्तर नहीं किया। इनके लिए दोनों समान रूप से वन्दनीय हैं। ये ही समुद्र का मंथन करने वाले, जगत को

पालने वाले, बाण चलाने में अचल, सन्तों के साथ रहने वाले, वर देने वाले, नर रूप मे राम हैं--

पयवररा मयरण, जगतरा पालग,
सररा अचल संतरा साथ ।
वररा दियरण जगतरा वच्छल,
नर रा रूप नमो रघुनाथ ।
(रघुनाथ रूपक गीतांरो, पृ० १४८)

ये गम्भीर गुण वाले, गरुड़ पर चलने वाले, अनेक नाम वाले, मुर दैत्य को मारने वाले, सुग्रीव के मित्र, संसार के कारणभूत और सत्य के समुद्र हैं--

गुण रा गहर, गुरडरा गामी,
घण नामां, मुर रा घावेस ।
कपरा मीत, जगतरा कारण,
सतरा समद विनी अवधेस ॥
(रघुनाथ रूपक गीतां रो, पृ० १४८)

ये राम ब्रह्मा के रक्षक, गरीबों के बन्धु, महादेव के ध्यान, शास्त्रों के सार, यश के समुद्र, मन के मर्मज्ञ, सीता के पति, दुष्टों के नाशक, हाथी के उद्धारक, प्रण-पालक और श्रेष्ठ बुद्धि के स्वामी हैं--

विधरा रछक, दीन रा बंधव,
सिवरा ध्यान निगमरा सार ।
जसरा जलघ, अन्तररा जामी,
भामी तो सियरा भरतार ।
खल रा दलण, दुखरा मोखण,
पत रा रखण, सुमतरा पेस ।
कलमें दरस आप रा करतां,
प्रगट पाप रा गया प्रवेस ॥
(रघुनाथ रूपक गीतां रो, पृ० १४८)

राम के इसी सर्व व्यापक, सर्वग्राही विराट व्यक्तित्व को देखकर

पार्वती को सन्देह होता है और वह हाथ जोड़कर महादेवजी से पूछती है—हे स्वामी ! सम्पूर्ण पृथ्वी तो आपका ध्यान करती है फिर आप हमेशा किसके ध्यान मे रहते हैं ?

महादेवजी हंसकर उत्तर देते है—जो अगम्य परब्रह्म है, संसार में रमण करके भी जो संसार से परे है, मैं उसी राम का ध्यान करता हूं—

रूप निज अखिल संसार माहे रमैं,
वले ससार सूं रहै बारै ।
(र० गीतां रो, पृ० ५६)

रकार और मकार ये दो प्रसिद्ध वर्ण जो बाकी रहे, उनको मैंने बड़े प्रेम से अंगीकार किया है, जिसके प्रभाव से निधि-सिद्धि आदि मेरे अधिकार में है, और राक्षस, नाग, नर तथा देवतागण मुझे मस्तक झुकाते हैं—

ररो ममु जुगम अै संक बाकी रह्या,
प्रसिध तिणसूं करै लिया प्यारा ।
जेण परभाव निध सिधादिक मों जुयैं,
सुर असुर नाग नर नमैं सारा ॥
(र० गीतां रो, पृ० ५७)

जैन कवियों ने राम को आध्यात्मिक रूपक के अर्थ में भी ग्रहण किया है। कवि श्री तिलोक ऋषि के राम सत् प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं और रावण असत् प्रवृत्तियों का । रावण महामोह है जिसके दश मिथ्यात्व रूपी मुख और बीस आश्रव रूपी भुजाएं हैं । वह कुमति रूपी अपनी बहिन शूर्पणखा की बातों में आकर सुमति रूपी सीता का हरण कर लेता है । इसका प्रतिकार करने के लिए धर्म रूपी राम अपने भ्राता सत्य रूपी लक्ष्मण की सहायता से दान, शील, तप और भावना रूपी चतुरंगिणी सेना सजाकर धैर्य रूपी हथियारों से महामोह रूपी रावण का वध करते हैं और सुमति रूपी सीता को प्राप्त कर मुक्ति रूपी अयोध्या नगरी में प्रवेश करते हैं—

सुमति सीता कुं लेकर आये, मुक्ति अयोध्या राज करे ।
जन्म मरण भय दुःख मिटे जिहां, राम राजा सो जग में खरे ॥

राम का यह चरित गाने योग्य है। इससे वैयक्तिक जीवन मे स्फूर्ति और आध्यात्मिक जीवन में परम सन्तोप मिलता है। पाप का फंदा कटता है और जीवन पवित्र बनता है—

रटो रामचंदं, कटो पाप कंदं।
करो सुद्ध देहं, वड़ो लाभ एहं॥

(रघुवर जस प्रकास, पृ० ११७)

१२ | राजस्थानी काव्य और संगीत में पहाड़[1]

राजस्थान सन्तों और शूरवीरों की भूमि है। यहाँ की भौगोलिक स्थिति ने त्याग, बलिदान, साहस, और वीरता का पाठ पढ़ाया है। एक ओर रेतीले टीलों ने निस्पृहता की सीख दी तो दूसरी ओर अरावली और अर्बुद जैसे पर्वतों ने हंसते-हसते कठिन जीवन जीने की प्रेरणा दी। यहाँ के पहाड़ आजादी के रक्षक, अध्यात्म-साधना के प्रेरक और सैलानियों के लिये पर्यटन-स्थल रहे हैं।

मुगलों से दृढ़तापूर्वक मुकाबला करने में यहां के पहाड़ बड़े सहायक सिद्ध हुए। स्वाभिमानी एवं कुल-गौरव के रक्षक राणा-प्रताप ने पहाड़ों की गुफाओं में वास किया, जंगलों की खाक छानी पर किसी के आगे सिर नही झुकाया। अनेक राजाओं से घिरा हुआ नर केशरी राणा प्रताप गिरि-शिखरों पर ही आनन्द मनाता रहा—

घर बांकी दिन पाधरा, मरद न मूकै माण।
घणा नरिन्दा घेरियो, रहै गिरदां राण॥

पर्वतों, नगरों और सारे देश को खोकर प्रताप विकट पहाड़ो मे पैदल भटकते फिरे। पर्वत ही उनके राजमहल बन गये। उनके इन्हीं कृत्यों पर आज देश को गर्व है और उनके वंशज सिसोदिया गौरवान्वित हैं—

१—आकाशवाणी, जयपुर के सौजन्य से

गिरपुर देस गमाड़, भमिया पग पग भाखरां ।
मह अंजसै मेवाड़, सह अंजसै सीसोदिया ।।

मातृभूमि और महाराणा प्रताप के सम्मान की रक्षा करने वाली ये गिरि-मालाएं धन्य हैं। अकबर जैसा बादशाह भी इनको देख-देख कर सिर धुनता रहा—

उरा धरिन्दां आंपणां, सीस धुणिन्दां साह ।
रूप रखिन्दा राण रा, वाह गिरिन्दां वाह ।।

इन पहाड़ों पर बड़े-बड़े दुर्ग बनाये गये। चितौड़गढ़, रणथंभौर, कुंभलगढ़ आदि दुर्ग अपनी आन बान के लिये प्रसिद्ध हैं। इनका इतिहास वीरों को अपने धर्म और मातृभूमि की रक्षा के लिये मर मिटने की प्रेरणा देता है।

जिन पहाड़ों ने स्वतंत्रता के रक्षक वीरों की सहायता की वे पहाड़ कवियों की दृष्टि मे वीर भावना के प्रतीक बन गये। वीर नायक मे पहाड़ जैसी दृढ़ता, आकार की विशालता और भयंकरता पाकर कवियों को लगा कि वीर पुरुष हिमालय के समान है। बारहठ नरहरदास का कहना है कि धवल-गिरि तुल्य धूहड़ राठौड़ जसवंतसिंह ढोल आदि रणवाद्यों के बजने पर जब गर्जने लगा, तब विरोधी यवन पीड़ित हो गये। उनकी रक्षा के लिये वहां ऐसा कोई भी नहीं दिखाई दिया, जो कंधे से कंधा मिलाता—

धड़हड़ीयो सुणे वाजते ढोले,
हुव वागी कलपंत हुवा
धूहड़ उलटते धवलागिर,
खोद परखे कुण घरे खवा ।।

हिमाद्रि तुल्य महाराज जसवंतसिंह जब बर्फ की तरह शस्त्र-वर्षा करने लगा, तब शाह के पक्ष की बंगाली सेना कट-कट कर गिरने लगी। उस समय वह वीर चारों ओर लगातार वार करने लगा।

आईसां तणा वरफ कपड़िया,
केवड़िया गुड़िया बंगाल ।

जसो पहाड़ हेमगिर जाणे
तरफ तरफ तूटे रिणताल ।।

प्राचीन साहित्य में सुमेरू पर्वत का बड़ा वर्णन आता है। यह सब पर्वतों का राजा माना गया है। सामान्य वीर यदि साधारण पर्वत की तरह है तो विशिष्ट वीर सुमेरू पर्वत के समान है। वीर सेनापति सुमेर गिरि से उपमित किया गया है। चांदा के वंशज राठौड़ वीर वल्लू की प्रशंसा में एक राजस्थानी कवि का कहना है कि जब प्रलयकाल के समुद्र की तरह डुबोती हुई बादशाह की सेना बढ़ी तब पर्वतों के सदृश अन्य वीर तो लुप्त हो गये, परन्तु राठौड वीर वल्लू, युद्धार्थ शस्त्र ग्रहण कर सुमेरू पर्वत की तरह अडिग रहा—

प्रलैकाल जल बोल पतसाह दल पसरिया
सार भुज सजे जुध भार सारू ।
इनि गिरां नरां अविलोप होवतां अकल
मेर डिगियो नही राव मारु ।।

वीर वल्लू क्रोध करने में रूद्र अथवा दानवपति के समान था। उसका तेज सूर्य की समता करता था। अन्य पर्वतकाय नरेश तो उस सैन्य-समुद्र में सहज ही डूब गये, परन्तु वह सुमेरू पर्वत के समान वीर इधर से उधर तिल मात्र भी नहीं डिगा—

कोप भूतेस असुरेस होई एक किन
अभग पण, ऊजमण निसौ आदीत ।
परवतां पहा इनि बूडता पाथरै
चले नहैं मेरगिर मेर उत चीत ।।

कवि गिरवर आशिया ने राजा अमरसिंह द्वितीय के पुत्र राणा संग्रामसिंह द्वितीय के युद्ध-कौशल का वर्णन करते हुए कहा है कि दुश्मनों से मुकाबला करते समय उसके पैर सुमेरू पर्वत के समान अडिग हो जाते हैं और हाथ पक्षिराज गरुड़ के समान सवेग चलने लगते हैं—

अजर घोम गोला गजर सार केसर उडै
कमड़े समर तूटे खलां आव ।

तठे सगरांम अमरेस तरण ताहरा
पगे हुवे मेर–गिर हात पंखराव ।।

युद्ध के दृश्य की तुलना सामान्यतः समुद्र–मन्थन से की जाती रही है। जब देवताओं ने समुद्र–मन्थन किया तब मंद्राचल पर्वत को रई बनाया था। वीररसावतार कवि सूर्यमल्ल मिश्रण की दृष्टि इस ओर गई। अपनी प्रसिद्ध कृति 'वीर सतसई' में वीर योद्धा को मंद्राचल पर्वत की उपमा दी है। वीर पत्नी अपने वीर पति के युद्ध कौशल का परिचय देती हुई अपनी सखी से कहती है कि हे सखि, देख सेनाओं में मेरा पति अकेला ही कैसी होली खेल रहा है। ऐसा मालूम होता है वह महासागर में मंद्राचल के समान अनेक अनड़ शत्रुओं को विलोडित कर रहा है—

देख सखि होली रमैं फौजा में धव एक
सागर मंदर सारखौ, डोहै अनड़ अनेक।

वीर पुरुष के प्रतीक के साथ–साथ पहाड़ कुल–मर्यादा, पारिवारिक प्रतिष्ठा और धर्म रक्षा के प्रतीक बनकर भी आये हैं। कुल गौरव के रक्षक हैं वीर पुत्र और वीर पुत्र वधू। सूर्यमल्ल मिश्रण की दृष्टि इस आदर्श परिवार पर टिकी। पुत्र तो युद्ध में लड़ता हुआ तलवारों के प्रहार से टुकड़े–टुकड़े होगया और पुत्र वधू सती होने जा रही है। कुल की लाज रखने वाले इन दोनों पर्वतों को विलीन होते देखकर सास के हृदय में हर्ष नहीं समाता—

- सुत धारा रज-रज थियौ, बहू वलेवा जाय।
लखियां डूंगर लाज रा, सासू उर न समाय।।

वीर–भावना को उद्बुद्ध करने वाले ये पहाड़ प्रेम–भावना के विकास में भी सहायक बने हैं। पहाड़ जहां कठोरता और दृढता के प्रतीक हैं वह कोमलता, रमणीयता और प्रसन्नता के प्रतीक भी। पहाड़ों की हरियाली मन को लुभाती है। पहाड़ों की शांति, पवित्रता और शीतलता प्रेम–भाव को पुष्ट करती है। पहाड़ों में अपार खनिज सम्पत्ति निहित है। इन सब विशेषताओं के कारण पहाड़ दाम्पत्य–जीवन के सुख–दुख में साथी बने हैं। भाई बहिन के प्रेम के विकास में सहयोगी बने हैं।

सावन लगते ही प्रकृति हरी भरी हो जाती है। प्रियतमा अपने प्रेमी

मे कहती है, "हे प्रियतम, ऊँचे शिखर पर मोर हर्षित होकर नाच रहे हैं। बादल की काकली कानों में अमृत उडेल रही है। झरने बड़े वेग से बह रहे हैं। ऐसे हरे भरे पहाड़ पर मुझे सैर करने के लिये ले चलो--

> मोर सिखर ऊंचा मिलै, नाचै हुआ निहाल।
> पिक ठहकै झरणा पड़ै, हरिये डूंगर हाल।।

संयोगावस्था की यह मधुर भावना वियोगावस्था में अपना रूप बदल लेती है। पति परदेश गया हुआ है। सामने पर्वत पर बिजलियां चमक रही हैं। काली घटाओं के बीच कौंधती हुई बिजलियों को देखकर पत्नी की आंखों के सामने संयोग के दिनों की मधुर स्मृतियों के चित्र बनने लगते हैं। बिरह की पीड़ा उसे व्यथित करती है पर वह मिलन की आशा में अपने दुख को भूलकर प्रियतम के आने की प्रतीक्षा करती है। उसके विरह-विदग्ध हृदय से आशा भरे उद्गार फूट पड़ते हैं--प्रियतम! मैं इस डूंगर पर ही अपना घर बना लूं। बादल मेरे इस घर के किवाड़ होंगे। बिजली के झरोखे से मैं तुम्हारे आने की राह देखूंगी।

भाई-बहिन के प्रेम की व्यंजना भी पहाड़ों को माध्यम बनाकर की गई है। बहिन का भाई के प्रति अगाध स्नेह है। वह अपनी माँ से कहती है 'माँ! मैं गांव के सबसे ऊंचे वाले हरे भरे पर्वत पर जाऊंगी। पके हुए मीठे काचर बीन कर लाऊँगी, उन्हें छीलकर छमकाऊँगी, अपने भाई को अपने हाथ से खिलाऊंगी। मां! मैं अकेली नहीं जाऊंगी। अपनी सहेलियों के साथ जाऊँगी। भाई ने मुझे सुरंगी चूंदड़ी ओढ़ाई है। चूंदड़ी के पल्ले पर राइयाँ बंधी हुई हैं। जितनी राइयां हैं उतने ही मेरे भाई हैं। सब भाई मुझे प्यार करते हैं—

> ऊंचले मगरै जाऊं ऐ माय
> उलिया काचर लाऊं ऐ माय
> संडै साथै जाऊँ ऐ माय
> अकेलड़ी नीं जाऊं ऐ माय
> खिरिया काचर लाऊँ ऐ माय
> छोलनै छमकाऊँ ऐ माय
> बीरा नै जीमाऊं ऐ माय

वीरो म्हारो भाई ए माय
म्हैं वीरा री बाई ए माय
बीरो म्हनैं चूंदड़ी ओढ़ाई ए माय
चूंदड़ी रे पल्लैं रायां ए माय
रायां जितरा भाई अे माय ।
कोड करै म्हारा भाई ए माय
ऊंचले मगरैं जाऊं अे माय
ढलिया काचर लाऊं अे माय
वीरा ने जीमाऊं अे माय

भाई भी अपनी बहिन के प्रति अत्यन्त स्नेहशील है। वह अपनी बहिन को उपहारों से लाद देगा। भाई-बहिन के इस पवित्र और गहरे स्नेह की व्यंजना पर्वत की बड़बोर तथा सावन की वर्षा व कार्तिक की सुहावनी फुहार को माध्यम बनाकर की गई है—'हे ऊंचे पर्वत की बड़बोर ! तुम्हे कौन सींचेगा ?' वह सहज रूप से उत्तर देती है—'सावन का सुरंगा महीना मुझे सींचेगा। कार्तिक की सुहानी झड़ी निरन्तर मुझ पर बरसेगी।' फिर प्रश्न उठता है—'हे दूर देशों की लाड़ली बहन ! तुम्हें कौन लेने आयेगा।' बहिन उसी विश्वास के साथ उत्तर देती हैं—'आयेगा, आयेगा मेरा सहोदर भाई ! वह रथ जोत कर आवेगा। साथ में सोजत की मेंहदी, जयपुर की चूंदडी, बूंदी की फूदी, आगरे की घवरी और बीकानेर की अंगूठी लेकर आयेगा'—

ऊंचले मगरैं की बड़बोर
थनैं कुण सीचैंलो ।
सींचैं सांवणिया रौ मास
कातो झड़ झेलैंलो ।
दूरां देसां रा लाडल बाई
आंणै कुण आवैंलो
आसी म्हारो जांमण जायो वीर !
बेलां जुतावैंलो
लावे सोजत री मैंदी
नखल्या रचावैंलो
लावैं जैपर री चूंदड़

बाई नै ओढ़ावैलो
लावै बूंदी री फूंदी
चुड़लै बंधावैलो।
लानै आगरै री घावरो
बाई ने पैरावैलो।
लावै बीकाणै री बीटियां
बाई ने पैरावैलो
ऊंचले मगरै री बडबोर
थनै कूण सींचेलो।
सींचै सांवणिया रो मास
काती भड़ भालैलो।

नायिका के सौन्दर्य-वर्णन में जहां कवि प्रकृति के विशाल प्रांगण से विविध प्रकार के उपादान ढूंढता है वहां पहाड़ भी उसकी दृष्टि से वंचित नहीं रहते। राजस्थानी के प्रसिद्ध कवि पृथ्वीराज राठौड़ अपनी लोकप्रिय कृति 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' में नायिका रुक्मणी के शरीर को मलयाचल पर्वत से उपमित करते हुए कहते हैं कि उसका शरीर मलयाचल पर्वत है। मलय-तरु की मंजरी के समान ही उसके मन रूपी मलयतरु में उमंग तथा नवीन इच्छाओं रूपी मंजरी उत्पन्न हो रही हैं। कामदेव के नवीन उन्नत अंकुर स्वरूप कुच ही मलयवृक्ष की कलियां हैं। उसकी तीव्र श्वास को ही दक्षिण दिशा से आती हुई शीतल, मन्द, सुगन्ध गुणों वाली मलयानिल समझिये—

मलयाचल सुतनु मलै मन मौरे,
कली कि काम अंकुर कुच।
तणी दखिण दिसि दखिण त्रिगुण मैं,
ऊरध सास समीर उंच॥

कवि पृथ्वीराज की दृष्टि में कभी वर्षा से सिक्त काले-काले पर्वतों की श्रेणी पृथ्वी रूपी नायिका के नेत्रों की कज्जल रेखा है—

'काजल गिरि धार रेख काजल करि'

तो कभी पर्वतों की शिलाएं वसन्त ऋतु रूपी राजा के सिंहासन हैं—

'सिला सिंघासण घर सघर'

और कभी खजूरों से युक्त पर्वत ऐसे लगते हैं मानों वसन्त रूपी राजा की सेना मे सजे हुए हाथियों पर ढालें लटक रही हों—

ढालि खजूरि पूठि ढलकावै,
गिरिवर सिरणगारिया गय ।

पहाड़ सैलानियों के लिये पर्यटन—स्थल हैं तो साधकों और महात्माओं के लिये सिद्ध क्षेत्र भी । राजस्थान का अर्बुद पर्वत जिसे आबू कहा जाता है यात्रियों का आकर्षक—स्थल है । केतकी जैसे पुष्पों और विविध प्रकार के झरनो से अलकृत आबू पहाड़ की शोभा के आगे, शोभा के अन्य उपकरण व्यर्थ हैं—

टूकैं-टूकैं केतकी, झिरणैं-झिरणैं जाय ।
अरबुद की छवि देखता और न सावै दाय ।।

जो व्यक्ति आबू पर्वत की विशेषताओं से परिचित है वह चतुर है और जो इसके बारे में कुछ भी नही जानता वह मूढ़ है । आबू सचमुच धरती और आकाश के बीच तीसरा लोक है—

जाणै जिके सुजाण नर, नही जाणै सो बोक ।
जमी और असमान बिच, आबू तीजो लोक ।।

भांति-भांति की वनस्पतियों और बहते हुए झरनों से युक्त आबू ऐसा लगता है मानो कोई मदमस्त हाथी हो—

वनस्पती पाखर बणी, वणिया टूक विहद्द
पटा विछूटै नीझरण, आयो मद अरबुद्द

आकाश में उमड़ती हुई बादलों की घटाओं और पर्वत शिखरों पर चमकती हुई बिजलियों को देखकर ऐसा लगता है मानो आबू बादलों के बीच शोभायमान हो रहा हो—

गह घूमी, लूमी घटा बीजां सहिरां बद्द ।
बादल मांय विराजियो, आजूणों अरबुद्द ।।

वर्षा ऋतु मे पहाड़ों का सौन्दर्य बढ़ जाता है । गरमी की तपन से जो

पहाड़ झुलसकर काटने दौड़ते हैं वे ही पहाड़ पावस ऋतु में अपनी बाहें फैला कर मनुहार भरा आमन्त्रण देते है। जोगीदान कविया को स्थान-स्थान पर जल से भरे हुए पहाड़ ऐसे लगते है मानो स्फटिक पत्थर हों या ज्योतिवत हीरे हों--

> माखरिया हरिया हुआ, पोखर भरिया पास।
> तरवरिया प्रफुलित भया, नीर निखरिया खास।।
> अ जल जल आवंत गिरवरां गेल पै,
> पाथर फटिक प्रमाण जोति नग जाणजे।।
> हीर रास उणहार पहाड़ पिछाण जे।।

पहाड़ ऋषि-मुनियों के लिये भावना-स्थल रहे हैं। उनकी कन्दराओं में बैठकर आत्मचिन्तन करने वाले महात्माओं की गरिमा से गौरवान्वित ये पहाड़ अध्यात्म-साधना की प्रेरणा देते हैं। राजस्थान के जैन कवियों की दृष्टि पहाड़ों के इस पक्ष की ओर विशेष रूप से गई है। जैन तीर्थंकरों की साधना-भूमि और निर्वाण-स्थली होने के कारण पहाड़ महत्त्वपूर्ण तीर्थ स्थान तथा सिद्ध क्षेत्र बन गये हैं। शत्रुंजय, सम्मेद शिखर, गिरनार आदि सिद्ध क्षेत्र, विशेष प्रसिद्ध है। भौगोलिक दृष्टि से यद्यपि ये सिद्ध क्षेत्र राजस्थान प्रदेश की सीमा मे नहीं आते पर राजस्थान के जैन कवियो ने श्रद्धापूर्वक इन तीर्थ स्थानों का स्तवन किया है।

शत्रुंजय जैन तीर्थो में आदि तीर्थ माना जाता है। विमलाचल, सिद्धाचल, पुण्डरीक आदि इसी तीर्थ के अन्य नाम हैं। जैन मान्यता के अनुसार यहां पांच पाण्डव तथा अन्य अनेक ऋषि मुनियो ने मुक्ति-लाभ प्राप्त किया। राजा कुमारपाल के राज्य मे लाखो रुपये लगाकर यहा के मन्दिरो का जीर्णोद्धार किया गया था। यहां पर छोटे-बड़े हजारों मन्दिर बने हुए हैं। लाखो व्यक्ति यहा की यात्रा कर अपने जीवन का धन्य मानते हैं। जैन कवि धर्म वर्द्धन तो इस तीर्थ स्थल के साथ अपने आपको तदाकार कर देना चाहते हैं। उनकी भगवान के चरणो मे प्रार्थना है कि वे इस विमलगिरि के मोर क्यो न बन जाय। वे अपनी विविध कलाओं के प्रदर्शन और केकीरव से अपने कठिन कर्मो को नष्ट करने की कामना करते है—

राग-मल्हार

> विमलगिरि क्यूं न भये हम मोर!

सिद्धवट रायण रुंख की शाखा, झूलत करत झकोर ।। विमल ।।
आवत संघ रचावत अरचा, गावत धुनि घन घोर ।
हम भी छत्र कला करि हरखत, कटते कर्म कठोर ।। विमल ।।
मूरति देख सदा उलहसे मन, जैसे चंद चकोर ।
श्री रिपहेसा नुं श्री धर्म नी, करत अरज कर जोर ।। विमल ।।

सम्मेद शिखर दूसरा महत्त्वपूर्ण तीर्थ स्थल है। इसे समाधिगिरि, समिदगिरि और मल्ल पर्वत भी कहते हैं। तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की यही निर्वाण-स्थली है। चौबीस तीर्थंकरों में से बीस तीर्थंकरों का निर्वाण केवल इसी स्थल पर हुआ है। कवि श्री ज्ञानसार ने इसकी महिमा का वर्णन करते हुए इसे कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि आदि बताया है--

समेत शिखर सोहामणो, जिहां पुहता जिनबीस ।
मुगति रमणी सुख वालहा हो, प्रभुजी सिद्ध पुहंता ईस ।।१।।
अजित आदि अन्तिम प्रभु, पारस पारस सार ।
अश्वसेन कुल दीपता हो प्रभु, माता वामा सुखसार ।।२।।
आज भलो दिन उगीयो, भेट्या श्री जगनाथ ।
कारज सीधा मांहरा हो प्रभु, मेट्यो भव दुख साथ ।।३।।
मुझ आंगणि सुरतरु फल्यो, सुरघटि मिलियो आय ।
कामधेनु घर ऊपनी हो प्रभु, तुम चरणे सुपसाय ।।४।।

गिरनार पर्वत बाइसवें तीर्थंकर भगवान अरिष्टनेमि का निर्वाण स्थल है। इस पर्वत पर गुजरात के प्रसिद्ध जैन मंत्री तेजपाल के बनवाये हुए अनेक मंदिर हैं। राजमती ने यहीं तप किया था, उसकी यहाँ गुफा बनी हुई है। जिनराज सूरि ने सांसारिक दुखों से मुक्त होने के लिये, एक बहिन के मुख से इस सिद्ध क्षेत्र की यात्रा करने का भाव प्रकट किया है--

मोरी बहिनी हे बहिनी म्हारी ।
मो मन अधिक उछाह है, हाँ चालउ तीरथ भेटिवा ।।म्हारी ।।
संवेगी गुरु साथ है, हाँ तेड़ी जर दुख मेटिवा ।।१।। म्हो०।।
चढ़ि सुं गढ गिरनार है, हां साथइ सहियर झूलरइ ।।म्हारी।।
सजि वसन श्रृंगार है, हां गलि आवउ मकचूल रइ ।।२।। म्हारी०।।

राजल रउ भरतार है, हाँ जादव नंदन निरखि सुं ॥म्हारी०॥
पूजा सतर प्रकार है, हाँ करिसुं हियडइ हरखिसुं ॥३॥

चंडीदान सांदू ने राजस्थान के पहाड़ों को लोक सेवक के रूप में देखा है। वृक्ष-लताओं से आच्छादित ये पहाड थके हुए मनुष्यों के लिये विश्राम स्थल हैं, घायलों के लिये औषधालय स्वरूप है—

बिरछां वेलड़िया जुत घाटा वांकोडा ।
लेता वीसामों नर है थर थाकोड़ा ॥
घावलिया श्रंगा री करवाता कारी ।
श्राछा श्रोखधघर पर जाऊं बलिहारी ॥

धरती पर ऊँचे उठे हुए ये पहाड हमारी सस्कृति के गौरव हैं। इनको देखने मात्र से प्राचीन गौरवपूर्ण बातो की स्मृति हो आती है। रग-रग में वीरता की लहरें उफनने लगती है। मन में इनकी पूजा करने की भावना प्रबल हो उठती है। कुल धर्म और मातृभूमि के रक्षक ये पहाड धन्य हैं—

जोवता प्राचीणी बाता समरावै ।
रग-रग मे वीरत रत लहरा उफणावै ॥
आवै ऊमगां मन पूजन करवारी ।
रजवट का रक्खां पर जाऊं बलिहारी ॥

—

१३ राजस्थानी लौकिक प्रेमाख्यान

राजस्थान जहाँ वीरभूमि है वहाँ प्रेमियों की क्रीड़ास्थली भी। यहाँ के वीर प्राणों को हथेली में लेकर मातृभूमि की रक्षा के लिए समरांगण की ओर प्रयाण करने में गौरव का अनुभव करते हैं तो यहां के युगल प्रेमी दाम्पत्य धर्म की पवित्रता और सतीत्व की रक्षा के लिए मर मिटते है। वीरता और प्रेम हाथ मे हाथ मिलाकर चले हैं राजस्थान की इस रत्नगर्भा माटी में। गांव-गांव में बने हुए स्तूप, चबूतरे, देवरे और विभिन्न स्मारक इन्ही वीरों और प्रेमियों की अमरगाथा मूक कंठ से गा रहे हैं। काल के अखण्ड प्रवाह को चीरती हुई ये प्रेमगाथाएँ मानव-हृदय के अज्ञात कोनों को मधुर रस से सिक्त कर देती है। उसे लगता है कि वह देश, काल और जाति के क्षुद्र बन्धनों को लांघकर विश्व-मानव के विराट मन्दिर में पहुँच गया है, जहां रस ही रस है, आनन्द ही आनन्द है। सांसारिक प्रपंच पीछे छूट गये हैं। उसका मन कमल की भांति कीचड़ से ऊपर आ गया है। यही इन लौकिक प्रेमाख्यानों की विशेषता है। इनकी जड़ें लौकिक जीवन में बहुत गहरी पैठी हुई हैं पर इनसे जो रस मिलता है वह हममें वासना की भावना नहीं जगाता। वह हमें आत्म-समर्पण, बलिदान और त्याग का पाठ पढ़ाता है।

राजस्थान के ये लोक प्रेमाख्यान दो रूपों में मिलते हैं। प्रबन्ध और मुक्तक। प्रबंधात्मक प्रेमाख्यानों में ढोला मारू रा दूहा, माधवानल काम कन्दला, सदयवत्स सावलिंगा आदि प्रमुख हैं। इनमें कई प्रसंग और संवेदनाएँ मूल संवेदना के साथ अनुस्यूत रहती हैं। मुक्तक प्रेमाख्यान लोकगीतों के रूप

मे है। जसमादे ओडण, जेठवा-ऊजली, सयणी बीजाणंद, बीझां सोरठ, मूमल-महेन्दर, जलाल-बूबना, आमल-खींवजी, नागजी-नागमती, काछबिया-राणा, आदि ऐसे ही प्रेमाख्यान हैं। प्रस्तुत निबन्ध को हमने अपने लोक-गीतात्मक दुखान्त प्रेमाख्यानों तक ही सीमित रखा है।

प्रमुख लोकगीतात्मक प्रेमाख्यान

(१) जसमादे ओडण : गुजरात के राव खंगार ने एक बडा तालाब खुदवाने के विचार से विभिन्न स्थानों से ओड बुलवाये। मालवा के एक दल मे जसमादे नामक एक ओडणी थी। वह अत्यन्त रूपवान थी। राव खंगार उस पर मुग्ध हो गया। उसने उसे अपना वशवर्ती बनाने के लिए कई प्रलो-भन दिये पर जसमादे अपने धर्म से न डिगी। अन्ततः उसने बलात् उसे अपने अधीन करने का विचार किया। पर राव खगार की कुत्सित भावना का पता लगने से ओडो का यह दल रातों रात कूच कर गया। रावने जसमादे को पकड़ बांध लाने के लिए सेना भेजी। जसमादे पातिव्रत धर्म की रक्षा के लिए सती हो गई।

(२) जेठवा-ऊजली : पोरबन्दर का राजकुमार मेहा जेठवा अचेत अवस्था में अमरा चारण की झोंपडी पर आया। एक परदेशी घुड़ सवार की प्राण-रक्षा के लिए अमरा चारण ने अपनी बेटी ऊजली से कहा कि वह अपने शरीर की गर्मी देकर इस घुड़सवार को सचेत करे। ऊजली ने मन से, इसे अपना पति मानकर, गर्मी पहुचाई। जेठवा विधिवत् बारात सजाकर विवाह के लिए आने का वचन देकर चला गया। सामाजिक बन्धन के कारण (राजपूत के लिए चारण की बेटी बहिन के समान मानी जाती है) वह अपना वचन न निभा सका। ऊजली ने जेठवा को सम्बोधित कर कहे गये सोरठो में अपना प्रेम-विदग्ध हृदय उडेल कर रख दिया है। जेठवा चाहे अपने प्रण को न निभा सका पर ऊजली तो अपने सच्चे प्रेम पर मर मिटी।

(३) सयणी-बीजाणद : घोडों के व्यापारी बीजाणंदने एक तालाब पर अपना डेरा डाला। यही सयणी चारणी से उसकी भेंट हुई। बीजाणंद की रागिनी संगीत—साधना) से प्रभावित और प्रसन्न होकर सयणी ने उसे अभीष्ट वस्तु मांगने का वचन दिया। बीजाणंद ने इस पर सयणी को ही मांग लिया। सयणी ने इस शर्त पर उसे वरण करना स्वीकार

कर लिया कि वह किसी एक ही ठाकुर के पास से ६ माह की अवधि में सवा-सवा करोड़ के सात गहने लाये । बीजाणंद गहनो की खोज में निकल पड़ा । भयंकर कठिनाइयों का सामना कर, उसने भोजराज के बेटे मूगल से गहने प्राप्त किये । पर अवधि बीत जाने के कारण निराश हो नवणी हिमालय की ओर गलने चली गयी । बीजाणंद ने भी उसका अनुकरण किया ।

(४) बीझां-सोरठ : मूल नक्षत्र मे जन्म होने के कारण सांचोर के राजा रायचन्द देवड़ा ने अपनी बेटी सोरठ को नदी में बहा दिया । चांपा कुम्हार ने उस की रक्षा कर उसका लालन-पालन किया । राव खगार ने उससे विवाह करना चाहा पर चांपा ने स्पष्ट इन्कार कर दिया । बणजारा राव रूड़ को यह व्याही गई । रूड़ अपनी बालद के साथ गिरनार आया । यहां बीझा सोरठ पर मुग्ध हो गया । सोरठ भी बीझां के प्रति आकर्षित हो गई । चौपड़ की बाजी में राव रूड़ को हरा कर राव खगार सोरठ को अपने यहाँ ले आया । राव के बाहर जाने पर बीझां-सोरठ का पारस्परिक प्रेम अधिक फला-फूला । सोरठ ने मन से बीझां का वरण कर लिया । बीझां ने उसकी प्राप्ति के लिए एक नवाब को प्रलोभन देकर राव खगार पर आक्रमण करवाया, फिर भी सोरठ हाथ न लगी । नवाब ने उसे अपने यहां रख लिया पर बीझां के प्रति उस के अनन्य प्रेम में कोई कमी नहीं आई । बीझां उसके विरह में तड़प–तड़प कर मर गया । अन्त में सोरठ भी प्रेम की वेदी पर मर मिटकर बीझां की भस्मी में हिलमिल गई ।

(५) मूमल-महेन्द्र : अमरकोट के राजा वीसलदे का पुत्र महेन्द्र अपने बहनोई हमीर जाड़ेचा के साथ काक नदी की ओर शिकार खेलने गया । वही मूमल की मैड़ी थी । मूमल और महेन्द्र एक दूसरे पर मुग्ध हो गये । महेन्द्र ने अजगर, शेर आदि का वध कर मूमल से भेंट की । प्राय : प्रतिदिन वह चीखल (ऊंट विशेष) पर सवार होकर मूमल से मिलने जाता । एक दिन उसने मूमल की बहिन सूमल को मर्दाना वेश में उसके साथ सोया हुआ देखा तो मूमल के चरित्र पर उसको सन्देह हो गया और वह मूमल की ओर से उदासीन हो गया । मूमल ने उसकी प्राप्ति के लिए अमरकोट की यात्रा की । महेन्द्र ने मूमल की परीक्षा लेने के लिए झूठमूठ ही अपने चाकर से कहला दिया की महेन्द्र को तो काले नाग ने डस लिया है । यह सुनते ही मूमल के प्राण पखेरू उड़ गये । महेन्द्र 'मूमल' मूमल' पुकारता हुआ उसके विरह मे पागल हो गया ।

(६) जलाल-बूबना : सिंध ममंदर के नवाब के मूमना और बूबना नाम की दो बेटियां थीं। बूबना की सगाई थटाभखर के बादशाह मृगतमायची की बहिन के बेटे जलाल के साथ कर दी गई पर बादशाह स्वयं बूबना पर मुग्ध हो गया। फलतः बूबना बादशाह को और मूमना जलाल को ब्याही गई। पर जलाल-बूबना परस्पर एक दूसरे को समर्पण कर चुके थे। जलाल कड़ा पहरा लगा रहने पर भी फूलों की टोकरी में छिप कर बूबना से मिलने जाया करता। मृगतमायची ने इस मिलन-क्रम को रोकने के लिए कई प्रयत्न किये। कभी जलाल को शिकार के लिए अपने साथ ले गया, कभी युद्ध के लिए भेज दिया, पर फिर भी उसे सफलता नहीं मिली। अन्ततः बादशाह ने झूठा ही यह समाचार प्रसारित किया कि जलाल शिकार खेलते-खेलते मारा गया। बूबना यह सुनते ही धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ी और उसका प्राणान्त हो गया। जलाल भी उसके विरह में दुखी होकर मर गया। दोनों एक साथ दफना दिये गये।

(७) आभलदे-खींवजी : खींवजी बड़े नामी शिकारी थे। एक दिन वे खरगोश का शिकार कर लाये और अपनी भाभी से बोले-देखो, इसकी चमड़ी कितनी मुलायम है। इस पर भाभी ने कहा-इस की क्या सराहना करते हो? मेरी बहिन आभलदे के शरीर मे खरगोश का केश गड़ गया जिससे वह इतनी अधिक व्यथित हुई कि साल भर बिस्तर पर पड़ी रही। यह सुन कर खींवजी आभलदे के लिए चल पड़े। दोनों मिलने पर एक दूसरे के प्रति आकर्षित हो गये। विधिवत बरात सजा कर विवाह के लिए आने का वचन देकर खींवजी चले गये। आभलदे विरह में व्यथित हो उठी। वह बहाना बनाकर अपनी बहिन से मिलने गई। वहां खींवजी ने जनाने वस्त्र पहनकर अपनी भाभी के साथ आभलदे से भेंट की। कुछ दिनो के बाद जब आभलदे चलने लगी तो उसको सुरक्षित अपने घर पहुंचाने के लिए खींवजी भी साथ चले। रास्ते में सालू झाला के साथ, वंशगत वैर होने के कारण, खींवजी का युद्ध हुआ जिसमें वे मारे गये। आभलदे उनके साथ सती हुई।

(८) नागजी-नागमती : वाटिका मे झूलती हुई नागमती, जिसे सुगना भी कहा जाता है—को देखकर नागजी उस पर मुग्ध हो गये। दोनों में प्रेम हो गया पर नागमती के माता-पिता ने उस का विवाह किसी अन्य व्यक्ति के साथ कर दिया। इस पर विरह-विदग्ध नागजी ने आत्म-हत्या

करली। ससुराल जाते समय नागमती ने नागजी की जलती हुई चिता देखी। वह भी उस में जलकर भस्म हो गई।

(६) काछविया राणा : काछवे का असली नाम हमीर था। वह एक राजकुमार था। उसकी सगाई एक राजकुमारी से हुई थी पर राजकुमारी की भावज को यह सम्बन्ध पसन्द नहीं था। वह चाहती थी की उसकी सगाई उसके भाई से हो। एक दिन ननद भावज दोनों पानी लेने गयी। वहां एक कछुए को देखकर राजकुमारी ने पूछा–भाभी, यह कौनसा जानवर है? भावज ने व्यंग्य करते हुए कहा–बाइसा! यह तो तुम्हारा पति राणा काछवा है। इसीसे तुम्हारी सगाई हुई है। देखो, कैसा बीभत्स जानवर है–कीचड़ खाने वाला, पानी को गंदला कर पीने वाला, समुद्र के सूख जाने पर कुए में कूद जाने वाला। मोटा पेट, मिट्टी खाने वाला, जूं की तरह रेंगने वाला। यह सुनकर राजकुमारी के हृदय में काछवे के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। उसने आते ही अपनी माता से कहा–चाहे जो हो, मैं काछवे से विवाह नहीं करूंगी। अन्तत: सम्बन्ध तोड़ दिया गया। राणा काछवे का दूसरी जगह विवाह हो गया। बरात के साथ लौटता हुआ उसी रास्ते से निकला तो राजकुमारी उसे देखकर अपने किये पर पश्चाताप करने लगी। उसके हृदय में प्रेम और वीरता के भाव उभर आये। उसने अपनी सखियों को दूर हटाते हुए कहा – मुझे जाने दो। मैंने जिसे एक बार अपना पति मान लिया, उसके लिए मैं जल मरूंगी और वह सचमुच अपने निष्कलुष प्रेम की वेदी पर जल मरी। जलती हुई चिता में राणा के साथियों ने नारियल और हाथों के रूमाल डाले तथा स्वयं राणा ने सिर का सेहरा और हाथ की मूंदड़ी डाली।

प्रेम-व्यंजना

इन प्रेमाख्यानों में प्रेम का विशुद्ध रूप दिखाई देता है। ये कथाएं रहस्यमय, अलौकिक और आध्यात्मिक न होकर पारिवारिक, सामाजिक और लौकिक हैं। इनके माध्यम से कोई औपदेशिक बात नहीं कही गयी है।

इन प्रेमाख्यानों में जो पात्र आये हैं, वे साधारण पात्र हैं। फारसी प्रेमकाव्यों की तरह यहां के पात्र साधारण स्थिति से ऊपर उठकर किसी असाधारण स्थिति तक पहुंचते नहीं दिखाई देते न भारतीय प्रेमकाव्यों की तरह वे प्रारम्भ से ही असाधारण दिखाई देते हैं और अन्त तक असाधारण ही

बने रहते हैं। उनमें जो जीवनगत उदात्त आदर्श हैं वे स्वयमेव अपनी शक्ति, पुरुषार्थ और पराक्रम के बल पर अर्जित हैं।

ये पात्र राजघराने से भी सम्बन्धित हैं और सामान्य घराने से भी। पुरुष पात्रों में जेठवा, महेन्द्र, काछविया राणा आदि राजकुमार हैं तो बीजाणंद, बीभां आदि चारण हैं। इन राजघराने के पात्रों का व्यवहार राजसी न होकर साधारण ढंग का है। वे ढोली, ढाढ़ी, धोबी, नाई, कुम्हार, बणजारा आदि के सम्पर्क में रहते हैं। स्त्री पात्रों में सोरठ, बूबना आदि राजघरानों से संबंधित हैं। ऊजली, सयणी आदि चारण परिवार की हैं। जसमादे ओड जाति की है। पर हैं सभी रूप में एक दूसरे से बढ़कर। इन नायिकाओं पर सूफी प्रेमकाव्यों की भांति किसी ईश्वरीय सत्ता का आरोपण नहीं किया गया है। वे सहज मानवीय सौन्दर्य, प्रेम, करुणा, त्याग, बलिदान आदि भावना से अनुप्रेरित हैं सोरठ राजकुमारी है पर उसका परिपालन होता है एक कुम्हार के घर में। नायिकाएँ सामान्यतः अविवाहित है। ऊजली, सोरठ, मूमल, सयणी, आमलदे विवाहिता नहीं हैं। इनके हृदय में अपने प्रेमास्पद व्यक्ति के प्रति अनन्य प्रेम-भाव है। वह विभिन्न परिस्थितियों में से गुजरता हुआ परिपक्व होता है पर उसकी परिणति विवाह में नहीं होती, आत्म-विसर्जन या सत् में होती है। सामान्यतः प्रेमाख्यानों की नायिकाएँ निष्क्रिय और गतिहीन होती हैं तथा नायक सक्रिय और प्रयत्नशील होता है पर यहाँ नायक-नायिका दोनों सक्रिय हैं।

यहां नायक योगी या साधक बनकर प्रेमास्पद व्यक्ति की खोज में नहीं निकलता। उसके हृदय में प्रेम की स्फुरणा उत्पन्न करने के लिए किसी गुरु या तोते की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह तो अपने दैनिक जीवन में कहीं भी तालाब, नदी, कुआ, बगीचा, आदि स्थानों में किसी कन्या को प्रत्यक्ष देखकर रूप-मुग्ध हो उठता है। राव खंगार जसमादे ओडण को तालाब खोदते देखकर उस पर मोहित हो जाता है। कभी किसी के गुणों से प्रभावित होने के कारण प्रेम-भाव अंकुरित होने लगता है। सयणी-बीजाणद के प्रेम के मूल में संगीत-प्रेम है। कभी सेवा-धर्म और मानवीय कर्त्तव्य ही प्रेम का कारण बन जाता है। जेठवा-ऊजली का प्रेम इसका उदाहरण है। कभी भाभी आदि का ताना सुनकर नायक प्रेमास्पद व्यक्ति की खोज में निकल पड़ता है जैसे खींवजी आमलदे की तलाश में निकल पड़े।

प्रेमोदय होने का निमित्त कारण कुछ भी रहा हो पर सभी नायिकाएँ सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति हैं। सूफी प्रेम काव्यों में नायिकाओं में ईश्वरीय सत्ता का आरोपण कर उनके विराट् सौन्दर्य की अभिव्यंजना की गई है। इन लौकिक प्रेमाख्यानों में बिना किसी आरोप के निर्विकार व निरावरण रूप में नायिकाओं की सुन्दरता का बखान किया गया है। नखशिख-वर्णन की सांकेतिक पद्धति के रूप में दोहे कहे गये हैं साथ ही सौन्दर्य से उत्पन्न प्रभावों की चर्चा की गई है। नायिकाओं के लिए जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं वे उनके सौन्दर्य की प्रभावात्मक उपलब्धि के प्रतीक हैं। जसमादे श्रोडण के लिए *'केसरवरणी कामणी', 'काजल रेखी ओडणी,' 'आभै केरी बीजली', 'सावण सुरंगी तीजणी', 'मिरगानैणी मरवण', 'तनक मिजाजण मोवणी,' 'ऊजल दंती श्रोडणी'* आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। महेन्द्र जब मूमल को पुकारता है तो उसके लिए 'जगमीठी', 'हरियाली', 'अमरतभर' आदि विशेषणों का प्रयोग करता है[1] नायक के सौन्दर्य का वर्णन तो सामान्यतः नहीं मिलता पर उसके सम्बन्ध में शील-निरूपक विशेषणों के प्रयोग अवश्य हुए हैं। जब मूमल महेन्द्र को पुकारती है तो उसके लिए 'असल हेतालू' 'वचनां रो सांचो' आदि विशेषणों का प्रयोग करती है। [2] प्रतिनायक के लिए जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं वे उसके व्यक्तित्व की कुत्सा भावना के प्रतीक हैं। जसमादे श्रोडण राव खंगार को *'अकल अलूंणा', 'हरामीराजा',*

१—म्हारी जग मीठी ए मूमल
हां हां ए म्हारी हरियाली ए मूमल
हाने तो ले चालूं म्हारे देस।
म्हारी नाजुकड़ी ए मूमल
म्हारी अमरत भर ए मूमल
हां हां ए म्हारी हरियाली ए मूमल
हाले नी रसिया रे देस।

२—म्हारा असल हेतालू म्हेंदरा घरे आव
मूमल रो बुलाया रे,
म्हारा वचनां रो सांचो रे
असल हेतालू म्हेंदरा घरे आव।

कह कर सम्बोधित करती है।[1] सूफी प्रेमकाव्यों में नायक को योगी बनाकर, योग-साधना के विभिन्न उपकरणों से उसे युक्त वर्णित किया गया है। यहाँ नायक के दूल्हे-रूप का दृश्य द्रष्टव्य है। काछविया राणा विवाह करके लौटता है उस समय वह हाथी के हौदे पर बैठा होता है जबकि उसके अन्य साथी घोड़ों पर। उसके कानों में चमकीले मोती होते हैं जबकि औरों के कानों में मुरकी। उसके सिर पर बांका सेहरा बंधा होता है जबकि दूसरों के सिर पर पगड़ी।[2]

इन प्रेमाख्यानों में दैविक पात्रों की अवतारणा नहीं हुई है। प्रेम-मार्ग की कठिनाइयाँ दूर करने के लिए शिव-पार्वती, अप्सरा, सिद्ध, योगी, विद्याधर आदि का सहारा नहीं लिया गया है। नायक-नायिका मिलकर प्रेम-मार्ग की कठिनाइयाँ दूर करते हैं अथवा उसकी रक्षा में मर मिटते हैं।

यहाँ प्रेम-मार्ग की कठिनाइयों का वह रूप नहीं है जो सूफी प्रेम काव्यों में सामान्यतः दिखाई देता है यथा-सात समुद्रों को लांघना, आंधी-तूफान से पार होना। यहाँ जो कठिनाइयाँ हैं वे प्राकृतिक न होकर सामाजिक या प्रतिनायक द्वारा निर्मित हैं। 'जसमादे ओडण' प्रेमाख्यान मे नायक ओझल है। प्रतिनायक राव खंगार की मोह-लिप्सा और राजसत्ता के आतंक के बीच जसमादे के प्रेम की परीक्षा ली गई है। राव खंगार उसे कई प्रलोभन देता है। राजमहलों में बुलाता है पर उसे अपनी झोंपड़ी ही पसन्द है।[3] राजकुमारों के रूप की प्रशंसा करता है पर उसे अपना ओड ही अच्छा लगता

१—अकल अलूणां राजवी ओ हरामी राजा,
भूल्यो भूल्यो राव खंगार ।।

२ —बीजोड़ा घोड़े असवार
हसत्यां रे हौदे, राणो काछवो ।
औरां रे मुरकी कान
ऊजला तो मोती राणो काछवो ।
औरां रे बांधण पाग
काछविया रे बांको सेवरो ।।

३—कांई तो जोवूं थांरा मेल ने ओ,
भूल्या राजा, म्हांने म्हारी सरक्यां रो कोड ।

है।[१] महल की रानियों को देखने के लिए आग्रह करता है पर उसे ओडणियां ही अच्छी लगती हैं।[२] इससे भी जब जसमादे अपने प्रेम-पथ से विचलित नहीं होती। तो राव खंगार उसको पकड़ लाने केलिए सेना भेजता है। पर सब प्रयत्न व्यर्थ जाते हैं। 'जलाल बूबना' प्रेमाख्यान में जलाल बूबना से मिलने के लिए प्राणों को संकट में डालता है। वह फूलों की टोकरी में छिपकर, बूबना के महल में जाता है। बादशाह उसे शिकार के बहाने जंगल में ले जाता है फिर भी वह रातों रात चुपके से उससे मिलने के लिए आता है। बूबना को जल से घिरे हुए महल में रखा जाता है फिर भी वह वहाँ पहुँचकर अपने सच्चे प्रेम की परीक्षा में सफल होता है। महेन्द्र चौखल ऊंट और उसके आहत होने पर टोरड़ी पर बैठकर नित प्रति मूमल से मिलने के लिए जाता है। अपने भाले से दहाड़ते शेर और फुन्कार मारते अजगर का वध कर वह मूमल का प्रेम प्राप्त करता है। खींवजी आमलदे से मिलने के लिए घर से ही नही निकलते वरन् समय आने पर जनाने वस्त्र पहनने में भी नहीं हिचकते। बीजाणंद सयणी से विवाह करने के लिए सवा-सवा करोड़ के सात गहने लाने की शर्त पूरी करने के लिए गहन दुस्तर मार्ग को पार करता है। प्रेम-मार्ग की ये बाधांएँ ऐसी हैं जिन पर विजय पाने के लिए पुरुषार्थ, पराक्रम, निर्भीकता, संकल्प शक्ति जैसे गुणों की अपेक्षा है। कहना न होगा कि ये नायक इन चारित्रिक गुणों से सम्पन्न हैं।

नायक ही नहीं इन प्रेमाख्यानों में नायिकाएं भी सक्रिय हैं। अन्य प्रेमाख्यानों में नायिकाओं की सक्रियता संदेश-प्रेषण व विरह-व्यथा सहने तक ही सीमित रही है। वे यात्रादि पर नहीं निकलतीं। पर इन प्रेमाख्यानों में नायिकाएं नायक से मिलने के लिए यात्रा भी करती हैं। ऊजली जेठवा से तथा मूमल महेन्द्र से मिलने के लिए उनके घर पहुंचती हैं। यह अलग बात है कि इन नायिकाओं को इस यात्रा में प्रेमास्पद व्यक्ति की प्राप्ति नहीं होती पर वे अपने आत्म-बलिदान द्वारा प्रेम का निर्वाह कर लेती हैं।

१—कांई जोवूं थारा कुंवरा ने ओ,
मोला भूपत म्हांने ओढां रो कोड

२—कांई जोवूं थांरी राणियां ने ओ,
मोला राजा, म्हांने म्हारी ओढणियां रो कोड।

प्रेम मार्ग की कठिनाइयों को दूर करने में यहाँ दैविक पात्र नहीं आते। नायक के संगी-साथी ही उस के सहयोगी बनते हैं। ऊंट और घोड़े आदि पशु भी नायक को सहायता पहुंचाते हैं। चौपड़ आदि के खेल और शिकार आदि के प्रसंग भी प्रेम के स्फुरण व विकास में सहायक हैं।

प्रेम मार्ग में मुख्य बाधा है सामाजिक प्रथा, जातिगत संस्कार। जेठवा चाहते हुए भी ऊजली से विवाह इसलिए नहीं करता कि ऊजली चारण की बेटी होने के कारण उस के लिए बहिन के समान है। सोरठ का पिता राव खंगार से सोरठ का विवाह इसलिए नही करता कि वह उसके स्तर का व्यक्ति नही है। पर ये बन्धन और जातिगत संस्कार अधिक समय तक टिके नहीं रहते। प्रेमी व्यक्ति अपने प्रेम-पात्र के लिए इन सब को ठुकराता चलता है।

इन प्रेमाख्यानों में चाहे नायक-नायिका सामाजिक दृष्टि से विवाह के बन्धन मे न बंधे हों पर उनका प्रेम अमर है। वे प्रेम की वेदिका पर मर मिटते हैं। प्रबन्धात्मक प्रेमाख्यानो का अन्त जहां उल्लासप्रद और सुखमय है वहां इन मुक्तक प्रेमाख्यानों का अन्त दुख पूर्ण है। यह दुख आरोपित नहीं, सहज है। इस में नारी के लिए सतीत्व-रक्षण का अवसर है। सत् का साक्षात्कार है। यह साक्षात्कार कभी अकेली नायिका करती है और कभी नायक नायिका दोनों। जसमादे और ऊजली अकेली सत् का निर्वाह करती हैं। यहां नायक उदासीन और निष्क्रिय है। सोरठ-बीझां, जलाल-बूबना, आभलदे-खींवजी, सयणी - बीजाणंद आदि प्रेमाख्यानों में नायक - नायिका दोनों प्रणय - वेदिका पर अपना हव्य चढाते हैं। बीझां सोरठ के लिए रोता है, गाता है, तड़पता है और अन्त में प्राणों का विसर्जन कर देता है। अनन्य प्रेमिका सोरठ बीझां की भस्मी के साथ जल मर—कर अपने प्रेम की सच्चाई का प्रमाण प्रस्तुत करती है। जलाल के मरने का नाम सुनकर (जिसे झूठमूठ मृगतमायची ने प्रसारित किया है) बूबना प्राण तोड़ बैठती है। प्रेमास्पद व्यक्ति के अभाव में जी कर क्या करना? प्रेम की अनन्यता, निरीहता और एकनिष्ठता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है? और बूबना के यों मर जाने पर जलाल क्यों कर जीवित रहे। वह भी प्राण खो बैठता है। सांसारिक जीवन व्यवहार में ही नहीं कब्र में भी ये युगल प्रेमी अंग से अंग भिड़ाकर लेटे रहे। आभलदे-खींवजी प्रेमाख्यान में प्रेम सामाजिक शिष्टाचार से बधा है। खींवजी विधिवत् आभलदे का जब तक वरण न करलें, तब तक उसका स्पर्श कैसे करें? साथ

रहे पर होलिये अलग-अलग अगाध प्रेम और पूर्ण संयम ! समय बीत गया। विधिवत् वरण करने का अवसर ही हाथ नहीं लगा। प्रतिद्वन्दी भाला से लड़ते - लड़ते खीवजी बीच ही में मारे गये। जिस प्रेमिका ने जीवित रहते अपने प्रेमास्पद व्यक्ति का स्पर्श नहीं किया वही प्रेमिका मृत प्रेमी की देह से लिपट गई। महल में मिलने का जो अवसर नहीं ढूढ़ सकी, उसने श्मशान मे मिलकर अपनी अनन्यता का परिचय दिया। 'सयणी - बीजाणंद' प्रेमाख्यान में सयणी निर्धारित अवधि तक बीजाणंद के न लौटने पर हिमालय में गलने चली गई। नौ करोड़ के गहने लेकर किसी तरह बीजाणंद लौटा और सयणी को न पाया तो उसकी निराशा का क्या कहना ? वह स्वयं उसकी खोज करता हुआ हिमालय में गलने चला गया। दोनों एक दूसरे के लिए मर मिटे। 'काछंदिया राणा' की नायिका राजकुमारी मानसिक दृष्टि से भी इतनी निर्मल, पवित्र और निर्विकार है कि मन से जिसको एक बार पति स्वीकार कर लिया उसका दूसरे का पति बनने पर, स्वयं चिता पर चढ़ गई। भाग्य की यह कैसी विडम्बना कि नायक इस रहस्य से परिचित तक नहीं। फिर भी वह अपने सिर का सेहरा और हाथ की अंगूठी चिता में डालकर, उसके प्रति संवेदना प्रकट करता है।

इन विभिन्न घटनाओं और स्थितियों से इस परिणाम पर सहज पहुंचा जा सकता है कि इन प्रेमाख्यानों में प्रेम का वासनात्मक रूप नहीं है। वह करुणा और वीरता इन दो भावों से नियन्त्रित है। यहां का नायक प्रेमी होने के पहले शूरमा है और यहां की नायिका प्रेमिका होने से पहले सती है। 'शूरमा' और 'सती' के व्यक्तित्व ने मिलकर इन प्रेमाख्यानों को साहित्य की अमूल्य निधि और संस्कृति की विशिष्ट धरोहर बना दिया है। अलौकिक घटनाओं और आध्यात्मिक भावनाओं से अलग, विशुद्ध लोक भूमि पर प्रतिष्ठित ये प्रेमाख्यान कुंवारे प्रेम की परिपक्वता के सूचक हैं।

इन प्रेमाख्यानों के अध्ययन से तत्कालीन वातावरण, सामाजिक—राजनीतिक स्थितियों और जीवन—मूल्यों का पता चलता है। मध्ययुगीय तुर्क, पठान व मुगल शासकों की विषय —लोलुपता इतनी अधिक बढ़ चुकी थी कि उससे भारतीय ललना को अपने शील-धर्म की रक्षा करने के लिए प्राणों का बलिदान करना पड़ता था। सत् के जितने भी प्रसंग हैं वे इसी जीवन-मूल्य के परिचायक हैं। प्रेम के साथ वीरता की भावना और जातिगत संस्कारों के बन्धन के पीछे भी संभवतः यही भयावह स्थिति रही हो। यहां का प्रेम

स्वच्छन्द होते हुए भी अपने शील और कुलाचार से संयमित व मर्यादित हैं। इन प्रेमाख्यानों का दुखान्त भाव तत्कालीन सामाजिक स्थिति का बोध कराता है। हमारे यहां अलकृत परम्परागत साहित्य में चाहे दुखान्त - भावना न रही हो पर ये लौकिक प्रेमाख्यान लोक-जीवन से सम्बन्धित होने के कारण समसामयिक संदर्भों को यथार्थ रूप में व्यक्त करते हैं। अत: दुखान्त भावना का साहित्य में समावेश विदेशी साहित्य के अनुकरण के कारण है, यह कहना साधार नहीं है। लोक साहित्य में ऐसे कई दुखान्त आख्यान प्रचलित हैं। इन लौकिक प्रेमाख्यानों का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि इनके माध्यम से ऐसी कई कथानक रूढ़ियों का जन्म हुआ जो आगे चल कर अलकृत प्रेमाख्यानों का और उनके रसात्मक स्थलों का आधार बनी-यथा बारहमासा वर्णन।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि इन प्रेमाख्यानों के माध्यम से प्रेम-भाव अपनी अलौकिकता, रहस्यात्मकता और असाधारणता का 'मास्क' हटाकर सहज मानवीय संवेदना के रूप में प्रकट हुआ। इससे न केवल अन्तर्मन में उठने वाली मधुर मोहक तरंग को समझने में सहायता मिलती है वरन् लोक-जीवन में घटित होने वाली विभिन्न घटनाओं और स्थितियों के प्रेरक कारणों और प्रभावक - क्षणों को जानने - समझने का भी अवसर मिलता है।

---

१४ | संत साहित्य सम्बन्धी कुछ विचार

संक्रान्ति-युग—बोध और संत :

जब किन्हीं दो जातियों अथवा राष्ट्रों में व्यापक स्तर पर संघर्ष छिड़ता है तब दोनों की संस्कृतियों में जो घात-प्रतिघात होता है वह अधिक सूक्ष्म और दूरगामी प्रभाव डालने वाला होता है। पराजित जाति या राष्ट्र इतना अधिक हतोत्साह, निराश और दीन बन जाता है कि सामान्य जन अपना स्वाभिमान और विवेक खो बैठता है। ऐसे समय में जनता के मनोबल को दृढ़ बनाये रखना और अपने सांस्कृतिक तत्त्वों को नष्ट होने से बचाये रखना युग की अपरिहार्य आवश्यकता होती है। संस्कृति का यह रक्षण राजनीतिक स्तर पर तो संभव नहीं होता क्योंकि विजेता जाति या राष्ट्र अपनी संस्कृति का प्रचार-प्रसार पराजित जाति या राष्ट्र की संस्कृति को हेय समझकर ही करता है। इस संघर्ष और संक्रमण की भूमिका में पराजित जाति या राष्ट्र की आत्मा को, उसकी लोक संस्कृति को, उसकी जीवन शक्ति को, उसकी ऊर्जा को यदि कोई बचा सकता है तो वह व्यक्ति ही, जिसका व्यक्तित्व विरोधी परिस्थितियों में समन्वय स्थापित कर सके, अपने आचार-विचार में एकता कायम कर सके, अपने क्षुद्र स्वार्थों को छोड़कर मानव-हित के विस्तृत क्षेत्र को नीर-क्षीर विवेकी दृष्टि से देख सके, कहना न होगा कि ऐसे व्यक्तित्व के धनी संत ही होते हैं।

संतों का क्षेत्र :

संतों का क्षेत्र संघर्ष और संक्राति युग का क्षेत्र है। वे संघर्ष में आग नहीं

लगाते वरन् मन्थन द्वारा उससे ऐसा नवनीत निकालते हैं जो सबके लिए पुष्टिकारक होता है। जब-जब विभिन्न संस्कृतियों के बीच संधि-काल आये तब-तब इन संतों ने अपनी भूमिकाएं निभाईं। चाहे आर्य-आर्येतर संस्कृतियों का संघर्ष हो, चाहे हिन्दू-तुर्कों, हिन्दू-मुसलमानों और आगे चलकर भारत-ब्रिटेन का संघर्ष छिड़ा हो, ये संत उभर कर सामने आये। इन संतों के आविर्भाव में राजनीतिक संघर्ष मूल कारण रहा है पर ये संत राजनीतिक नेता कभी नहीं बने। अब तक संतों का क्षेत्र आध्यात्म तक ही सीमित रखा गया है और उस में भी निर्गुणोपासक ही संत अभिधा के अधिकारी माने गये हैं पर मेरा विचार है कि आध्यात्म की बाँह पकड़कर ये संत सामाजिक चेतना को उद्बुद्ध करने में ही विशेष रूप से लगे रहे। अतः संतों का और संत साहित्य का अध्ययन करते समय उसके सामाजिक एवं समाजशास्त्रीय पहलू को प्रधानता मिलनी चाहिए। कहना होगा कि ये संत ही वैचारिक स्तर पर समाज-दर्शन की प्रतपणा करते है जिस पर आगे चलकर सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन गतिमान होते हैं। सामाजिक आन्दोलनों का नेतृत्व तो संत स्वय भी करते है पर ये विपाक्त राजनीति में नहीं फसते। अतः यह कहा जा सकता है कि संतों का क्षेत्र व्यापक क्षेत्र है जिसमें प्रकारान्तर से जीवन की लोक-लोकोत्तर सभी समस्याएं अनुस्यूत हो जाती हैं।

संतों के लक्षण:

संत कौन होते हैं? उनके क्या लक्षण हैं? यह प्रश्न जितना सरल है उतना ही जटिल भी[1]। सामान्यतः कहा जा सकता है जो सत्पथ पर चलते

१—अनेक विद्वानों ने 'संत' शब्द की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की है—

(क) श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इसकी व्युत्पत्ति 'शांत' शब्द से मानते हुए इसका अर्थ निवृत्तिमार्गी या वैरागी किया है।

(ख) श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है-संत शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने 'सत्' रूपी परमतत्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो, जो सत्य स्वरूप, नित्य-सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हों, वही संत है। (उत्तरी भारत की संत परम्परा)

(ग) आचार्य विनयमोहन के अनुसार-जो आत्मोन्नति सहित परमात्मा के मिलन-भाव को साध्य मानकर लोक मंगल की कामना करता है। वह संत है। (हिन्दी को मराठी संतों की देन, पृ० ५६)

हों, वे संत, जो[1] आत्मा को शाश्वत अमर संदेश सुनाते हों, वे संत, जिनका सत् अर्थात अस्तित्व हमेशा बना रहे, जो समाज की अनिवार्य निधि हों वे संत। पर क्या भक्त, सिद्ध महात्मा, योगी साधु, साध,बैरागी आदि पर ये लक्षण लागू नहीं होते ? यदि होते हैं तो फिर हम 'संत' को इन विभिन्न तथाकथित नामों से कैसे अलग कर सकेंगे। हिन्दी में संत को इन सब से अलग दिखाने के प्रयत्न हुए हैं। सामान्यतः ज्ञानमार्गी निर्गुणोपासकों को 'संत' व प्रेममार्गी निर्गुणोपासकों को 'सूफी' कहा गया है और सगुणोपासकों को 'भक्त' संज्ञा दी है। पर क्या तुलसीदास को 'संत तुलसीदास' नहीं कहा जाता ? क्या कबीर में भक्ति नहीं देखी जाती ? क्या सूर के पदों में 'संतत्व' के दर्शन नहीं होते ? यदि यह सब होता है तो सगुण-निर्गुण के आधार पर यह पार्थक्य अमनोवैज्ञानिक, अनैतिहासिक एवं असंगत ठहरता है।

संत और भक्त :

मेरी दृष्टि से संत और भक्त में निम्नलिखित भेद हो सकते है—

(१) संत संधि-युग की देन है। जब दो विभिन्न संस्कृतियों में संघर्ष होता है तब सत आविर्भूत होता है। पर वह अवतारी पुरुष नहीं होता। इसी लोक का मनुष्य होता है जिसकी सामाजिक चेतना अधिक प्रबुद्ध होती है। भक्त सामान्य स्थिति की उपज है। उसे सांस्कृतिक संघर्ष से कोई वास्ता नहीं। जब भक्त की दृष्टि सामयिक संघर्ष की ओर उन्मुख होती है तब उसमें संतत्व के दर्शन होने लगते हैं—जैसे संत तुलसीदास।

(२) संत में समर्पण की भावना नहीं होती, समन्वय की भावना होती है। वह विरोधी परिस्थितियों में समन्वय स्थापित कर मानवता को संकट से उबारना चाहता है। कबीर का व्यक्तित्व इसी भूमि पर प्रतिष्ठित था। भक्त में समर्पण ही उसकी पूंजी है।[1] वह भगवान के आगे सब कुछ अर्पित कर देता है। उसमें अपने अस्तित्व के लिए विरोध या विद्रोह मोल लेने की प्रवृत्ति नहीं होती।

१—श्रीमद्भगवद्गीतकार के अनुसार 'मय्यर्पित मनोबुद्धिर्योमद्भक्तः स मे प्रियः' (अध्याय १२-१४) अर्थात् जिसने अपना मन और बुद्धि मुझे अर्पित कर दिया, वह भक्त मुझे प्रिय है।

(३) संत का अहं प्रबल होता है। उसमें स्वाश्रयी व पुरुषार्थ की भावना बलवती होती है। वह अपने आत्म-गुणों को विकसित कर स्वयं भगवान बन जाना चाहता है। भगवान में मिल जाने की या स्वय आत्म-चेतना को प्रबुद्ध कर ब्रह्म बन जाने की स्पृहा ही उसे भक्त से अलग करती है। भक्त स्वय भगवान नहीं बनना चाहता। वह तो भगवान के चरणों में बैठकर उनकी सेवा या उपासना[1] कर ही कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से वैदिक धर्मी परम्परा मुख्यत: भक्ति काव्य की परम्परा है जबकि श्रमण-परम्परा सत काव्य की परम्परा है क्योंकि उसमे आत्मा को ही परमात्मा बना देने की साधना-पद्धति का विधान है।

(४) संत सम्प्रदाय मे गुरु या आचार्य परम्परा का अत्यधिक महत्त्व है। भक्त भगवान को जो महत्त्व देता है वही महत्त्व सत अपने गुरु या आचार्य को देता है। जितने भी संत हैं उनकी अपनी एक विशेष परम्परा है और विशेष रीति से ही वे उस मे दीक्षित होते हैं। भक्तों की ऐसी अपनी कोई परम्परा नही चलती। वे शिव, विष्णु या अपने इष्ट को ही सर्वस्व मान कर चलते हैं। उनमें शिष्य–प्रशिष्य की वह अविच्छिन्न धारा प्रवहमान होती हुई नही प्रतीत होती।

(५) संत चले आते हुए परम्परागत शास्त्रों, पुराणो या आगमों को विशेष महत्त्व नही देते। कभी-कभी तो वे इनके विरोध मे खड़े हुए दिखाई देते हैं। उनका सारा बल अनुभवगम्य गिरा पर होता है। वे स्वानुभूति के बल पर ही देशना देते हैं। कबीर जैसे सत कवि ने इसीलिए 'ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय' जैसी बात कही है।

(६) संत परम्परा में भक्ति का निषेध नही है। जितने भी संत हुए हैं उनके शिष्य अपने गुरु के प्रति उत्कट भक्ति भावना प्रदर्शित करते हैं पर उनका उद्देश्य केवल मात्र सेवा या उपासना करना नही है, वे पुजारी मात्र नहीं हैं। वे स्वयं अपने आत्मिक गुणो का विकास कर परमात्मा बन जाना

१–(क) पाराशर्य के अनुसार–'पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य:' (नारद-भक्ति सूत्र १६) अर्थात् पूजादि मे अनुराग होना भक्ति है।
(ख) शांडिल्य के अनुसार 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (शांडिल्य भक्ति सूत्र-२) अर्थात वह ईश्वर के प्रति परम अनुराग रूपा है।

चाहते हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि भक्त उपासक है, पर संत उपासक से आगे बढ़कर साधक है।

(७) 'संत' शब्द के साथ 'लोक देवता' शब्द की चर्चा करना भी प्रासंगिक ही होगा। लोक देवता लौकिक पुरुष ही होते हैं पर उनमें लोक-रक्षण की भावना प्रबल होती है। वे अपने शौर्यपूर्ण वीर-व्यंजक व्यक्तित्व का उपयोग निर्बलों, असहायों एवं विशेषकर गायों की रक्षा में करते देखे गये हैं। राजस्थान में पांच लोक देवता पाबूजी राठौड़, हड़बूजी सांखला, रामदेवजी तंवर, मेहाजी मांगलिया और गोगाजी चौहान-लोक-जीह्वा पर तैरते रहे हैं—

पाबू, हरबू, रामदे, मांगलिया मेहा।
पांचू पीर पधारजो, गोगादे जेहा॥

हमारी दृष्टि में ये लोक देवता योद्धा संत की श्रेणी में आते हैं जिनका विकास आगे चलकर सिक्ख सम्प्रदाय में गुरु गोविन्दसिंह आदि गुरुओं में हुआ।

(८) संतों और भक्तों, दोनों का जीवन चमत्कारपूर्ण प्रसंगों से अछूता नहीं है। अन्तर इतना ही है कि संतों के जीवन में जो चमत्कारपूर्ण घटनाएं घटित होती हैं उनके मूल में उन्हीं की साधना, शक्ति और सामर्थ्य-भावना रहती है जबकि भक्तों के जीवन में घटित चमत्कारपूर्ण प्रसंगों के लिए भगवान का अनुग्रह या शरणागत वत्सल-भाव उत्तरदायी रहता है।

(९) मध्ययुगीन संत कवियों ने सिद्ध और नाथ परम्परा से चले आते हुए निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार तो किया पर उसकी प्राप्ति में ज्ञान-साधना के साथ-साथ प्रेम-साधना को भी प्रधानता दी। इसीलिए यहां आकर वे भक्त के अधिक निकट आये पर भक्तों की भांति उन्होंने शास्त्र-ज्ञान को महत्त्व न देकर आत्म-ज्ञान को महत्त्व दिया, ज्ञान का अन्वेषण उन्होंने शास्त्रों में नहीं किया वरन् अपने ही घट में किया, भगवान की प्राप्ति के लिए ब्रह्माण्ड का चक्र नहीं काटा वरन् पिंड में ही उससे साक्षात्कार करने की साधना की।

संत-परम्परा

संत परम्परा का आदि स्रोत हमें आर्य-आर्येतर संघर्ष की भूमिका में मिलता है। क्रांति की जो विभिन्न भूमिकाएं हैं वहां संत-परम्परा में कई

नये मोड दिखाई देते हैं जिन्हें संत परम्परा के विकसित रूप कह सकते हैं। कतिपय विद्वान यह मानने लगे हैं कि आर्यों के पहले जो यहाँ आर्येतर संस्कृति थी वह व्रात्य संस्कृति थी। इनके आराध्य देव ऋषभ और शिव मे भी कुछ विद्वान अभिन्नत्व देखने लगे हैं। ऋषभ का चिन्ह वृषभ माना गया है और शिव का वाहन भी वृषभ। ऋषभ को जटाधारी भी (केशरियाजी) कहा गया है और शिव स्वयं जटाधारी थे। ये सारे तथ्य विवादास्पद हैं और ऐतिहासिक अनुसंधान की अपेक्षा रखते हैं पर इन सब बातों से हमे संत-परम्परा के मूल उत्स को ढूंढने में सहायता अवश्य मिलती है।

आर्यों के आगमन से पूर्व यहाँ जो संस्कृति थी वह उन्नत और अहिंसामूलक संस्कृति थी। आर्य संस्कृति में विभिन्न देवों की हिंसा प्रधान यज्ञों से उपासना करने और अपने भौतिक इष्ट मागने का विधान था। इन दोनों सस्कृतियों में प्राणघातक सघर्ष रहा। वासुदेव कृष्ण और आर्यों के अधिनायक इन्द्र के बीच ज्वलंत संघर्ष रहे हैं। इतिहास ज्यों-ज्यों स्पष्ट होता है त्यों-त्यों अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म उभर कर सामने आते हैं। क्रांति का उभार धीरे धीरे महावीर और बुद्ध जैसे क्षत्रिय राजकुमारों की वाणी मे फूटता है। ये दोनों राजकुमार असीम राजसी वैभव को ठोकर मारकर मानवता को सांस्कृतिक संकट से उबारने के लिए साधना-पथ पर बढ़ चलते हैं। इनकी वाणी में जो विस्फोट और आग है वह मध्य-युगीन पूरी सन्त परम्परा को और आधुनिक समाजवादी चिन्तन को प्रभावित करती रही है। सन्त साहित्य के अध्ययन-चिन्तन में इस सक्रान्त युग-बोध को अब तक स्थान नहीं मिला है। पर मेरा विश्वास है कि जब तक इस दर्शन को नही समझा जायगा तब तक संत साहित्य का अध्ययन अधूरा रहेगा।

वर्द्धमान महावीर क्रांति के रूप मे उत्पन्न हुए थे। समाज में व्याप्त अर्थजन्य विषमता और मन में उद्भूत कामजन्य वासनाओं के दुर्दमनीय नाग को अहिंसा, संयम और तप के गारुड़ी संस्पर्श से कील कर वे समता, सद्भाव और स्नेह की धारा अजस्र रूप से प्रवाहित करते रहे। आर्थिक वैषम्य को मिटाने के लिए उन्होंने अपरिग्रह दर्शन की उद्भावना की। उन्होने कहा-आवश्यकता से अधिक संग्रह मत करो। आवश्यकता से अधिक सग्रह करने

पर दो समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। पहली समस्या का सम्बन्ध व्यक्ति से है, दूसरी का समाज से। अनावश्यक संग्रह करने पर व्यक्ति लोभ-वृत्ति की ओर अग्रसर होता है और समाज का शेष अंग उस वस्तु विशेष से वंचित रहता है। फलस्वरूप समाज में दो वर्ग हो जाते हैं। एक सम्पन्न, दूसरा विपन्न। और दोनों में संघर्ष प्रारंभ होता है। इस संघर्ष को मिटाने के लिए अपनी जितनी आवश्यकता हो, उसे पूरा करने की दृष्टि से प्रवृत्ति को मर्यादित और आत्मा को परिष्कृत करना जरूरी है। जिस 'जीवन व्रत-साधना' की भूमिका महावीर ने प्रस्तुत की वह जीवन आदर्श जीवन है जो आध्यात्मिक होते हुए भी समाजवादी लक्ष्य से भिन्न नहीं है। महावीर द्वारा प्रतिपादित बारह व्रतों की साधना करने वाले साधकों की दो श्रेणियां हैं। जो पूर्णतः इन व्रतों की साधना करता है वह संत है, श्रमण है और जो अंशतः इन व्रतों को साधता है वह गृहस्थ है, श्रावक है।

इन बारह व्रतों को क्रम की दृष्टि से तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत। अणुव्रत में श्रावक स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग करता है। प्रथम अणुव्रत में निरपराध प्राणी को मारना निषिद्ध है किन्तु अपराधी को दंड देने की छूट है। दूसरे अणुव्रत में धन, सम्पत्ति, परिवार आदि के विषय में दूसरे को धोखा देने के लिए असत्य बोलना निषिद्ध है। तीसरे व्रत मे व्यवहार-शुद्धि पर बल दिया गया है। व्यापार करते समय अच्छी वस्तु दिखाकर घटिया दे देना, दूध में पानी आदि मिला देना, झूठा नाप तौल तथा राज-व्यवस्था के विरुद्ध आचरण करना निषिद्ध है। इस व्रत मे चोरी करना तो वर्जित है ही किन्तु चोर को किसी प्रकार की सहायता देना या चुराई हुई वस्तु को खरीदना भी वर्जित है। चौथा व्रत स्वदार सन्तोष है जो एक ओर काम-भावना पर नियमन है तो दूसरी ओर पारिवारिक सगठन का अनिवार्य तत्त्व। पांचवे अणुव्रत से श्रावक स्वेच्छापूर्वक-धन सम्पत्ति, नौकर, चाकर आदि की मर्यादा करता है।

तीन गुणव्रतों में प्रवृत्ति के क्षेत्र को सीमित करने पर बल दिया गया है। शोषण की हिंसात्मक प्रवृत्तियों के क्षेत्र को मर्यादित एवं उत्तरोतर संकुचित करते जाना ही इन गुणव्रतों का उद्देश्य है। छठा व्रत इसी का विधान करता है। सातवें व्रत में भोग्य वस्तुओं के उपयोग को सीमित करने का

आदेश है। आठवें में अनर्थदण्ड अर्थात् निरर्थक प्रवृत्तियों को रोकने का विधान है।

चार शिक्षाव्रतों में आत्मा के परिष्कार के लिए कुछ अनुष्ठानों का विधान है। नवाँ सामायिक व्रत समता की आराधना पर, दसवाँ संयम पर, ग्यारहवा तपस्या पर और बारहवा सुपात्र दान पर बल देता है।

इन बारह व्रतों की साधना के अलावा श्रावक के लिए पन्द्रह कर्मादान भी वर्जित हैं अर्थात् उसे ऐसे व्यापार नहीं करना चाहिए जिनमें हिंसा की मात्रा अधिक हो या जो समाज-विरोधी तत्वों का पोषण करते हों। उदाहरणतः चोरों, डाकुओं या वेश्याओं को नियुक्त कर उन्हें अपनी आय का साधन नहीं बनाना चाहिए।

इस व्रत-विधान को देखकर यह कहा जा सकता है कि महावीर ने एक नवीन और आदर्श समाज रचना का मार्ग प्रस्तुत किया।

ईश्वर के सम्बन्ध में महावीर के जो विचार थे वे भी आज की जनतन्त्रात्मक और आत्म स्वातंत्र्य की विचारधारा के अनुकूल हैं। महावीर के समय का समाज बहुदेवोपासना और व्यर्थ के कर्मकाण्ड से बंधा हुआ था। उसके जीवन और भाग्य को नियंत्रित करती थी कोई परोक्ष अलौकिक सत्ता। महावीर ने ईश्वर के इस संचालक रूप का तीव्रता के साथ खडन कर इस बात पर जोर दिया कि व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। उसके जीवन को नियंत्रित करते हैं उसके द्वारा किये गये कार्य। इसे उन्होंने 'कर्म' कहकर पुकारा। वह स्वयंकृत कर्मों के द्वारा ही अच्छे या बुरे फल भोगता है। इस विचार ने नैराश्यपूर्ण असहाय जीवन में आशा, आस्था और पुरुषार्थ का आलोक बिखेरा और व्यक्ति स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होकर कर्मण्य बना।

ईश्वर के सम्बन्ध में उन्होंने यह भी कहा कि वह एक नहीं, अनेक है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी साधना के बल पर ईश्वरत्व की अवस्था को प्राप्त कर सकता है। उनकी दृष्टि मे मानव-जीवन की सर्वोच्च उत्थान-रेखा ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है। इस विचारधारा ने समाज में व्याप्त पाखंड, अंध श्रद्धा और कर्मकाण्ड को दूर कर स्वस्थ जीवन-साधना का मार्ग प्रशस्त किया। महावीर ने एक प्रकार से ईश्वर के एकाधिकार को समाप्त कर उसे

विकेन्द्रित कर सबके लिए प्राप्य बना दिया। शर्त रही जीवन की सरलता, शुद्धता और मन की दृढ़ता।

महावीर ने जनतंत्र से भी आगे बढ़कर प्राणतंत्र की विचारधारा दी। जनतंत्र में मानव-न्याय को ही महत्त्व दिया गया है। मानव-हित को ध्यान में रखकर जनतंत्र में अन्य प्राणियों के वध की छूट है पर महावीर के शासन में मानव और अन्य प्राणी में कोई अन्तर नहीं। सबकी आत्मा समान है। इसीलिए महावीर की अहिंसा अधिक तरल और व्यापक है। वह प्राणिमात्र के हित की संवाहिका है।

बौद्धिक वाद-विवाद में सौमनस्य लाने का काम भी महावीर ने किया। उन्होंने यह अच्छी तरह जान लिया था कि जीवन तत्त्व अपने में पूर्ण होते हुए भी वह कई अंशों की अखण्ड समष्टि है। इसीलिए अंशी को समझने के लिए अंश का समझना भी जरूरी है। यदि हम अंश को नकारते रहे, उसकी उपेक्षा करते रहे तो हम अंशी को उसके सर्वांग सम्पूर्ण रूप में नहीं समझ सकेंगे। सामान्यतः समाज में जो झगड़ा या वादविवाद होता है वह दुराग्रह, हठवादिता और एक पक्ष पर अड़े रहने के कारण होता है। यदि उसके समस्त पहलुओं को अच्छी तरह देख लिया जाय तो कहीं न कहीं सत्यांश निकल आयेगा। एक ही वस्तु या विचार को एक तरफ से न देखकर उसे चारों ओर से देख लिया जाय तो फिर किसी को एतराज न रहेगा। इस बौद्धिक दृष्टिकोण को ही महावीर ने स्याद्वाद या अनेकांत-दर्शन कहा। इस भूमिका पर ही आगे चलकर सगुण-निर्गुण के वाद-विवाद को, ज्ञान और भक्ति के झगड़े को सुलझाया गया। आचार में अहिंसा और विचार में अनेकांत की प्रतिष्ठा देकर महावीर ने अपनी क्रांतिमूलक दृष्टि को व्यापकता दी।

मध्ययुग में महावीर के अपरिग्रह और अनेकान्त दर्शन जैसे विचारों को आत्मसात नहीं किया जा सका और हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष से जो नया वातावरण बना उसमें भक्ति-तत्त्व को प्रमुखता मिल गई। इसका नतीजा यह हुआ कि संतों के व्यक्तित्व का ओज और वाणी का विस्फोट कबीर के बाद मन्द सा हो गया। अनेक सम्प्रदाय बन गये और उनमें कई विकृतियां आ गई। आगे चलकर जब अंग्रेजों से भारतीयों का संघर्ष हुआ तो पुनः संत-व्यक्तित्व की क्रांति दयानंद, गांधी आदि संतों में उभरी जो शनैः शनैः राष्ट्रीय भावना से भरपूर साहित्य में ओज और विद्रोह का स्वर बनकर उतरी।

मध्य युग में जब भारतीय और मुस्लिम जातियों में संपर्क हुआ तो संस्कृति का विशाल सागर आलोड़ित–विलोड़ित हो गया। भारतीय वीर, वीरता में किसी से कम न होते हुए भी, पारस्परिक वैमनस्य और क्षुद्र स्वार्थों के कारण पराजित हुए। मुस्लिम संस्कृति का चांद भारतीय आकाश में चमकने लगा और भारतीय सांस्कृतिक सूर्य की आभा मंद पड़ने लगी। हमारी संपूर्ण जीवन–पद्धति को एक विधर्मी जीवन–पद्धति से कड़ा मुकाबला करना था। इस संघर्ष में भारतीय पराभूत नरेश तो पहले ही अपनी शक्ति खो बैठे थे। राजा की पराजय से प्रजा भी अपनी पराजय देखने की अभ्यस्त थी। ऐसे संघर्ष–काल में कबीर जैसा संत–व्यक्तित्व प्रकट हुआ जिसने एक सामान्य धर्म–पद्धति और सामान्य आराध्य की प्रतिष्ठा की जिसे दोनों जातियों ने सम्मानपूर्वक स्वीकार किया।

सांस्कृतिक चेतना के विकास में संतों का यह योगदान क्रियात्मक और प्रतिक्रियात्मक दोनों रूपों में सामने आता है। चूंकि संतों को सामान्यतः अपनी भूमिका ऐसे समय में निभानी पड़ती है जब परस्पर दो जातियों और दो संस्कृतियों में टकराहट होती है। अतः उनका रूप विद्रोहात्मक और योगदान प्रतिक्रियात्मक ही प्रतिभासित होता है। कबीर आदि संतों के स्वरों में जो विद्रोह, आक्रोश और व्यंग्य दिखाई देता है वह सामन्ती जड़ता, जातिगत भेद-भाव, साम्प्रदायिक घृणा और अंधविश्वास तथा पाखण्ड के प्रति है। यह जड़ता और अंध–विश्वास सामान्यतः पराजित जाति या राष्ट्र में ही नहीं, विजेता जाति या राष्ट्र में भी समान रूप से विद्यमान होता है। संत कवि केवल अपने राष्ट्र की सीमा में ही बंधकर नहीं रहते वे तो समस्त संसार से जड़ता का उन्मूलन करना चाहते हैं। यही कारण है कि सूफी संत कवियों ने भी कट्टर कुरानपंथियों एवं इस्लामी धर्म की रूढ़िवादिता के प्रति विद्रोह एवं असन्तोष–अपने विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया। कबीर ने तो हिन्दू और मुसलमानों को समान रूप से फटकारा है।

संतों की यह प्रतिक्रिया एक ओर तत्कालीन शासकों और समाज के तथाकथित नेताओं में इस विद्रोह को न सह सकने के कारण–यह भावना भरती है कि वे विद्रोह जगाने वाले इन संतों को कड़ी से कड़ी यातनाएं दें और समाज से इन्हें बहिष्कृत करें। ऐसा हुआ भी है। कहा जाता है कि तत्कालीन शासक सिकंदर लोदी ने कबीर को हाथी के पैरों तले कुचलवाया

था। पर ये संत दृढ आत्मव्रती होते हैं। इन यातनाओं के विष को अमृत की तरह ये हँसते-हँसते पी जाते हैं। दूसरी ओर संतों की यह प्रतिक्रिया धीरे धीरे विघटित होने वाले सांस्कृतिक तत्त्वों को संयुक्त करने में सक्रिय बनती जाती है और संतों की वाणी का जो मूलतः धार्मिक होती है, समाज से संबंध जुड़ता चला जाता है। जनता का मनोबल, नैतिक स्तर, स्वाश्रयी भावना और बन्धुत्व का गुण जो भारतीय सस्कृति का मूलाधार है, सदियों की पराधीनता के बाद भी अक्षुण्ण रह सका, इसके मूल में संतों की यही सामाजिक चेतना रही है।

मध्य युग में कबीर के ही समान सामाजिक चेतना को उभारने वाले उनके ही समकालीन एक अन्य व्यक्ति की ओर विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। वह व्यक्तित्व है वीर लोंकाशाह[1]। इनका समय सं १४७२-१५४१ अनुमानित किया गया है। उत्तर भारत में जिस समय कबीर धार्मिक पाखण्ड और सामाजिक विकृतियों पर चोट कर रहे थे लगभग उसी समय गुजरात को केन्द्र मानकर अहमदाबाद के एक जौहरी लोंकाशाह जड़पूजा का तीव्र गति से विरोध और खंडन कर आत्मोपासना का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। इनकी दृष्टि बड़ी पैनी थी। शास्त्रों की नकल करते-करते इन्होंने सही ज्ञान को जाना और प्रचलित साधना-पद्धति में विरोध, आडम्बर और शिथिलाचार देखकर साधना का सही मार्ग प्रस्तुत किया। इनके प्रधान शिष्य भाणजी हुए और यह सम्प्रदाय लोंकागच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कालान्तर में यह तीन भागों में बंट गया – गुजराती लोंकागच्छ, नागोरी लोंकागच्छ और उत्तरार्द्ध लोकागच्छ। लोंकाशाह के बाद जब यति-वर्ग में शिथिलाचार बढ़ा तो फिर एक परिवर्तन उपस्थित हुआ और क्रियोद्धारक के रूप में जीवराजजी म०, लवजी ऋषि जी, धर्मसिंहजी म०, धर्मदास जी म०, प्रकट हुए।[2] इनकी परम्परा के संत आज भी वर्तमान हैं।

संवत १८१७ में इस परम्परा में एक नया मोड फिर आया। स्थानकवासी परम्परा के रुघनाथ जी से पृथक होकर संत भीखणजी ने नये पंथ का

---

१ विशेष परिचय के लिए देखिये–ऐतिहासिक नोंद। वाडीलाल मोतीलाल शाह।

२ विशेष परिचय केलिए देखिये–ऐतिहासिक नोंद। वाडीलाल मोतीलाल शाह।

प्रवर्त्तन किया। यह पंथ था तेरापंथ। इसके आद्यप्रवर्त्तक स्वामी भीखणजी ने दान और दया के सम्बन्ध में नया विश्लेषण प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा— जहां निम्न वर्ग होता है, शोषित वर्ग होता है, वहीं दान और दया के भाव जागृत होते हैं। उस समाज व्यवस्था मे दान एक अनिवार्य गुण होता है और वह मनुष्यों के दुखो पर पलता हुआ बना ही रहना चाहता है। दान और दया की भावना इस बात पर बल देती है कि समाज में याचक और शोषित बने रहें।

ये दोनों प्रवृत्तियां जनतंत्र—व्यवस्था के अनुकूल नहीं हैं। हम जिस आदर्श समाज का कल्पना करते है उसमें न कोई ऊंचा रहेगा, न नीचा, न कोई दानी रहेगा न कोई याचक, न कोई मारने वाला रहेगा, न कोई बचाने वाला। ऐसी स्थिति मे दान और दया का कोई महत्त्व ही न रह जायेगा। भीखणजी के ये विचार बड़े क्रान्तिकारी थे। इसमे परम्परागत जीवन मूल्यों को बड़ी ठेस लगी। भीखणजी ने यह भी कहा कि पंचेन्द्रिय प्राणी की रक्षा के लिए एकेन्द्रिय प्राणियों का बलिदान समीचीन नहीं है। उनकी धारणा थी कि आदर्श समाज मे 'बचाओ' की अपेक्षा 'मत मारो' की बात अधिक युक्ति संगत है। 'बचाओ' को ध्येय मानकर चलने में 'मारते रहो' की प्रेरणा देने का भाव भी परोक्ष रूप से स्वीकार होता है। इससे प्राणी-वध की परम्परा को मिटाने का अवसर नहीं मिलता। समाज में हमेशा दो प्रकार के व्यक्ति बने रहेंगे। एक मारने वाला दूसरा बचाने वाला। अतः 'मतमारो' के भाव को व्यापकता देने में ही उन्होंने अपनी लेखनी का जौहर दिखलाया।

मेरी मान्यता है कि श्रमण-परम्परा के इन ऐतिहासिक परिवर्तन बिन्दुओं—महावीर, बुद्ध, लोंकाशाह, संत भीखणजी—को जब तक नहीं समझा जायेगा तब तक संत साहित्य का अध्ययन अधूरा रहेगा।

राजस्थान मे मत न: :

राजस्थान का सौभाग्य रहा कि यहां वीरता और आध्यात्मिकता दोनों को समान रूप से फलने—फूलने का अवसर मिला। राजस्थान जहां अपने शौर्य, बलिदान, त्याग और स्वामिभक्ति के लिए प्रसिद्ध है वहां भक्ति उपासना और आध्यात्मिकता के लिए विख्यात भी। कहा जा सकता है कि यहां की भक्ति से ही शक्ति को प्राण-चेतना मिलती रही है। यहां

की वाणी में धर्म-रक्षा, देश-रक्षा, गो-रक्षा, सतीत्व-रक्षा आदि विभिन्न सांस्कृतिक तत्त्वों के रक्षण की इतनी अधिक स्पष्ट गूंज है कि इस आध्यात्मिक भाव-बोध ने ही वीर-भाव को प्रेरित, पोषित और सक्रिय किया। यहां के लोक-जीवन के नैतिक-सामाजिक धरातल को प्रभावित और अनुप्राणित करने में सिद्ध पुरुषों, संतों, चारणों और जैनियों का बहुत बड़ा हाथ रहा है।

राजस्थान में संतवाणी का अखूट भंडार है। विश्व में शायद ही कोई ऐसा प्रांत हो जहां इतने सम्प्रदाय अस्तित्व में आये हों। यहां के विभिन्न संत सम्प्रदायों की—जिनका उद्भव राजस्थान में ही हुआ—तालिका इस प्रकार है—

नाम	प्रवर्तक	समय	प्रधान-स्थल
१. विश्नोई सम्प्रदाय[1]	जाम्भोजी	सं १५०८–९३	मुकाम (बीकानेर)
२. जसनाथी सम्प्रदाय[2]	जसनाथजी	सं १५३९-६३	कतरियासर (बीकानेर)
३. निरंजनी सम्प्रदाय[3]	हरिदासजी	सं १५१२-९५	डीडवाना (नागौर)

१—प्रमुख कवि–जसनाथजी, आलमजी, ऊदोजी, वील्हाजी, रेड़ाजी, सुरजनदासजी, केसोजी, परसरामजी, हीरानंदजी, रामचन्द्रजी, शिवदासजी, गंगादासजी, गोकुलदासजी, लालचंदजी, गोविन्दरामजी, माखनजी, भीमराजजी, श्यामदासजी।

२—प्रमुख कवि–जसनाथजी, हारोजी, रूपोजी, लालनाथजी, रुस्तमजी, देवोजी, पाचोजी, गोरखनजी, रामनाथजी, पालोजी, जीयोजी, मैचंदजी, दूदोजी, हरनाथजी, नाथोजी, टीकूंजी, रतनोजी, पेमोजी, सुरतोजी, ठुकरोजी, सरवणजी, सोमोजी, चोखोजी, सिरामजी, पैलादोजी, दयालनाथजी, चतरनाथजी।

३—प्रमुख कवि–हरिरामदासजी, रामदासजी, जगरामदासजी, चतुर्भुजदासजी, तुलसीदासजी, जगजीवनदासजी, ध्यानदासजी, मोहनदासजी, खेमदासजी, नरीदासजी, मनोहरदासजी, भगवानदासजी, सेवादासजी, आत्मारामजी, कल्याणदासजी, रघुनाथदासजी, रूपादासजी, प्यारेरामजी, उदयरामजी, सन्तदासजी, रतनदासजी, भाऊदासजी पूर्णदासजी, कोमलदासजी।

नाम	प्रवर्तक	समय	प्रधान-स्थल
४. लाल पंथ	लालदासजी	सं १५९७-१७०५	नगला (अलवर)
५. दादू पंथ या ब्रह्म सम्प्रदाय[1]	दादू	सं १६०१-६०	नराणा (जयपुर)
६. रामस्नेही: रैणशाखा[2]	दरियावजी	सं. १७३३-१८१५	रैण (नागौर)
७. रामस्नेही सींथल शाखा[3]	हरिरामदासजी	स. १७५४-१८३५	सींथल (बीकानेर)
८. रामस्नेही: खेडापाशाखा[4]	रामदासजी	सं. १७८३-१८५५	खेडापा (जोधपुर)
९. रामस्नेही: शाहपुरा शाखा[5]	रामचरणदासजी	सं. १७७६-१८५५	शाहपुरा (भीलवाड़ा)

१—प्रमुख कवि—दादूदयालजी, बखनाजी रज्जबजी, वाजिदजी, गरीबदासजी, जनगोपालजी, सुन्दरदासजी, बालकरामजी, भीषनजी, छीतरजी, खेमदासजी, अनंतदासजी, राघवदासजी।

२—प्रमुख कवि—दरियावजी, प्रेमदासजी, पूर्णदासजी, किशनदासजी, सुखरामदासजी, सुखरामजी, हरकारामजी, परमानदजी, रानांबाई, अ'माबाई, वीरमदासजी, राघोदासजी, सुखशरणजी, नानकदासजी, सहजरामजी, मनसारामजी, चतुरदासजी, टेमदासजी।

३—प्रमुख कवि-जैमलदासजी, हरिरामदासजी, बिहारीदासजी, हरिदेवदासजी, मोतीरामजी, रघुनाथदासजी, चेतनदासजी, नारायणदासजी, चैनरामजी आदूरामजी, पीरारामजी, उदैरामजी, केशवदासजी, जियारामजी, मोहनरामजी, मानदासजी।

४—प्रमुख कवि—रामदासजी, मनीरामजी, पीथोदासजी, निर्मलदासजी, लालदासजी, बुधारामजी, राघोदासजी, जाजूरामजी, कालूरामजी, सगरामदासजी, परसरामजी, बखतरामजी, दौलतरामजी, गुप्तरामजी, बालकदासजी, भावनादासजी, सालिगरामजी, आशारामजी, मनोहरदासजी, लक्षरामजी, कनीरामजी, आत्मारामजी, सीतलदासजी, रूमाबाई, अमृतरामजी, खेतारामजी, हेमदासजी, मोतीरामजी, भक्तिरामजी, सायबरामजी, उत्साहरामजी 'कलहंस', तुलछीदासजी।

५—प्रमुख कवि—रामचरणजी, रामजनजी, दुल्हैरामजी, हरिदासजी, रामसेवकजी, रामप्रतापजी, चेतनदासजी, कान्हड़दासजी, द्वारिकादासजी, भगवानदासजी, देवीदासजी, मुरलीरामजी, तुलसीदासजी, नवलरामजी, स्वरूपाबाई, मुक्तरामजी, सग्रामदासजी।

नाम	प्रवर्त्तक	समय	प्रधान-स्थल
१०. चरणदासजी सम्प्रदाय[1]	चरणदासजी	१७६०-१८३९	डेहरा (अलवर)
११. तेरापंथ सम्प्रदाय[2]	भीखणजी	१८१७-६०	केलवा (मेवाड़)
१२. जैहरि सम्प्रदाय	तारणदासजी	१८२२-१९३२	रतनगढ
१३. अलखिया सम्प्रदाय[3]	लालगिरि	१८६०-१९२५	बीकानेर
१४. गूदड पंथ	संतदासजी	—१८२२	दांतडा (मेवाड)
१५. माव पथ	मावजी		सावला (डूंगरपुर)
१६. आई पथ[4]	आईमाता	स. १४७२-१५६१	बिलाडा (जोधपुर)
१७. नवल पथ[5]	नवलनाथजी	१८४०-१९६५	जोधपुर

इन विभिन्न संत सम्प्रदायों के अलावा ऐसे सम्प्रदायों की संख्या तो काफी बडी है जिनका उद्गम तो राजस्थान से बाहर हुआ पर जिनको पनपने और फैलने का पूरा अवसर यहां मिला। उनके प्रमुख नाम इस प्रकार हैं—स्थानकवासी सम्प्रदाय (बाइस टौला), श्री सम्प्रदाय, रामावत सम्प्रदाय, कबीर-पथ, नानकपथ, राधास्वामी मत, नाथपथ, वल्लभ सम्प्रदाय, राकावत, खाकी, शाक्त, शैव, सूफीमत, लोकागच्छ, संवेगी, प्रणामी सम्प्रदाय, भट्टारक सम्प्रदाय, यति सम्प्रदाय, सेनपथ आदि।

१—प्रमुखकवि—चरणदासजी, रामरूपजी, सरसमाधुरीजी, सहजोबाई, दयाबाई, जागजीतजी, रामसखीजी, लक्ष्मणदासजी, बीधोदासजी।

२—प्रमुख कवि—भीखणजी, जयाचार्यजी, मघवागणि, कालूगणि, तुलसीगणि, वेणीरामजी, शोभजी।

३—प्रमुख कवि—लालगिरि, ध्यानगिरि।

४—प्रमुख कवि—सत सहदेव, तेजो, लूम्बा बाबा।

५—प्रमुख कवि—नवलनाथ, हरिरामजी, जियारामजी, बनानाथजी, सुखरामजी, उमारामजी, उम्मेदरामजी, अचलरामजी, उत्तमनाथजी, विवेकनाथजी।

संत साहित्य का अध्ययन : लक्ष्य बिन्दु

संत साहित्य का अब तक जो अध्ययन हुआ है वह केवल मात्र मध्य युगीन संत साहित्य को लेकर हुआ है। उसके अध्ययन में जो दृष्टि रही है वह मूलतः धार्मिक और प्रधानतः साहित्यिक रही है। जैसा कि कहा जा चुका है सत व्यक्तित्व वह व्यक्तित्व है जो संघर्ष और संक्रमण काल की देन है। इस आधार पर जब तक ऐतिहासिक क्रम और सभ्यता के विकास के साथ उसका अध्ययन नही होगा तब तक कई प्रकार की भ्रांतियां और सन्देह बने रहेंगे। संत साहित्य के अध्ययन-बिन्दु को लेकर सामान्यतः ये प्रश्न पूछे जा सकते हैं –

१. क्या संत साहित्य तत्कालीन युग का चित्र प्रस्तुत करता है ?

मेरा उत्तर है कि संत साहित्य में सांस्कृतिक घात–प्रतिघात से उत्पन्न जो परिस्थितियां हैं उनका सही और सटीक चित्र मिलता है। यह अवश्य है कि जब उसमे भक्ति–तत्त्व का अधिक समावेश होने लगा तब सामाजिक चेतना का स्वर थोड़ा दब गया पर वह नष्ट नहीं हुआ। संक्रमण काल में वह बार–बार प्रकट हुआ है।

२. क्या संत साहित्य तुष्ठीकरण की नीति का प्रतिपादक है ?

यह सही है कि संत साहित्य में समन्वय भावना, धार्मिक सहिष्णुता और बन्धुत्व की भावना का स्वर तीव्र रूप में सुनाई पड़ता है पर कभी उसने विरोधियों के आगे घुटने नहीं टेके। महावीर ने जिस स्याद्वाद या अनेकांत दर्शन का प्रतिपादन किया वह विरोधियों के साथ समझौता नहीं है वरन् अंशी को सम्पूर्ण अंशों में देखने का प्रयत्न है। हो सकता है कबीर की राम रहीम की एकता में या गांधी की हिन्दू–मुस्लिम एकता में किसी को तुष्टीकरण की बात नजर आये पर मेरी तो यह धारणा है कि संत साहित्य में जो संघर्ष की भावना है, वह मानव मूल्यों के प्रतिष्ठापन की लड़ाई है।

३. क्या संत साहित्य जीवन से पलायन करना सिखाता है ?

संतो के व्यक्तित्व और कृतित्व पर कुछ लोग यह दोषारोपण करते हैं कि वे पलायन वृत्ति के हिमायती थे और जीवन के संघर्षो से स्वयं दूर भागते थे और दूसरों को दूर भागने का उपदेश देते थे। पर यह सही दृष्टि

नहीं है। उनकी वाणियों में ब्रह्मलोक, सहस्रासार कमल, अनाहत नाद जैसे शब्दों को पाकर ऐसी कल्पना कर लेना मूल दृष्टि-बिन्दु को झुठलाना है। वे तो इस आदर्श को इसी पृथ्वी पर उतारना चाहते थे। मूलाधार चक्र में निहित जो विष (सूर्य) है वह सामाजिक विषमता, भेदभाव, दरिद्रता आदि का ही विष है। उसे विखेरने के लिए, नष्ट करने के लिए ही कुंडलिनी (शक्ति) को जागृत कर, ऊर्ध्वमुखी बनाकर बाधाओं (षट्चक्रों) को भेदकर ब्रह्मरंध्र में स्थित चाँद का अमृत पान करने का (स्वस्थ सामाजिक दशा लाने का) उद्बोधन ही उनकी वाणियों में है। उनके उपदेशों ने हमारी संस्कृति की रक्षा की है, जाति-पाँति का भेद भाव मिटाया है, पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी है। यदि ऐतिहासिक विकास क्रम के परिप्रेक्ष्य में उनके उपदेशों का मूल्यांकन किया जाये तो कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान में जो धर्म निरपेक्षता और जनतंत्रीय समाजवाद की भावना आई है, वह संतों की इन वाणियों का ही प्रतिफलन है।

४. क्या संत साहित्य सामाजिक विकार की व्याप्ति के लिए उत्तरदायी है?

वाममार्गी साधना में पंचमकार की उपासना को लेकर भी संतों पर आक्षेप लगाया गया है कि उन्होंने समाज में विकार फैलाया है। सच तो यह है कि वैष्णव भक्तों में राधा और कृष्ण की लीलाओं का जो प्रतिकार्थ है वही अर्थ पंचमकार उपासना का भी है। इस रहस्य को समझ लेने पर यह आक्षेप भी दूर हो जाता है। जैसा की विदित है संतों की साधना अन्तर्योग की साधना है। पिंड में ही अबाध आनन्द—महासुख प्राप्त करने की साधना है। अतः पंचमकार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन — का विशेष अर्थ है। ब्रह्मरंध्र में स्थित सहस्रदल कमल से स्रवित अमृत ही मद्य है।[1] जो साधक

१– (क) व्योम पंकजनिष्यन्दसुधापानरतो नरः।
मधुपायी समः प्रोक्तः इतरे मद्यपायिनः॥

—कुलार्णवतन्त्र

(ख) कुंडल्याः मिलनादिन्दोः स्रवते यत् परामृतम्।
पिबेद् योगी महेशानि सत्यं सत्यं वरानने॥

—योगिनी तन्त्र

ज्ञानरूपी खड्ग से पुण्य और पाप की बलि देता है, वही माम का सेवन करने वाला है[1] अथवा जो वाणी का संयम करता है वही मासाहारी है[2] गगा (इडा) यमुना (पिगला) में प्रवाहित होने वाला श्वास-प्रश्वास ही 'मत्स्य' है। श्वास-प्रश्वास का नियमन कर प्राण वायु को सुषुम्ना मे प्रवाहित करना ही मत्स्य-सेवन[3] है। असत् सग का त्याग कर सत्संग-सेवन ही मुद्रा है।[4] सुषुम्ना और प्राण का सगम ही मैथुन है।[5] यह अवश्य है कि आगे चलकर अनाधिकारी लोग इन्हें बाह्य और स्थूल अर्थ मे ग्रहण करने लग गये, और इस आधार पर सम्प्रदाय भी बने।

५. क्या आज के युग मे सत साहित्य की उपयोगिता है ?

संत साहित्य को जो लोग केवल धार्मिक महत्त्व की दृष्टि से देखते हैं शायद आज के भौतिक युग मे उन्हें उसकी उपयोगिता न दिखाई दे पर मैं तो सत साहित्य का विभिन्न क्रातियो के मोड पर स्थित मील के पत्थर की तरह मानता हूँ और इसलिए विश्वास करता हू कि सत साहित्य का महत्व वर्तमान क्षणो के लिए ही नही, भविष्य के लिए भी है। सम्यता

---

१ पुण्यापुण्यपशु हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित् ।
पर लव(?) नयेत् चित्त मासाशी स निगद्यते ॥
—कुलार्णवतत्र

२—मा शब्दात् रसना ज्ञेया तदंशान् रसनाप्रियान् ।
सदायो भक्षयेत् यस्तु स भवेत् मत्स्य साधक ॥ आगमसार ।

३—गगा यमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरत. सदा ।
तौ मत्स्यो भक्षयेत् यस्तु स भवेत् मत्स्य साधक ॥ —आगमसार

४—सत्सगेन भवेत् मुक्तिरसत्सगेषु बन्धनम् ।
सतसगमुद्रण यन्तु तनमुद्रा: परिकीर्तिता: ॥ विजय तत्र

५—इडा पिंगलयो:प्राणान् सुषुम्णाया: प्रवर्तयेत् ।
सुषुम्णा शक्तिरुद्दिष्टा जीवायन्तु (?) पर. शिव: ।
तथास्तु सगमो देवै: सुरत नाम कीर्त्तितम ॥
—मेरुतत्र

का यह चक्र तो गतिशील है। उसी के इर्द-गिर्द सत-साहित्य हमेशा लिपटा रहेगा। महावीर और बुद्ध ने जिस जीवन-दर्शन और तत्त्व-चिन्तन का प्रतिपादन किया वह आज भी हमारी जटिल समस्याओं के समाधान के लिए उपयोगी है।

आज की प्रमुख समस्या है अर्थजन्य सामाजिक विषमता को दूर करने की। इसके लिए मार्क्स ने वर्ग सघर्ष की पृष्ठभूमि मे शोषक और शोषित के अनवरत संघर्ष को अनिवार्य माना। उसने जीवन की अन्तस भाव-चेतना को नकार कर केवल भौतिक जडता को ही सृष्टि का आधार माना। पर इससे जो दुष्परिणाम हुआ, वह हमारे सामने है। हमे वैज्ञानिक प्रगति से गति तो मिली पर दिशा नही, शक्ति तो मिली पर विवेक नही, सामाजिक वैषम्य तो सतही रूप मे कम होता हुआ नजर आया पर व्यक्ति-व्यक्ति के मन की दूरी बढ़ती गई। वैज्ञानिक आविष्कारो ने राष्ट्रो की दूरी तो कम की पर मानसिक दूरी और बढी। व्यक्ति के जीवन मे धार्मिकता रहित नैतिकता और आचरण रहित विचारशीलता पनपने लगी। वर्तमान युग का यही सबसे बडा अन्तर्विरोध और सास्कृतिक सकट है। सतों ने पुरुषार्थ, शक्ति और आत्म-चिन्तन की जो लौ घर-घर मे प्रज्वलित की वह आज भटकती मानवता को सहारा दे सकती है। राजनीतिक विचार-धारा ने शनैः शनैः एकतत्र, कुलीनतत्र, जनतत्र आदि विभिन्न सरणियो को पार कर जिस लोकतत्र की प्रतिष्ठा की है, वह उसके बाह्य शरीर को ही पहचान सकी है। उसके अन्तस को पहचानने की क्षमता सत साहित्य मे है। सत साहित्य का विशाल सागर जब सही दृष्टि से मथा जायगा तब उसमें से स्वतत्रता, समानता, विश्व-बन्धुता और सहिष्णुता के जो रत्न निकलेंगे, वे ही मानवता का अभिषेक करेंगे, इसमे कोई सदेह नही।

सत साहित्य की सीमाएँ :

(१) सतों ने जाति-पाँति का विरोध किया पर कालान्तर में जातिगत सकीर्णता से वे स्वयं न बच सके। अलग-अलग जाति ने अपना एक सम्प्रदाय विशेष बना लिया और स्थिति यहाँ तक बिगडी कि जाति से सम्प्रदाय की पहचान होने लगी। इसका कारण शायद यह रहा कि सत विशेष की क्रातिमूलक विचारधारा को वे अनुयायीगण पचा न सके

और अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए उसे दबा बैठे, फैलने न दिया। यही कारण है कि हिन्दू-मुस्लिम निकट आने के बजाय सामान्यत. दूर होते गये।

(२) बाह्य आडम्बर और चमत्कार-प्रदर्शन का इन सतो ने खुलकर विरोध किया पर दोनो के ही तत्त्व काफी दूर तक इनमे घर कर गये। जिन तीर्थों की ये आलोचना करते रहे, कालान्तर मे इनके आलोचना-स्थल ही तीर्थ-स्थल बन गये। सतो के जन्म-स्थल, दीक्षा-स्थल, निर्वाण-स्थल, समाधि-स्थल पूजनीय बन गये और सैकडो अनुयायी दर्शनार्थ आने लगे, बडे-बडे मेले लगने लगे। जीवन सम्बन्धी चमत्कार तो इतने व्यापक हुए कि ये कथानक-रूढि के रूप मे व्यवहृत होने लगे। जो सत साधना के बल पर ऊचे उठे थे अब उनके जन्म के साथ ही चमत्कार जोड दिये गये और उन्हे साधारण व्यक्ति से विशेष सिद्ध करने की प्रवृत्ति चल पडी। इसके मूल मे साम्प्रदायिक प्रभाव बढाने की भावना काम करती रही है।

(३) परस्पर दूरी पैदा करने वाले विभिन्न मत-मतान्तरो और पथो का इन सतो ने विरोध किया पर इन्हीं सतो के नामो से अलग-अलग कई सम्प्रदाय बन गये और उनमे कट्टरता तथा सकीर्णता आ गई।

प्रश्न उठ सकता है पथो के ये इतने रूप क्यों बनें? सभव है तत्कालीन युग के लिए इनकी आवश्यकता रही हो। इस पथ-निर्माण के मूल मे साधना-पद्धति और विचार-दर्शन का भिन्नत्व अधिक नही है केवल आचार विषयक भिन्नताएँ हैं। यश-लिप्सा के नाम पर अलग-अलग आचार्यो ने अपने पथ खडे कर दिये। सामाजिक चेतना और सांस्कृतिक जागरण की प्रेरणा से भी सभव है मध्य युग में इन पथो की तत्कालीन आवश्यकता रही हो। जैसा कि कहा जा चुका है ये सत मूलत क्रांतिकारी थे और सक्रमणकालीन अव्यवस्था मे व्यवस्था स्थापित कर सस्कृति की रक्षा करना इनका मूल उद्देश्य था। आवागमन के साधन, सचार-व्यवस्था उस समय विकसित न थी। अलग-अलग क्षेत्रो में जहाँ जिसका अधिक विचरण रहता, वहा वह अधिक लोकप्रिय और प्रभावशाली बन बैठता। उस क्षेत्र के लोग उसी के प्रभाव मे रहते। इसीलिए विभिन्न क्षेत्रो म निर्मित ये पथ प्रारम्भ मे सास्कृति-रक्षण के गढ के रूप मे, प्रभाव क्षेत्र के रूप मे सामने आये और इनस लोक-चेतना को थामे रखने मे बडी मदद मिली। पर कालान्तर मे इन पथो का वह पवित्र उद्देश्य नष्ट हो गया और ये साम्प्रदायिक विद्वेष व घृणा के केन्द्र बन गये।

(४) प्रारम्भ में जो सम्प्रदाय-प्रवर्तक जिस जाति से संबंधित था, कालान्तर में उस सम्प्रदाय का उस जाति से कोई विशेष सम्बन्ध न रहा। यह तथ्य बड़ा मनोरंजक भी है और आँखें खोल देने वाला भी। रामदेवजी प्रसिद्ध लोक देवता रहे। वे तंवर क्षत्रिय थे। उनका प्रभाव सभी जातियों पर समान रूप से था पर धीरे-धीरे वे केवल मेघवाल जाति तक ही सीमित रह गये। रामदेवजी के मन्दिर आज सामान्यतः क्षत्रिय-बस्ती में नहीं दिखाई देते वे दिखायी देते हैं मेघवाल-बस्ती में। इन मन्दिरों के अधिकृत पुजारी भी मेघवाल ही होते हैं। इसी प्रकार जैन धर्म जो क्षत्रिय तीर्थंकरों द्वारा प्रवर्तित और प्रसारित हुआ वह सिमट कर सामान्यतः व्यापारी वर्ग तक ही सीमित रह गया। क्षत्रिय तीर्थंकरों ने जिस अहिंसामूलक क्रांति और जीव-दया का निरूपण किया, उसके स्थान पर कालान्तर में क्षत्रिय जाति में बलि-प्रथा का प्रचार बढ़ा और व्यापारी-वर्ग महावीर का अनुयायी होकर भी अपरिग्रह दर्शन को आत्मसात नहीं कर सका, केवल स्थूल अहिंसा को महत्त्व दे सका। जब तक इन तथ्यों का विश्लेषण मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के धरातल पर नहीं किया जाता तब तक संत साहित्य के प्रभावों को सही रूप से नहीं समझा जा सकता।

(५) जो सम्प्रदाय निर्गुणोपासक थे, उनमें भी धीरे-धीरे मूर्ति व चित्र-पूजन की परिपाटी चल पड़ी। निरंजनी सम्प्रदाय, राम स्नेही सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाएँ, दादू पंथ आदि सभी में मूर्ति-पूजन या चित्र-पूजन की परिपाटी है। यह इस तथ्य को प्रतिपादित करता है कि निर्गुण व सगुण के आधार पर संत-भक्त का भेद समीचीन नहीं। वस्तुतः संत-भक्त का भेद दृष्टिकोण का भेद है, जीवन-पद्धति का भेद है। जब इन सम्प्रदायों से क्रांति तत्त्व ओझल होने लगा, ऊर्जा शक्ति मंद पड़ने लगी तब-तब ये सम्प्रदाय अपने को बनाये रखने के लिए मूर्ति या चित्र का आश्रय ले बैठे। समाधि-स्थलों को पूजने की प्रवृत्ति इनमें सबसे अधिक दिखायी देती है।

(६) जैसा कि कहा जा चुका है संत संक्रांत युग की देन है। इस युग में पैदा होकर जिन संतों ने अपने उपदेश दिये, वे जीवन को प्रेरणा, शक्ति और विश्वास देने वाले हैं। पर एक संक्रांत युग और दूसरे संक्रांत युग के बीच जो सम्प्रदाय विशेष के आचार्य पैदा हुए उनकी वाणियों में कोई वैशिष्ट्य नहीं दिखायी देता। सच तो यह है कि उनका व्यक्तित्व संत

व्यक्तित्व की अपेक्षा भक्त व्यक्तित्व अधिक रह गया है। उनमें कोई नयी जीवन-दृष्टि नहीं रहीं। इसीलिए इस काल में वाणियों में पिष्टपेषण मात्र मिलता है। कबीर की वाणी में जो वैशिष्ट्य है, वह आगे चलकर कबीर पंथी संतों में न रहा।

(७) सर्व साधारण संत-वाणी की भावना को हृदयंगम कर सके, इस दृष्टि से जन-भाषा का प्रयोग तो इन संतों ने किया पर ऐसी कूट शैली और प्रतीक पद्धति को अपनाते रहे जिससे भाव दुर्बोध हो गये, शब्द-सम्पदा घटकर सीमित हो गई। शायद इस कूट शैली और प्रतीक पद्धति को अपनाने का कारण यह रहा कि जो साधना का मार्ग है, वह कठिन मार्ग है और अनधिकृत व्यक्ति के हाथ यह न पड़े अन्यथा दोनों का अहित होगा।

(८) संत साहित्य का अधिकांश भाग और कई संत सम्प्रदाय आज प्रकाश में नहीं हैं। ग्रामीण अंचल इन संतों की वाणी से अधिक प्रभावित हैं। उनकी वाणियाँ मौखिक अधिक हैं। उनका संकलन अपेक्षित है। जो वाणियाँ अप्रकाशित पड़ी हैं। उनका प्रकाशन होना आवश्यक है। प्रकाशन के क्षेत्र में दो कठिनाइयाँ हैं। सम्प्रदाय विशेष के लोग जागरूक नहीं हैं या उसका महत्त्व नहीं समझते। जो विद्वान रुचि लेते हैं उन्हें साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण सम्प्रदायानुयायी पूरी सामग्री दिखलाने में संकोच का अनुभव करते हैं। आशा है, यह भावना शीघ्र ही दूर होगी। जब तक संत साहित्य के प्रामाणिक पाठ और संत कवियों के जीवन का पता नहीं लगता तब तक संत साहित्य के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक अधिक नहीं कहा जा सकता। आशा है, ये बाधाएँ शीघ्र ही दूर होंगी और समग्र संत साहित्य का उचित मूल्यांकन हो सकेगा।

संक्षेप में कहा जा सकता है संत साहित्य ने सभ्यता के बढ़ते हुए चरणों और ऐतिहासिक परिवर्तन-बिन्दुओं को समझने में बड़ी मदद दी है। संत पुरुष लोक संस्कृति के उन्नायक और रक्षक रहे हैं। एक ओर लोक संस्कृति ने इनके व्यक्तित्व को बनाने में मदद की है तो दूसरी ओर लोक संस्कृति को इन्होंने अपने व्यक्तित्व का रस दिया है। हमारे समस्त लोक-व्यवहार, लोक-व्यवसाय, लोक-आचार इनकी वाणियों में झांकते प्रतीत होते हैं। इनकी वाणियों में जीवन का विलास नहीं वरन् जीवन के अनुभव का निचोड़ है, इसीलिए वह हमारे अधिक निकट है।

१५ 'ढोला मारू रा दूहा' में विरह-वर्णन

"ढोला मारू रा दूहा" विशुद्ध लौकिक प्रेम काव्य है । इसमें शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्ष बड़ी मार्मिकता के साथ चित्रित हुए हैं । इसका नायक ढोला प्रेम में आतुर है तो नायिका मारवणी प्रेम की साक्षात् अनुभूति और मालवणी प्रेम की सजीव मूर्ति ।

प्रेम काव्यों में प्रेम का विकास सामान्यतः चार प्रकार से होता है । प्रथावद्ध विवाह के रूप में, विवाह पूर्व प्रथम दर्शन के रूप में, विलासिता और कामजन्य विकृति के रूप में और स्वच्छ प्रेम के रूप में जो परस्पर गुण-श्रवण, स्वप्न-दर्शन या चित्र-दर्शन द्वारा अंकुरित होकर अंततः विवाह में परिणत होता है । कहना न होगा कि ढोला-मारू की प्रेम-प्रक्रिया में न तो काम की पीड़ा है न विलास की क्रीड़ा । वह स्वप्न के माध्यम से विकसित होता है । यों ढोला और मारवरा बचपन में ही प्रथावद्ध विवाह के बंधन मे बंध जाते हैं । पर दोनों को इसकी न स्मृति है न अनुभूति । यहाँ प्रेम का विकास स्वप्न के माध्यम से ही होता है । मारवणी सेज बिछा कर सोई हुई थी । स्वप्न में साल्ह कुमार (ढोला) मिला और वह जग कर प्रिय वियोग के कारण निश्वास भरने लगी—

'असइ आखइ मारूणी, सूती सेज बिछाइ ।
साल्ह कुँवर सुपनइँ मिल्यउ, जागि निसासउ खाइ ।।' (१४)

यही कारण है कि यहाँ विप्रलंभ शृंगार और मानसिक पक्ष की प्रधानता है तथा संयोग शृंगार और शारीरिक पक्ष गौण ।

"पद्मावत" की भांति "ढोला मारू रा दूहा" में प्रेम का आविर्भाव नायक के हृदय मे नहीं हुआ है। 'पद्मावत' मे जहाँ प्रेमी को पाने का प्रयत्न नायक रत्नसेन की ओर से होता है वहाँ 'ढोला मारू रा दूहा' मे यह प्रयत्न नायिका मारवणी की ओर से होता है, क्योंकि सूफी प्रेम काव्यो मे प्रेम की तीव्रता नायक मे होती है जबकि भारतीय प्रेम काव्य में नायिका मे। आगे चल कर नायक और नायिका दोनो मे प्रेम की गति समान हो जाती है। सूफी काव्य मे प्रदर्शित प्रेम 'एकांतिक, आदर्शात्मक और लोकबाह्य' होता है जबकि भारतीय काव्यो मे प्रदर्शित प्रेम लोक- समन्वित और व्यावहारिक होता है। वह कर्तव्य का विरोधी नहीं बल्कि सपोषक होता है।

'ढोला मारू रा दूहा" मे चित्रित प्रेम जितना सहज, अकृत्रिम और लौकिक है उतना ही शास्त्रीय भी। आचार्यों ने विप्रलम्भ शृंगार के चार भेद माने हैं। पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुणा। बधी बधाई शास्त्रीय लीक पर न चलते हुई भी 'ढोला मारू रा दूहा' में विरह के ये प्रकार किसी न किसी रूप मे ढूंढ जा सकते है।

यद्यपि मारवणी का ढोला के साथ विवाह हो चुका है तथापि उसमे काम-भावना का समावेश स्वप्न-मिलन के बाद ही होता है। अतः ढोला से प्रत्यक्ष मिलन न होने तक की अवस्था पूर्वानुराग ही कही जायगी। 'ढोला मारू रा दूहा' मे विरह-वर्णन के दो मुख्य स्थल हैं—एक तो पूर्वानुराग के रूप मे मारवणी का विरह-निवेदन और दूसरा प्रवत्स्यत पतिका के रूप मे मालवणी का आकुल क्रन्दन। यो तो पीवणा सांप के पी जाने पर मारवणी की मृत्यु होने पर ढोला मे भी विरह जनित वेदना उत्पन्न होती है और वह उसके साथ जल मरने की तैयारी कर लेता है, पर ढोला के विरह की विशुद्ध व्यंजना न होने से विरह के प्रमुख दो ही स्थल यहाँ हैं।

मारवणी का विरह वर्णन :

मारवणी प्रेम की भाँति कोमल, मधुर और सुन्दर है। स्वप्न में ढोला का मिलन उसे व्यथित कर देता है। उसमे प्रिय-मिलन की अनन्त उत्कंठा और तीव्र उत्सुकता के भाव जाग उठते हैं। सिर को हथेली पर रखे हुए प्रेम रस मे निमग्न मुग्धा मारवणी विरह रूपी प्रलयकालीन मेघ की थाह खोजती है। कभी चातक की भाँति ऊँची चढकर प्रिय का मार्ग

देखती है, कभी पपीहे की भाँति विलाप करती है, कभी पावस ऋतु के विभिन्न उपादानों से अपना साम्य स्थापित करती है—

> बाबहियउ नइ विरहणी, दुहुवा एक सहाव ।
> जब ही घरसउ घण घणउ, तबइ कहइ प्रियाव (२७)

कभी पपीहे को उपालम्भ देती है—

"प्रिउ मेरा मइँ प्रीउ की, तूँ प्रिउ कहइ स कूण" और कभी बिजलियों का बादल के साथ आलिंगन करते हुए देखती है तो अभिलाषा प्रकट करती है—

> (१) बीजुलियाँ चहलावहलि आभइ आभइ च्यारि ।
> कद रे मिलउली सज्जना, लाँबी बाँह पसारि । (४५)
>
> (२) बीजुलियाँ चहलावहलि, आभय आभय कोडि ।
> कद रे मिलऊँली सज्जना, कस कचूकी छोडि । (४६)

प्रिय-मिलन की कितनी उत्कण्ठा, कितनी व्यग्रता ? किसी के प्रति कोई ईर्ष्या नहीं, कोई आक्रोश नहीं । केवल शुद्ध और निष्कपट प्रेम का अप्रतिम उदाहरण ।

सयोग में सुख के प्रतीक—बादल, बिजली, दादुर, मोर, जलाशय मारवणी को सताते हैं । पर वह क्या करे ? केवल यही कह कर रह जाती है कि मैं अकेली सेज पर सोई हुई हूँ । अरे देव, अरे देव, मैं हा हा खाती हूँ, मुझे मत मार—

'सूती सेजइँ एकली, हइ हइ दइव म मारि"

मारवणी सयोग-आनन्द मे लीन बिजलियों को अपना दुखडा सुनाती है, पर वे सहानुभूति दिखाने के बदले जब और चमकती है तो वह निराश होकर झुझला कर बादल की शरण लेती है और निवेदन करती है—"बिजलियाँ तो निर्लज्ज हैं । रे जलधर, तू ही लज्जित हो, मेरी शैय्या सूनी है । मेरा प्यारा विदेश मे है इसलिये तू मधुर, मधुर शब्द से गरजः—

'विज्जुलियाँ नीलज्जियाँ, जलहर तूँ ही लज्जि ।
सूनी सेज, विदेस प्रिय, मधुरइ मधुरइ गज्जि ।।' (५०)

मारवणी का विरह इतना अधिक तीव्र है कि सारस और क्रौंच पक्षी भी उसके करुण विलाप से द्रवीभूत होकर उसके प्रति संवेदना प्रकट करते है। 'पद्मावत' मे नागमती पर भी एक पक्षी को दया आती है और वह उसके प्रेम-संदेश को ले जाने को तैयार हो जाता है। मारवणी प्रिय-मिलन के लिये इतनी अधिक व्यग्र है कि वह कुरझों से कहती है—

कुँझा द्यउ नइ पंखड़ी, थाँकउ विनउ वहेसि ।
सायर लंघी प्री मिलउँ, प्री मिलि पाछी देसि (६२)

उत्तर दिसि उपराठियाँ, दक्षिण सांमहियाँह ।
कुरझाँ, एक संदेसड़उ ढोला नइ कहियाँह ।। (६४)

उत्तर में कुरझें अपनी असमर्थता प्रकट करती है—

"म्हें कुरझाँ सरवर तणी, पाँखा किणहि न देस ।
भरिया सर देखी रहाँ, उड आघेरि वहेस ।। (६३)

माणस हुवाँ त मुख चवाँ, म्हें छाँ कूँझडियाँह ।
प्रिउ सदेसउ पाठविसु लिखि दे पंखड़ियाँह ।। (६५)

विरही हृदय की अभिलाषाएँ भी बडी विचित्र होती हैं। मारवणी जब अत्यन्त उत्कठित हो उठती है तब सामने के पर्वतों को देखकर अभिलाषा प्रकट करती है—

'ज्यूँ ए डूँगर संमुहा, त्यूँ जई सज्जन हुंति ।
चंपा वाड़ी भमर ज्यूऊँ, नयण लगाइ रहंति । (७३)

प्रेमी हृदय की उच्च कोटि की आत्मसमर्पण और आत्मोत्सर्ग की मार्मिक भावनाएँ मारवणी की इन अभिलाषाओ मे व्यक्त होती हैं—

जिण देसे सज्जण वसइ, तिणि दिसि वज्जउ वाउ ।
उआँ लगे मो लग्गसी, ऊँही लाख पसाउ । (७४)

'ढोला-मारू' के विरह-वर्णन का सबसे मार्मिक स्थल है मारवणी का संदेश। यह संदेश परम्परागत संदेशों से किंचित भिन्न है। इसमें प्रेम की तीव्रता, कोमलता और मधुरता का सन्निवेश है। जहाँ अन्य संदेश विरही हृदय की नैराश्यमयी और निरुद्देश्य भावनाओं के रूप में विक्षिप्त प्रलाप प्रतीत होते हैं और करुणा और शोक, हतोत्साह तथा निराशा के भार से दबे रहते हैं, वहाँ मारवणी का संदेश आशागर्भित, सोद्देश्य और स्फूर्तिमय है। इस संदेश में एक प्रेमी का अपने प्रेम पात्र के साथ सान्निध्य का भाव भरा हुआ है।[1] मारवणी का यह संदेश उपालम्भ पूर्ण कम, औत्सुक्य-पूर्ण अधिक है। वह अपने प्रिय के चरणों में अपने जीवन का सर्वस्व समर्पित करने की उत्कट भावना लिये हुए है। ढाढ़ियों को अपनी स्थिति का बोध कराती हुई वह कहती है—

"पंजर नहि छइ प्राणियउ, थाँ दिस झल रहियाह"।

और निवेदन करती है कि ढोला से जाकर कहना कि—

१. 'ढाढी, एक संदेसड़उ कहि ढोला समझाइ।
जोंवण आँबउ फलि रह्यउ, साख न खाग्रउ आइ ॥११७॥

२. ढाढी, जइ प्रीतम मिलइ, यूँ दाखविया जाइ।
जोवण छत्र उपाड़ियउ, राज न बइसउ काइ ॥११८॥

३. ढाढी, जइ साहिब मिलइ, यूँ दाखविया जाइ।
जोवण कमल विकासयउ, भमर न बइसइ आइ ॥११९॥

४. जोवण पाँपड मउरियउ, कलो न छुहइ आइ ॥१२०॥

५. कण पाकउ करसण हुअउ, भोग लियउ घरि आइ ॥१२१॥

६. आँख्याँ सीप विकासियाँ, स्वातिज वरसउ आइ ॥११६॥

इस निवेदन में यौवन को भेंट करने की उत्सुकता है। वह अपने त्याग और आत्मसमर्पण की भावना को ही व्यक्त नहीं करती, वरन् प्रिय के प्रति अपने एकनिष्ठ प्रेम की भी व्यंजना करती है। 'साकेत' में उर्मिला

१—ढोला मारू रा दूहा की भूमिका, पृ० ८०

ने भी अपने प्रिय के चरणो मे यौवन की भेंट देने की भावना प्रकट की है। मारवणी का यौवन रूपी हस्ती मदोन्मत्त हो गया है। कौन उसे अंकुश मे रक्खे ? प्रिय के बिना कौन उसे वश मे कर सकता है ?

> ढाढी जे राज्यंद मिलइ, यूं दाखविया जाइ।
> जोवण हस्ती मद चढ्यउ, अंकुश लइ घरि आइ ॥११५॥

कितनी विवशता, मतवालापन और अभिलाषा ?

'मारवणी के इस सदेश मे उसकी जागृत मानसिक दशाग्रो की उथल-पुथल और भाव विकारो का मनोवैज्ञानिक चढाव-उतार बडी मार्मिक सूक्ष्मता के साथ दिखाया गया है। अपनी हृदयगत पीडा को मारवणी अनुनय विनय, क्षोभ, पश्चाताप, आशका, भय, प्रार्थना इत्यादि के रूप मे विविध प्रकार मे व्यक्त करती है। मारवणी के विलाप और संदेश मे शृंगार के निर्वेद आदि ३३ व्यभिचारी भावो मे से बहुतों का समावेश हुआ है।[1] क्षोभ और लाचारी का भाव कैसी मनोज्ञता के साथ व्यक्त हुआ है—

> ढाढी एक संदेसडउ प्रीतम कहिया जाइ।
> सा धण बलि कुइला भई, भसम ढंढोलिसी आइ। ॥११२॥

> ढाढी, एक सदेसडउ, ढोलइ लगि लइ जाइ।
> जोवण फट्टि तलावडी, पालि न बधउ काइ ॥(१२१)

इसी प्रकार—

१. तन मन उत्तर वालियाउ, दक्खिण वाजइ आइ ॥१२६॥

२. वँण कँगलाँणी कमदणी, सिसहर ऊगइ आइ ॥१२९॥

३. वँण कँमलाँणी कँमलणी, सूरिज ऊगइ आइ ॥१३०॥

मारवणी विरह व्यथित अवश्य है, पर उसमे विवेक का लोप नही। वह पतिव्रता नारी की भाँति अपने कर्तव्य के प्रति सजग है। यदि ढोला फाल्गुन और चैत्र मे नही आया तो वह स्वय घोडो पर जीन

१—ढोला मारू रा दूहा की भूमिका, पृ० ८१

फसेगी [या चर्चरी नृत्य के मिस खेलती हुई होली की ज्वाला में प्राणों की आहुति दे देगी। विरह की व्यथा के साथ वीरता की यह अनुभूति अत्यन्त दुर्लभ है।

जइ तूं ढोला, नावियउ, कइ फागुण कइ चेत्रि।
तउ म्हे घोड़ा बांविस्यां, काती कुड़ियां खेत्रि (१४६)

फागुण मासि वसंत रुत आयउ जइ न सुणेसि।
चाचरिकइ मिस खेलती, होली झंपावेसि (१४५)

निराशा के घने अन्धकार में भी प्रिय-मिलन का आशाजन्य प्रकाश उसे झिलमिलाता हुआ दृष्टिगत होता है। वह अपने अनन्त विश्वास के साथ कह उठती है—

हियड़इ भीतर पइसि करि, ऊगउ सज्जण रूँख।
नित सूकइ नित पल्हवइ, नित नित नवला दूँख ।।१५८।।

आशा-निराशा का यह धूप-छाँही आँसू भरा व्यक्तित्व कितना करुण और मधुर है। प्रेम की एकनिष्ठ भावना का सबसे अधिक आदर्श और क्या हो सकता है कि वह प्रियतम के पाँवों की जूती है और प्रिय उसके गले का हार—

हूँ बलिहारी सज्जणां, सज्जण मो बलिहार।
हूं सज्जण पग पानही, सज्जण मो गलहार ।।१७६।।

मालवणी का विरह-वर्णन :

ढाढ़ियों से संदेश सुन कर ढोला का मन मारवणी के प्रति आकर्षित होता है पर वह मालवणी को कैसे छोड़े ? मालवणी उसकी सच्ची प्रेमिका है और वह उसका सच्चा प्रेमी। यात्रा का बहाना बनाकर ढोला प्रेम के इस संकट से पार होना चाहता है पर मालवणी इस भुलावे में नहीं आती। वह आमरण से अधिक प्रिय को प्यार करती है, वह ढोला के मन के रहस्य को समझ लेती है। वह ढोला से यह सुनकर कि मो मारू मिलिवातणी, खरी विलग्गी खति" धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ती है 'जाणे डसी भुयंगि'। यद्यपि यह विरह की पूर्वावस्था है, पूर्ण विरह नहीं।

विरह की दारुण चिन्ता से मालवणी किंकर्तव्य विमूढ़ नहीं होती। वह साहसशीला नारी की भाँति अपने बुद्धिबल से ग्रीष्म, वर्षा और शरद् ऋतु को यात्रा के लिये अनुपयुक्त प्रमाणित कर ढोला को एक वर्ष के लिये यात्रा से रोक लेती है। मालवणी की आक्षेप-उक्तियों में उत्तम कोटि का व्यंग्य भी है, प्रेम की उत्कट अनुभूति भी है और है विरह-विदग्ध आत्मा का आकुल-क्रंदन भी।

ढोला जब जाने को उद्यत होता है तब मालवणी अन्तिम प्रयत्न के रूप में ऊँट से निवेदन करती है कि वह लंगड़ा हो जाय। ऊँट के प्रति यह विनय भरी करुण उक्ति प्रेमातुर अवस्था की प्रतीक है। हजार प्रयत्न करने पर भी जब ढोला नहीं रुकता और चला जाता है तब मालवणी के पास मंगल-कामना के अतिरिक्त शेष रह ही क्या जाता है? वह हित-कामना करती हुई कहती है—

"थे सिध्घावउ सिध करउ, बहु गुणवंता नाह (३४०)

पर उसके हृदय में व्यथा का जो वेग है, वह उससे कैसे कहने दे कि 'आप जायें'। ऐसी जीभ के सौ-सौ टुकड़े क्यों न हो जाय। "सा जीहा सत 'खंड हुइ, जेण कहीजई जाह'। इस पंक्ति में कितना उच्च कोटि का 'वेदना पूर्ण आक्षेप व्यंग्य है'।

ढोला के चले जाते ही मालवणी के अंग-प्रत्यंग शिथिल हो गये, जड़ हो गये। हाथ की चूड़ी खिसक कर नीचे आ गई। (हाथे चूड़ी खिस पड़ी, ढीला हुआ संवाण (३४६) विरह के नगारे बज उठे (वाज्या विरह निसांण) पालकी साँप हो गई (पालंखी विसहर भई) महल श्मशान हो गये (मंदिर भयउ मसाँण) आँख कटोरे सी भर गई, हार अंगार बन गया। सुख देने वाले सभी साधन दुख पूर्ण बन गये। उसकी बेचैनी और आलस्य का कैसा भावुक शब्द चित्र है कि वह लाल कमान की तरह व्यथा-शिथिल कटि मोड़ रही है—

"सायधण लाल कबाँण ज्यउँ, ऊभी कड़ मोड़ेह" (३५५)

प्रिय के अभाव में उसे कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती। पानी पीती है पर गले से नीचे नहीं उतरता, साँस हृदय मे नहीं समाती "गळे थ न

पाणी ऊतरइ, हिये न मावइ सांस (३५८)

विरहजन्य शून्यता और निराशा का व्यंग्य चित्र देखते ही बनता है—

ढोलइ चढि पड़तालिया, डूँगर दीन्हा पूठि ।
खोजे वावू हुथ्थड़ा, धूड़ि भरेमी मूठि ।।३६१।।

सयणाँ पाँखाँ प्रेम की, तहँ अब पहिरी तात ।
नयण कुरंगउ ज्यूँ वहइ, लगइ दीह नइँ रात ।।३६४।।

साल्ह चलंतइ परठिया, आंगण बीखड़ियाह ।
सो मइँ हियइ लगाडियाँ, भरि भरि मूठड़ियाँह ।।३६६।।

प्रेम की एकनिष्ठता, तल्लीनता और तादात्म्य भाव का इससे बढ़कर क्या परिचय हो सकता है कि वातावरण में सब ओर प्रेमी ही प्रेमी की प्रतिमा दिखाई दे जिससे विरहविधुरा प्रेमिका वायु को भी प्रेमी की प्रतिमा के भ्रम से आलिंगन करने लगे, रात दिन नेत्र प्रेमी की खोज में भटकते फिरें और प्रेमी के पद चिन्ह की धूलि को मुट्ठियां भर-भर कर छाती से लगाकर प्रेयसी अपने उद्वेग को शान्त करने की चेष्टा करे ।[1]

मालवणी का विरह वर्णन विरह के प्रवास रूप का मार्मिक चित्र है। आचार्यों ने विरह की जो एकादश अवस्थाएँ बतलाई हैं प्रायः उन सभी का विकास मालवणी के विरह वर्णन में मिलता है। विरहजन्य जड़ता का एक उदाहरण देखिए—

ओछड़ताँ ही सज्जणा, क्याँ ही कहण न लब्ब ।
तिण वेला, कंठ रोकियउ, जाणक सिंघा खब्ब ।।३८१।।

विरह के मान और करुणात्मक रूप की व्यंजना के लिये यहां स्थान नहीं है। ढोला के मुख से मारवणी का नाम सुनकर मालवणी सामान्य नायिका की भाँति मान कर सकती थी पर उसमें ईर्ष्या मान की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। इसके विपरीत वह साहस से काम लेती है।

१—ढोला मारू रा दूहा की भूमिका, पृ० ६१

काव्य के अन्त में नायक ढोला दोनों नायिकाओं के साथ आनन्द-क्रीडा करता है। मारवणी साँप के पीने से मर भी जाती है पर शिव-पार्वती का योग पाकर वह पुनः जीवित हो उठती है। परम्परागत विरह वर्णन की भांति 'ढोला मारू रा दूहा' में भी एक-आध स्थल पर ऊहात्मक वर्णन मिलता है। यथा—

(१) राति ज रूँनी निसह भरि, सुणी महाजनि लोइ।
हाथाली छाला पड़्या, चीर निचोइ निचोइ ॥१५६॥

(२) प्रीतम तोरइ कांरणइ, ताता भात न खाहि।
हियड़ा भीतर प्रिय वसइ, दाझणती तरपाहि ॥१६०॥

पर रीतिकालीन कवियों की तरह ये करामात नहीं लगते। इनसे सवेदना मे किसी प्रकार की कमी नही आने पाई है। फारसी पद्धति की तरह यहाँ विरह के साथ बीभत्स भावो की व्यजना नही की गई है वरन् विरह के साथ वीर भावो की व्यंजना कर, राजस्थानी साहित्य की मूलभाव धारा की रक्षा की गई है। इस विशुद्ध, निर्मल, सात्विक और स्वाभाविक विरह-वर्णन पर सौ-सौ ताजमहल और शत-शत मेघदूत न्यौछावर हैं।

---

१६ 'क्रिसन रुक्मणी री वेलि' का काव्य सौष्ठव

राजस्थानी साहित्य में जो वेलि काव्य की परम्परा चली उसमें पृथ्वीराज कृत 'क्रिसन रुक्मणी री वेलि' ने मूर्धन्य स्थान प्राप्त किया है। यह सहृदय रसिकों का हार, भावुक भक्तों की माला और पंडितों की कसौटी रही है। कहीं इसे 'अमृत वल्ली' कह कर अमृत की तरह फलवती, कहीं 'गुणवेलि' कह कर भगवान के गुण कीर्तन की अक्षय निधि और कहीं 'मंगल' कहकर सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाली बतलाया गया है।

इसके रचयिता राठौड़ पृथ्वीराज उस युग की देन हैं जब भक्तिकाल और रीतिकाल आंख-मिचौनी खेल रहे थे। उनमें एक ओर मरु-हृदय को स्निग्ध करने वाली प्रेम की अन्तःसलिला प्रवहमान थी तो दूसरी ओर मारू बाजे की गुरु गंभीर उद्घोषणा को जन्म देने वाली वीरत्व व्यंजनी धड़कन थी।

वेलि में कृष्ण और रुक्मणी की विवाह कथा का निबन्धन है। कथा का मूल आधार भागवत पुराण है। भागवत के दशम स्कन्ध के उत्तरार्द्ध के अध्याय ५२, ५३, ५४ में रुक्मणी की कथा आई है, परन्तु कवि ने इस कथा को केवल बीज रूप में स्वीकार किया है—

> वेली तसु बीज भागवत वायउ,
> महि थाणउ प्रिथुदास मुख। (२९१)

काव्य सौष्ठव तथा वर्णन शैली में उसकी अपनी मौलिकता है।

श्री नरोत्तमदास स्वामी ने दोनों में निकट अथवा दूर के भाव साम्य के १४ स्थल उद्धृत करते हुए दोनों की कथा में २५ अन्तर बतलाये हैं।[१]

'वेलि' एक खण्ड काव्य है पर यह साधारण खण्ड काव्य नहीं है। निम्नलिखित बातें उसके खण्ड काव्य होने में सन्देह उत्पन्न करती हैं–

(१) खण्ड काव्य में नायक या नायिका के जीवन की किसी एक ही घटना या प्रसंग को लेकर रचना की जाती है पर वेलि में रुक्मणी की कथा उसके बाल्य-काल से लेकर पौत्र-प्राप्ति तक ली गई है।

(२) खण्ड काव्य की दृष्टि से काव्य का अन्त रुक्मणी के विवाह के साथ ही हो जाना चाहिये था पर यहाँ काव्य का मध्य ही होता है।

(३) काव्य में आये हुए लम्बे वर्णन महाकाव्य के ही उपयुक्त हैं, खण्ड काव्य के उपयुक्त नहीं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'वेलि' का शरीर चाहे महाकाव्य की ऊँचाई का स्पर्श न कर पाया हो पर उसकी आत्मा में पाठकों को 'उत्तेजित, करुणाभिभूत, चकित और स्तम्भित' करने की शक्ति है।

'वेलि' की सम्पूर्ण कथा को स्थूल रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में कृष्ण-रुक्मणी के विवाहोपरान्त मिलन और प्रभात वर्णन (छंद १८६) तक का भाग सम्मिलित है। उत्तरार्द्ध में षट ऋतु वर्णन, वेलि माहात्म्य, कवि विनय (छं० १८७-३०५) आदि आते हैं, जिनका मूल कथा से सीधा सम्बन्ध नहीं है। कथा में अलौकिक तत्त्वों का भी समावेश किया गया है। ऐसे चार स्थल हैं। पहला स्थल उस समय का है जब ब्राह्मण कहने के पहले ही चन्देरीपुरी में जा पहुँचता है। (३६) दूसरा स्थल ब्राह्मण के कुण्डलपुर मे सोकर द्वारिका में जगने का है (४७) तीसरा स्थल रुकमणी के रूप को देखकर समस्त सेना के मूर्च्छित होने का है (११०) और चौथा स्थल रुक्मकुमार के काटे हुए केशों को फिर से उगा देने का है। (१३७)

कृष्ण काव्य के नायक और प्रमुख पात्र हैं। कवि ने उनको परब्रह्म

१– स्वसपादित वेलि की प्रस्तावना, पृ० ३९–४०

और मानव दोनों रूपों में देखा है। परब्रह्म रूप में वे निर्गुण और सगुण दोनों हैं। मानव रूप में वे आदर्श प्रेमी, सच्चे वीर, लोकप्रिय शासक और सद्गृहस्थ हैं। उन्हें कवि पृथ्वीराज का वीरत्व और स्वाभिमान मिला है। अन्य कृष्ण काव्य धारा के कवियों की तरह वे माखन-चोर, मुरलीधर और रासविहारी नहीं हैं। उनका कर्त्तव्यनिष्ठ वीर व्यक्तित्व हमें आकर्षित करता है। उनका रुक्मणी-हरण चोर कृत्य नहीं है। उसके पीछे स्वाभिमानी निर्भीक आत्मा की पुकार है—

वाहरि रे वाहरि, छई कोई वर।
हरि हरिणाखी जाई हरि। (११२)

रुक्मणी काव्य की नायिका है। वह लक्ष्मी का अवतार है। वह मानसरोवर में हंस शावक की तरह क्रीड़ा करती है। और मेरु पर्वत पर स्वर्णलता की तरह प्रस्फुटित होती है।

रामा अवतार नाम ताइ रुपमणि,
मान सरोवरि मेरु गिरि।
वालकति करि हंस चौ बालक,
कनक वेलि बिहुँ पान किरि। (१२)

उसके व्यक्तित्व में शील और लज्जा का अद्भुत मिश्रण है। माता-पिता के आगे "काम विराम छिपाड्न काज" उसे लज्जा आती है ऐसी लज्जा कि "लाज करन्ति आवइ लाज" (१८) देवी-पूजा के लिये जाते समय उसका शील उभर आता है और वह सखियों के बीच ऐसी लगती है मानों "सील आवरित लाज सूं"। पति से मिलने जाते समय भी इस गजगामिनी के पैरों में लज्जा के लंगर पड़ जाते हैं और चाल धीमी पड़ जाती है—

लाज लोह लंगरे लगाए,
गय जिमि आणि गय गमणि (१६७)

वेलि का प्रधान रस संयोग शृंगार है। रुक्मणी के रूप-चित्रण और शृंगार-चित्रण के तीन स्थल हैं। प्रथम स्थल में उसकी बाल्यावस्था,

वय:सन्धि और यौवनागम का वर्णन किया गया है। उसके शरीर का विकास अद्भुत गति से होता है।

> अनि वरसि वधै ताइ मास वधैए
>
> वधै मास ताइ पहर वधन्ति (१३)

उसके शरीर मे शैशव की सुषुप्ति है, यौवन की जागृति नहीं, स्वप्नावस्था के समान वय.सन्धि है—

> सैसव तनि सुखपति, जोवण न जाग्रति,
>
> वेस सन्धि सुहिणा सु वरि। (१४)

धीरे-धीरे मुख में लालिमा प्रकट होती है। पयोधर उभरते हैं, लज्जा प्रवेश करती है—

> पहिली मुख राग प्रगट थयौ प्राची,
>
> अरुण कि अरुणोद अम्बर।
>
> पेखे किरी जागिया पयोहर,
>
> सभा वदण रिखेसर। (१६)

एक साथ इतना आध्यात्यमय और वासनामय वर्णन विश्व साहित्य में भी दुर्लभ है।

दूसरे स्थल में देवी-पूजन के लिये जाते समय रुक्मणी शृंगार करती हैं। इस नख-शिख-निरूपण में कवि ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। (८१-१०२) तीसरे स्थल में वह नव परिणिता वधू के रूप में अपने प्रियतम से मिलने जाती है।

श्री कृष्ण शंकर शुक्ल ने वेलि के सयोग शृंगार को संभोग शृंगार माना है[1] जो उचित नहीं कहा जा सकता। रीतिकालीन कवियों सी मासलता और कामुकता यहाँ नहीं है। यहाँ जो शृंगार है वह आध्यात्मिक भावालोक से विमंडित (१५, १६, ५६, ६६) और सात्विकता के लेप से सुवासित है (१०३, १६८, १७५) यह ठीक है कि विवाह सस्कार के बाद यहाँ भी रति-सस्कार की भूमिका प्रस्तुत की गई है पर नायक-नायिका मे जो आतुरता (७०, १६५), उत्सुकता (४३, १७०, १७१), विवशता,

१—स्वसपादित वेलि की भूमिका, पृ० ३५

(१६१,१८१), लज्जा (१८, १६७), सकोच (७१) है, वह उनके मर्यादित श्रृंगार की मूक घोषणा है।

श्रृंगार के वियोग पक्ष के लिये कथा में नहीं के बराबर स्थान रहा है। मान, प्रवास और करुण प्रसगो को छोडकर केवल पूर्वानुराग का चित्रण किया गया है, वह भी केवल श्रवण के द्वारा—'सामलि अनुराग थयो मन स्यामा', फिर भी वियोग की अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन आदि अवस्थायें उसके प्रणय-विकास मे सहायक होती हैं। सच तो यह है कि वियाग सयोग की पीठिका के रूप मे ही प्रयुक्त हुआ है।

डा० रामकुमार वर्मा का यह कथन—'पृथ्वीराज प्रेम की मादकता का रसास्वादन कराने मे तत्पर थे। यही कारण है कि प्रेम के सामने भक्ति के निर्वेद पूर्ण आदर्श रखने मे वे असमर्थ थे'[1]। इसलिये नही माना जा सकता कि वेलि का आदि (१ से ७) मध्य (५६ से ६६) और अन्त (२७८ से ३०५) भक्ति भावना की प्राण-स्पन्दना लिये हुए है।

संक्षेप में निम्नलिखित बातें वेलि को श्रृंगार काव्य बनने से रोकती हैं—

१. कवि ने यद्यपि इसे 'श्रृंगार ग्रंथ' (८) कहा है पर इसका बीज (आधार) धर्म ग्रन्थ भागवत मे विद्यमान है। इसीलिये अन्त मे जाकर वेलि को 'रुक्मणी मंगल' (२८६) कहा है।

२. नायक कृष्ण को जगह-जगह मगल रूप(५१), जगत्पति (५४) अन्तर्यामी(५४, ६४), असरण-सरण(५८), कृपानिधि(६७) आदि कहा है, और नायिका रुक्मणी को भी रामावतार (१२)

३. रुक्मणी का पत्र (छन्द ५६ से ६६) किसी प्रेयसी का पत्र न होकर उस जीवात्मा का पत्र है जो परमात्मा के साथ जन्मान्तरवाद का सम्बन्ध जोड़ती है।

४. द्वारिका केवल कृष्ण का निवास स्थान न होकर पुष्टि मार्ग के अनुसार अमरावती ही है (५१)

१—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (द्वितीय संस्करण) पृ० २५७

५. काव्य का स्वरूप-विधान भक्ति काव्यों की परम्परा सा है। अतः यहां भी—

(क) प्रारंभ में मंगलाचरण, हरि-गुण-वर्णन, कार्य की दुष्करता, और कवि की असमर्थता का कथन है (१ से ७)

(ख) अन्त में वेलि की पाठ-विधि का उल्लेख किया गया है (२८०)

(ग) विस्तार पूर्वक वेलि का माहात्म्य गाया गया है (२७८-२९४)

शृंगार के पश्चात् दूसरे रसों में वीर रस को प्रधानता मिली है। इसकी व्यजना के लिये कवि ने शस्त्र संचालन की विधि (११८, ११९, १३१) शत्रुओं की पारस्परिक ललकार (११२, ११३, ११४, १२३, १३०) सैन्य संगठन आदि का ओजमय चित्रण प्रस्तुत किया है। एक दो जगह शत्रुओं को बहुरुपिया बना कर (११३) तथा बलराम को व्यग्य मिश्रित हंसी हंसा कर (१३५) सफल हास्य की सृष्टि द्वारा वीर रस को सहायता पहुंचाई है। रौद्र (१३१) वीभत्स और भयानक (१२०) रस भी वीर रस के ही सहायक बन कर आये हैं।

प्रकृति-चित्रण के लिये कवि ने बड़ी कुशलता के साथ कथानक में मार्मिक स्थल चुन लिये है। प्रकृति का फलक महाकाव्योचित गरिमा को लेकर फैला हुआ है। कहा जा सकता है कि कवि राजप्रासादों के उद्यानो और नारी के अनद्य सुन्दर अवयवों तक ही सीमित नहीं रहा है। उसकी विशाल दृष्टि ने जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों मे भी गहरी दौड़ लगाई है।

संक्षेप मे प्रकृति-चित्रण के निम्नलिखित स्वरूप वेलि मे देखे जा सकते हैं—

(१) सन्ध्या-प्रभात आदि के वर्णन।

(२) षट् ऋतु-वर्णन।

(३) अलंकार-विधान।

सन्ध्या-प्रभात वर्णन के दो-दो स्थल हैं। पहला स्थल ब्राह्मण के प्रसंग को लेकर है और दूसरा स्थल कृष्ण-रुक्मणी की प्रथम मिलनोत्कण्ठा को लेकर। दूसरे स्थल पर सन्ध्या प्रेमियो के लिये संकोच और विस्तार लेकर आती है। रति इच्छुक कृष्ण को एक साथ इतनी वस्तुएँ—पथिकों

की पत्नियों की आँखें, पक्षियों की पाँखें, कमलों की पंखुड़ियाँ और सूर्य की किरणें--संकुचित होती हुई दिखती हैं तो चन्द्रमा की किरणें, कुलटा स्त्रियाँ, राक्षस और अभिसारिकाओं की आंखें विस्तृत होती हुई । यहां कवि केवल रूढ़ि का पालन करता हुआ नजर नहीं आता। वह प्रकृति के साथ मानव—जीवन की व्यस्तता और नायक-नायिका की प्रेम सम्बन्धी संकोच-विस्तार की भावना को समेटे चलता है। *षट्ऋतु-वर्णन कथानक को विराम देता* है, कवि परिपाटी का पालन करता है और प्रद्युम्न के जन्म के लिये पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है । संक्षेप मे षट्ऋतु-वर्णन की निम्नलिखित विशेषतायें हैं।

(१) अप्रत्यक्ष रूप से बारहमासा का वर्णन भी कर दिया गया है। बीच-बीच में महीनों का नामोल्लेख इसका संकेत करता है, पर यह वर्णन परम्परागत विरह वर्णन से सम्बन्धित नहीं है।

(२) प्रत्येक मास के परिवर्तन पर राशि, नक्षत्र एवं कोण के प्रभाव का सूक्ष्म विचार किया गया है।

(३) ऋतु परिवर्तन के साथ-साथ हमारे सांस्कृतिक गौरव- त्यौहार, पर्व, देव-दर्शन, पूजन आदि को भी याद किया गया है।

(४) परिगणनात्मक शैली से दूर हटकर देश-काल का सम्यक् ध्यान रक्खा गया है। राजस्थान की ऋतुओं तथा दृश्यों का समावेश इसका परिचायक है।

(५) जगह-जगह प्रकृति को शृंगारिक बनाकर नायिका-भेद का निरुपण किया गया है। मलय पवन वर्णन में नायक भेद निरुपण स्पष्ट है।

(६) प्रत्येक ऋतु के आरम्भ का चित्रण आलम्बन रूप में सामने आता है पर अन्त में कृष्ण-रुक्मणी के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ कर उसे उद्दीपन का रूप दे दिया गया है।

(७) ऋतु वर्णन मे कवि ने अपने काव्य शास्त्र, लोक ज्ञान एवं मानव-प्रकृति का जी खोलकर प्रयोग किया है। अलंकारो के पारस स्पर्श से सारा वर्णन जगमगा उठा है।

कला पक्षः

पृथ्वीराज का कवि कारीगर और कलाबाज दोनों है। कारीगर ऐसा कि जो अपनी कृति को पद-पद पर सजाना-संवारना जानता है और कलाबाज ऐसा कि जो पाठकों और श्रोताओं को मुग्ध किये रहता है।

वेलि की भाषा साहित्यिक डिंगल है। उसमें भावानुरूप बहने की शक्ति है। शृंगार रस में यदि वह 'मदोन्मत्त मारुत मातंग' की तरह "मधुमद स्रवति" है तो वीर रस में "कलकलिया कुन्त किरण कलि ऊकलि"। शब्दों को अनावश्यक रूप से तोड़ा मरोड़ा नहीं गया है।

कवि का ब्रज और डिंगल दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है। फिर भी जिस प्रकार उसने वेलि के लिये भाषा के चुनाव में अपना कौशल प्रकट किया है उसी प्रकार शब्द-चयन में भी अपना भाषा नैपुण्य। शब्दों की आत्मा को पकड़ने की कवि मे अद्भुत क्षमता है।

(१) रुक्मणी बालिका है अतः उसके लिये जो उपमान प्रयुक्त हुए हैं वे भी बालक हैं, प्रौढ़ नहीं--

(क) कनक-वेलि बिहु पान किरि (१३)

(ख) पेखि कली पद्मणी परि (१४)

(ग) उडियगु बीरज अम्बहरि (१४)

(घ) नीतंबणि-जघ सु करभ निरुपम (२६)

यदि कोई दूसरा होता तो केवल कनक लता, पद्मिनी, चन्द्रमा और हाथी से ही काम चला लेता।

(२) रुक्मणी कृष्ण को संदेश भेजने के लिये अत्यन्त आतुर है। ब्राह्मण को देखते ही उसके मुख से शब्द निकलते हैं-"वीर वटाऊ, ब्राह्मण' (४४)

(३) कवि शृंगार ग्रंथ की रचना कर रहा है पर है पद-पद पर साज-सज्जा। अतः "गुंथीयइ" शब्द कितना सार्थक है---"गुंथियइ जेणि सिंगार ग्रंथ" (८)

(४) वाक्हीन की तुलना मे सरस्वती या भारती की जगह

'वागेसरी' शब्द कितना उपयुक्त है—'वागहीणि वागेसरी' (३)

इन्ही विशेषताओं को ध्यान मे रख कर डा० मोतीलाल मेनारिया ने लिखा है, "जिस प्रकार एक चतुर सुनार किसी नग की ठीक ठीक परीक्षा कर लेने के पश्चात् फिर उसे आभूषण मे बिठाता है उसी तरह पृथ्वीराज ने भी प्रत्येक शब्द को खूब सोच-विचार कर पूरी तरह से शोध माज कर वेलि मे स्थान दिया है। अतः कोई शब्द कहीं बेमौके नही है । प्रत्येक शब्द चित्रोपम, भावापयुक्त एवं उपादेय है और अपने स्थान पर ठीक बैठा है।"

कवि में चित्र खडा कर देने की अपूर्व शक्ति है। पवन की मन्द गति के चित्रण की वर्ण-योजना ऐसी है कि पढते समय बीच-बीच मे रुकना पड़ता है—

मधुमद स्रवति, मन्द गति मल्हपति,
मदोमत्त मारुत मातग (२६३)

रुक्मणी को सखियाँ कृष्ण के पास ले जा रही हैं। वह लज्जा के कारण रुक-रुक कर चलती है—

लाज लोह लगरे लगाये,
गय जिमि आणि गय गमणि । (१६७)

पंक्ति के पूर्वार्द्ध में ठहर-ठहर कर दीर्घ वर्णों का प्रयोग किया गया है जिससे जिव्हा को बीच-बीच मे रुकते हुए चलना पडता है।

वेलि म शब्दालकार और अर्थालकार दोनो प्रचुर मात्रा मे आये हैं। शायद ही कोइ ऐसा छन्द हो जो अलकृत न हो। ऐसे छदो की सख्या भी पर्याप्त है जिनमे एक साथ चार-चार, पाच पाच अलकार प्रयुक्त हुए हैं। सभी स्वाभाविक गति से चले हैं। उनम कारीगरी है पर कृत्रिमता नही, चमत्कार है पर दिमागी कसरत नही। सामान्यत दो-दो पक्तिया तक अनुप्रास का निर्वाह किया गया है—

१ वहु विलखी वीछडती वाला,
बाल सघाती बालपण (१७)

२. कामणि कुच कठिन कपोल करी किरि
वेस नवी विवि वाणि वखाणि। (२४)

३. तेज कि रतन कि तार कि तारा,
हरि हंस सावक, ससहर हीर। (२७)

वयणसगाई शब्दालंकार का प्रयोग तो सर्वत्र हुआ ही है

अर्थालंकारों की दृष्टि से भी वेलि सम्पन्न काव्य है। श्री नरोत्तमदास स्वामी के अनुसार उसमें ४० से ऊपर अर्थालंकार प्रयुक्त हुए हैं। श्री कृष्ण शंकर शुक्ल ने कवि के अलंकार विधान की निम्नलिखित विशेषतायें बतलाई हैं।[1]

१. कवि साधारण से साधारण बात को अनलंकृत नहीं छोड़ता। (छंद १४३-१४६)

२. कवि प्रस्तुत के सब अंगों पर ध्यान रखता है और अप्रस्तुत नियोजित करते समय सांग-विवरण के साथ ही पूरे दृश्य के प्रभाव पर भी दृष्टि रखता है (छंद १२, १४, १९, १४१, २३५)

३. कवि की अलंकार-योजना प्रसंग प्राप्त भाव से सदा समन्वित रहती है। यह समन्वय रूपात्मक तथा भावात्मक दोनों प्रकार का होता है। (८१, ८२)

४. कवि एक प्रस्तुत के मेल में अनेक अप्रस्तुतों की सृष्टि करता चलता है। (१०७)

कवि ने सबसे अधिक प्रयोग उत्प्रेक्षा का किया है, तदन्तर उपमा और रूपक का। वह उपमान-चयन में शास्त्रीय लीक पर नहीं चला वरन् प्रकृति और जीवन को भी नजदीक से देखता रहा है। इसीलिए पद-पद पर नवीनता, ताजगी और प्रभावना के दर्शन होते रहते हैं। डा० मोतीलाल मेनारिया के शब्दों में—स्वरूप बोध और भावोत्तेजन की दृष्टि से इनकी योजना हुई है। हमारे प्राचीन कवि प्रायः आँख की उपमा कमल से, मुख की

१—स्वसंपादित वेलि की भूमिका, पृ० ५१–६२

चन्द्रमा से देते आये हैं। इन उपमाओं में कथित विषय का पूरा दृश्य सामने नहीं आ पाता। पर पृथ्वीराज की उपमाओं में यह बात नहीं है। वे अपनी उपमाओं में न केवल उपमेय-उपमान का साधर्म्य कथन करते हैं प्रत्युत दोनों के आसपास के पूरे वातावरण को भी शब्दों में ला उतारते हैं। जिससे भाव सजीव होकर जगमगाने लगता है। यथा—

संग सखी सील कुल वेस समाणी,
पेखि कली पदमणी परि।
राजति राजकुंअरि राय अंगण,
उडियण वीरज अम्ब हरि (१४)

यहाँ पर कवि ने रुक्मणी की उपमा चन्द्रमा से देकर ही अपने कार्य की इतिश्री नहीं कर दी है बल्कि रुक्मणी की सखियों की समता तारों से दिखाकर दोनों के आस पास के समूचे वातावरण का शब्द-चित्र सामने ला रक्खा है।[1]

पृथ्वीराज रूपकों के सम्राट हैं। इनके निम्नलिखित रूपक साहित्य-संसार में सर्व श्रेष्ठ माने जाते हैं।

(१) वसन्त और शिशु का रूपक, (२२९-३८) (२) वसन्त और राजा का रूपक (२३९-४२) (३) वसन्त और महफिल का रूपक (२४३-५५) (४) युद्ध और वर्षा का रूपक (११७-२६) (५) लुहार और कृष्ण का रूपक (१३२) (६) जुलाहे का रूपक (१७१) (७) मुख मण्डल और रथ का रूपक (८९)

वेलि में प्रयुक्त छन्द छोटा साणोर है। इसके तीनों भेद-वेलियो, सोहणो और खुड़द साणोर-यहाँ व्यवहृत हुए हैं।

वेलि के कारण पृथ्वीराज को अत्यन्त प्रसिद्धि मिली। आढ़ा दुरसा ने वेलि को पांचवा वेद और १९ वा पुराण कहा। नाभादास ने "भक्तमाल" में पृथ्वीराज को नर और देव दोनों भाषाओं में निपुण कविराज बता कर नो रसों के काव्य का निर्माता कहा। विदेशी विद्वानों में डा० टेसीटोरी ने

१—राजस्थानी भाषा और साहित्य (द्वितीय संस्करण) पृ० १६६—६७

इन्हे "हॉरेस इन डिंगल" कहा तो कर्नल टॉड ने इनकी कविता मे दस सहस्र घोडे का बल बतलाया है ।

वेलि की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि राजस्थान के प्राचीन पुस्तकालयों और जैन भडारो मे शायद ही कोई ऐसा मिलेगा जहाँ इसकी दो चार प्रतियाँ सुरक्षित न हो। 'रामचरित मानस' और 'विहारी सतसई' की भाति वेलि पर भी अनेक टीकायें लिखी गई ।[1] वाचक सारङ्ग की "सुबोध मजरी सस्कृत टीका" लाखा चारण की मारवाडी टीका, गोपाल लाहोरी कृत वेलि का ब्रज भाषा में पद्यानुवाद इस सन्दर्भ मे विशेष उल्लेखनीय हैं ।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि शृंगार के साथ-साथ वीर भावो को लपेटने वाले कवि तो कई हुए हैं पर शृगार और शील को साथ में रख कर चलने वाला कवि यह एक ही हुआ है। इसके साथ चलने वाले यानी शृगार की उद्दाम मस्ती मे मतवाले भी बनते हैं और शील की सौरभ से पवित्र भी होते हैं ।

१—विशेष विवरण के लिए देखिए—लेखक का शोध प्रवध 'राजस्थानी वेलि साहित्य', राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर द्वारा प्रकाशित ।

१७ हम्मीर रासो : मूल्य और मीमांसा

भारतीय संस्कृति और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अपना जीवनोत्सर्ग करने वाले वीरों का यशोगान करना भारतीय साहित्यकारों का प्रधान लक्ष्य रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कई 'रासो' संज्ञक काव्य रचे गये। 'हम्मीर रासो' इसी प्रकार का काव्य है। इसमें शरणागत प्रतिपालक, दृढ़व्रती वीर हम्मीर का ओजपूर्ण व्यक्तित्व वर्णित है।

हम्मीर भारतीय इतिहास-गगन का जाज्वल्यमान नक्षत्र है। कवियों, इतिहासज्ञों और लोकगायकों ने हम्मीर के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। उनके हठ के सम्बन्ध में यह दोहा कहावत की भांति प्रचलित है—

> 'सिंह गमन सुपुरुष वचन, कदली फलत इक बार।
> तिरिया तेल, हमीर हठ, चढ़ै न दूजी बार' ॥

हम्मीर नाम के दो व्यक्ति हो गये हैं। एक चित्तौड़ के सिसोदिया वंशीय हम्मीर और दूसरे रणथंभौर के चौहानवंशीय हम्मीर। दोनों व्यक्तियों को एक मान लेने से इतिहास जगत में काफी भ्रम फैला है। 'हम्मीर रासो' के नायक का सम्बन्ध रणथंभौर के चौहान वंशीय हम्मीर से है।

ये हम्मीर राव जैतसिंह के पुत्र थे। इन्होंने अपने स्वाभिमान और टेक की रक्षा के लिए मरते दम तक प्रतिपक्षियों से लोहा लिया। इनके चरित्र में वे सब गुण विद्यमान हैं जो व्यक्ति को मातृभूमि व अपनी आन

के लिए मर मिटने की प्रेरणा देते हैं। इनके वीर व्यक्तित्व का प्रभाव जन-मानस पर शताब्दियों तक छाया रहा। यही कारण है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी व ब्रजभाषा में इन पर कई काव्य रचे गये।

हम्मीर विषयक साहित्य :

संस्कृत मे जैन कवि नयचन्द्र सूरि रचित 'हम्मीर महाकाव्य' में हम्मीर की सम्पूर्ण जीवनगाथा अंकित है। यह महाकाव्य इतिहास के अधिक निकट और प्राचीन आधारों पर आश्रित है। सं० १५३८ में रचित माण्डउ व्यास का 'हम्मीरायण' दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें भी हम्मीर और उसके जीवनोत्सर्ग की कथा विस्तार पूर्वक गाई गयी है।

'प्राकृत-पैंगलम्' में हम्मीर के वीरोल्लास और आतंक की बड़ी सुन्दर व्यंजना की गई है। हम्मीर अपनी प्रेयसी से शत्रुओं के विरुद्ध रणांगण में जाने की अनुमति मांगता हुआ कहता है—हे सुन्दरी, पांव छोड़ दो, हे सुमुखि हसकर मुझे खड्ग दो। शत्रुओं के शरीर को काटकर हम्मीर निश्चय ही तुम्हारे दर्शन करेगा–

> मुंचहि सुन्दरि पाअं, अप्पहि हसिऊण सुमुहि खग्गं मे।
> कप्पिअ मेच्छशरीरं पच्छइ व अणाइ तुम्ह धुअ हम्मीरो।

शत्रुओं के विरुद्ध जब हम्मीर प्रयाण करता है तो सर्वत्र खलबली मच जाती है। उसके भय और आतंक का क्या कहना ? उसकी सेना के पैर के बोझ से पृथ्वी दल दी गई, सूर्य का रथ धूल मे ढंक गया, कमठ की पीठ तड़क गई, सुमेरु तथा मंदराचल की चोटियां कांप उठीं। वीर हम्मीर हाथियों की सेना से सुसज्जित होकर क्रोध से रण-यात्रा के लिए निकला। शत्रुओं के पुत्रों ने बड़े कष्ट के साथ हाहाकार किया तथा वे मूर्च्छित हो गए—

> पअभरु दरमरु धरणि तरणिरह धुल्लिअ झंपिअ,
> कमठ पिट्ठ टरपरिअ मेरु मंदर सिर कंपिअ।
> कोह चलिअ हम्मीर वीर गअजूह संजुत्ते,
> कि अउ कट्ठ हाकंद मुच्छि मेच्छह के पुत्ते।।

शार्ङ्गधर का हम्मीर विषयक उल्लेख और वर्णन भी पर्याप्त

प्राचीन है । उनके अनुसार हम्मीर शौर्य मे अर्जुन के समान और परोपकार मे बृहस्पति के समान प्रख्यात थे ।

मैथिल कोकिल विद्यापति रचित 'पुरुष परीक्षा' मे भी हम्मीर की कथा आई है। यहाँ हम्मीर को दयावीर के रूप मे चित्रित किया गया है।

कवि मल्ल रचित 'रणथभार रै राणं हमीर हठालै रा कवित्त' वीर रस के मूर्तिमान चित्र हैं। हम्मीर शत्रु-पक्ष के दूत से स्पष्ट कहता है—जो मैं बादशाह के सामने सिर झुकाऊँगा तो सूय आकाश मे न उदित होगा, यदि मै कर दूँगा तो हरि, हर, ब्रह्मा और सुकृत सब विसृष्ट होंगे। मैं पुत्री को देने की कहू तो जीभ के टुकडे-टुकडे हो जायेंगे—

अरक गयरा न उगै, साह जो सीस नवाऊँ ।
हरिहर वेव वीसरै, सुकर जी डड महाऊँ ।
दीयरा धीह जब देवू, तबह जाय जीह तडक्के ।

भाट खेम के भी इस सदर्भ के कवित्त मिलते हैं।

चन्द्रशेखर कृत 'हम्मीर हठ' और ग्वाल कवि के 'हम्मीर हठ' मे काफी समानता है । इसी प्रकार महेश के 'हम्मीर रासो' और जोधराज के 'हम्मीर रासो' में भी पर्याप्त साम्य है ।

इन विभिन्न हम्मीर विषयक स्वतत्र काव्य कृतियो के अतिरिक्त भी अन्य काव्य ग्रथो मे हम्मीर को उपमान के रूप मे प्रस्तुत किया गया हैं। इनसे हम्मीर के त्याग और बलिदान की कथा की लोकप्रियता व प्रभाव-गरिमा आकी जा सकती हैं।

श्रीधर कृत 'रणमल्ल छन्द' मे एक राठौड वीर के उपमान के रूप मे हम्मीर का प्रयोग हुआ है —

हम्मीर ने शीघ्र ही सुल्तान की फौज का सहार किया, अब वही अकेला श्रेष्ठ वीर रणमल्ल करता है—

'हम्मीरेण त्वरित चरित सुरताण फोज सहरणम् ।
कुरुत इदानीमेको वर वीरस्त्वव रणमल्ल ' ॥

'अचलदास खीची री वचनिका' में भी हम्मीर का कई स्थलों पर उल्लेख हुआ है। जब हुसंगशाह की फौज चलती है तो लोग पूछते हैं कि 'बादशाह किसके विरुद्ध बढ़ रहा है। अब तो सोम, सातल, कान्हड़दे नहीं है। हठीला राव हम्मीर भी अस्त हो चुका है।' अन्यत्र अपनी रानियों के सामने जौहर के आदर्श को उपस्थित करता हुआ अचलेश्वर कहता है 'कल ही के दिन तो रणथम्भोर में राज हम्मीरदेव के घर में जौहर हुआ था, उन जौहरों में जो हुआ वही तुम पूरा कर दिखाओ'।

'कान्हड़दे प्रबन्ध' का रचयिता पद्मनाभ भी हम्मीर का स्मरण करना नहीं भूलता। जब अल्लाउद्दीन की सेना गढरोव छोड़कर जाने लगी तो हम्मीर का पदानुगमन करने की इच्छा से वीर कान्हड़दे भी कहता है—

> तुझ वीनवूं आदि योगिनी, पाछा कटक आणि तूं अनी।
> हमीररायनी परि आदरूं, नाम ग्रहमारउ उपरि करउं॥

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि हम्मीर का जीवन वीर भावना का प्रतीक तथा भारतीय वीरों का आदर्श रहा है।

'हम्मीर रासो' का कथानक :

जोधराज कृत 'हम्मीर रासो' की रचना नीमराणा के राजा चन्द्रभान की आज्ञा से सं० १८८५ में की गई। इसमें इतिहास-तत्त्वों की अपेक्षा काव्य तत्त्व अधिक हैं। इतिहास की प्रायः उपेक्षा की गई है। इसके कथानक में हम्मीर के पूर्वजन्म का प्रसंग भी पर्याप्त विस्तार से वर्णित है।

ग्रंथ के आरंभ में सृष्टि-रचना का पौराणिक दृष्टि से वर्णन करते हुए चन्द्र एवं सूर्य वंश का सम्बन्ध, आबूराज पर्वत पर यज्ञ और चहुआनों की उत्पत्ति का आलेखन है। इसी चहुआन वंश में बारहवीं शती के पूर्वार्द्ध के आरम्भ में राव जैतराव उत्पन्न हुए। एक दिन शिकार खेलने के प्रसंग में जैतराव एक वाराह के पीछे पड़ गये और दौड़ते-दौड़ते एक गंभीर वन में पहुँच गये जहाँ पद्म ऋषि का आश्रम था। ऋषि से आशीर्वाद पाकर जैतराव ने वहीं रणथंभगढ की नींव डाली। ऋषि यहाँ रहकर उग्र तपस्या करने लगे। इन्द्र ने उनकी तपस्या के प्रभाव से अपदस्थ होने के भय से आशंकित होकर, कामदेव को उन्हें तप से विचलित करने का दायित्व

सौंपा । कामदेव ने अपनी सहकारी षट् ऋतुओं की मदद से ऋषि का तप भ्रष्ट कर दिया । जिस अप्सरा पर ऋषि मुग्ध थे वह अन्तर्धान हो गई । इस घटना ने पद्म ऋषि को अन्तर्निरीक्षण करने की प्रेरणा दी । आत्म-ग्लानि के वशीभूत होकर अन्ततः ऋषि ने पश्चाताप करते हुए अपना शरीर त्याग दिया । फलस्वरूप पद्म ऋषि के मस्तक से अल्लाउद्दीन वक्षस्थल से राव हम्मीर, भुजाओं से महिमाशाह और मीर गमरू, चरणों से उर्वशी अर्थात् अल्लाउद्दीन की बेगम रूपविचित्रा का अवतार हुआ ।

हम्मीर जैतराव के घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुए और अल्लाउद्दीन गजनी मे शहाबुद्दीन के घर जन्मे । एक बार अल्लाउद्दीन अपने अमीर उमराओ तथा बेगमो के साथ शिकार खेलने निकला । अकस्मात् तूफान आने से सब लोग इधर-उधर भटक गये और बेगम रूपविचित्रा अकेली एक निर्जन एव भयानक प्रांत मे पहुँची । शीत एवं भय के कारण वह थर-थर काँप रही थी कि महिमाशाह उधर आ निकला । महिमाशाह ने उसे भगिनीवत् मानकर सुरक्षित स्थान पर पहुँचाना चाहा पर बेगम के अत्यधिक आग्रह पर उसने उसकी मनोकामना पूर्ण की और एक ही बाण से विकराल सिंह का वध कर अपनी वीरता का परिचय दिया ।

तूफान शांत होने पर बेगम को पाकर अल्लाउद्दीन की प्रसन्नता की सीमा न रही । एक दिन आधी रात को राजमहल में रूपविचित्रा के पास बैठे हुए बादशाह ने अचानक निकले चूहे को एक ही बाण से मारकर अपने पुरुषार्थ की दुहाई दी । इस पर बेगम ने मुस्कराकर कहा—'पुरुषार्थी मनुष्य वे होते हैं जो इसी अवस्था में सिंह को सहज ही मारकर शेखी की बात नहीं करते ।' यह सुनते ही बादशाह के आश्चर्य और क्रोध की सीमा न रही । बादशाह के अत्यन्त आग्रह करने पर और बड़े से बड़े अपराध को क्षमा कर देने का आश्वासन पाकर बेगम ने मीर महिमाशाह के साथ घटित सारा वृत्त कह सुनाया । पर इस घटना ने बादशाह को विचलित कर दिया और वह महिमाशाह को देश निकाले का दंड दे बैठा ।

अल्लाउद्दीन का इतना अधिक आतंक था कि कोई भी महिमाशाह को आश्रय न दे सका । अन्ततोगत्वा राव हम्मीर के दरबार मे उसे शरण मिली । राव हम्मीर ने मर मिट कर भी अपने शरणागत की रक्षा की । अल्लाउद्दीन

और राव हम्मीर के विग्रह का, दूतों द्वारा पारस्परिक संदेश-प्रेषण का, हम्मीर की टेक का, हम्मीर के चाचा व छाड़गढ के स्वामी राव रणधीर के युद्ध-कौशल का, रानी आसुमती की दोनों राजकुमारों को प्रेरणादायक विदाई और उनके आत्म-बलिदान का ओजस्वी वर्णन इस ग्रंथ की विशेषता है।

भारतीय वीरों में वैयक्तिक वीरता की कमी नहीं थी पर पारस्परिक फूट और वैमनस्य के कारण उन्हें मुँह की खानी पड़ी। यहाँ भी हम्मीर का कोषाध्यक्ष सुरजनसिंह कृतघ्नी निकला। छाड़गढ़ किले की प्राप्ति का लोभ कर उसने झूठमूठ ही राव हम्मीर के पास जाकर कहा कि 'श्रीमान् रसद बरदास्त और गोली बारुद के खजाने चुक गए है, इसलिए किले मे रहकर अपने हठ एवं मान-मर्यादा की रक्षा होनी कठिन है, इसलिए वचन मानकर महिमाशाह को अल्लाउद्दीन के पास भेजकर उससे सुलह कर लीजिए।' पर हम्मीर ने उसकी बात पर विश्वास नही किया और घमासान युद्ध हुआ। महिमाशाह और भील सरदार भोजराज ने युद्ध में बड़ी वीरता का परिचय दिया और स्वामिधर्म का पालन करते हुए स्वर्ग सिधारे।

हम्मीर की वीरता से प्रभावित होकर अल्लाउद्दीन विचलित हो उठा। उसने संधि का प्रस्ताव भेजा पर हम्मीर ने यह कह कर टाल दिया कि 'युद्धस्थल में उपस्थित होकर मित्रता का प्रस्ताव करना भला कौनसी नीति और बुद्धिमत्ता का काम है। शत्रु के सम्मुख विनती करना नितान्त कायरता अथवा दंभमय चतुरता है।' और अपने सैनिको को आज्ञा दी कि वे अल्लाउद्दीन को पकडकर सामने लायें। बादशाह को अपने सामने देखकर भी वीर हम्मीर ने उनका वध नहीं किया। उन्हें अदंड्य समझकर छोड़ दिया।

हम्मीर की विजयी सेना बादशाही सेना से छीने हुए निशान आदि लेकर दुर्ग की ओर बढ़ी। शाही निशानों को आगे देखकर रानीजी ने समझा कि राव हम्मीर युद्ध में मारे गये और बादशाही सेना दुर्ग पर अधिकार करने बढी आ रही है। ऐसी स्थिति मे उनके सम्मुख कर्तव्य मार्ग निश्चित था। अपने सतीत्व की रक्षा के लिए उन्होंने परिवार की अन्य सभी वीर महिलाओं के साथ प्रज्वलित अग्नि में शरीर होम कर साका किया।

राव हम्मीर ने किले में आकर जब यह हृदयद्रावक दृश्य देखा तो

उनके पश्चाताप की सीमा न रही। आत्म-ग्लानि करते हुए उन्होंने सैनिकों को तो आज्ञा दी कि वे चित्तौड़ जाकर कुँवर रतनसेन की रक्षा करें और स्वयं शिव-मंदिर मे जाकर पूजन-अर्चन मे लीन हो गये। भक्तप्रवण हृदय से श्रद्धाभिभूत होकर उन्होंने शिवजी से वरदान मांगा कि अब मैं पुनः जन्म धारण करूं तो इसी प्रकार वीर क्षत्रिय कुल मे। और खड्ग खींच-कर अपने ही हाथो से कमल पुष्प के समान अपना मस्तक उतार कर शिवजी के चरणों में चढ़ा दिया। उनका आत्म-बलिदान जितना कारुणिक है उतना ही वीर भावों का द्योतक भी।

अल्लाउद्दीन ने राव हम्मीर के आत्म-बलिदान की जब यह कहानी सुनी तो वह पश्चाताप करता हुआ स्वयं रावजी के सम्मुख उपस्थित हुआ और बड़े अदब से प्रणाम करके बोला—अब मुझे क्या आज्ञा है? राव हम्मीर ने उत्तर दिया कि तुम जाकर समुद्र मे शरीर छोडो, तब हम तुम मिलेंगे। इस पर अल्लाउद्दीन शाहजादा अलावृत्त को तख्त पर बिठलाने की व्यवस्था कर स्वयं तत्क्षण रामेश्वर की ओर प्रयाण कर गया। वहाँ पर उसने रामेश्वरजी की पूजा की और उन्हीं का ध्यान तथा स्मरण करते हुए समुद्र में कूद कर अपनी जीवन लीला समाप्त की।

इस प्रकार बादशाह के शरीर छोडने पर राव हम्मीर, अल्लाउद्दीन और मीर महिमाशाह तीनों का परस्पर स्वर्ग में मधुर मिलन हुआ। अप्सराओं और देवताओं ने पुष्प-वृष्टि कर प्रसन्नता व्यक्त की।

कथानक की समीक्षा :

इस कथानक के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस ग्रंथ का प्रमुख पात्र राव हम्मीर यद्यपि ऐतिहासिक व्यक्ति है, तथापि यहाँ अनेक इतिहास विरुद्ध घटनाएँ और तिथियाँ वर्णित हैं। ग्रंथ में राव हम्मीर और अल्लाउद्दीन के जन्म की तिथि सं० ११४१ बतलाई हैं जबकि अल्लाउद्दीन का राज्य-काल इतिहासज्ञों ने सं० १३५२ से सं० १३७२ निश्चित किया है। इसी प्रकार जैतराव द्वारा रणथमोर के गढ की नीव डालने का समय सं० ११.१० बतलाया है। ये जैतराव हम्मीर के पिता थे। हम्मीर का समय इतिहासकारों ने सं० १३५७ के आसपास निर्धारित किया है। इस आधार पर २५० वर्ष पूर्व हम्मीर के पिता का होना संभव प्रतीत नहीं होता।

जोधराज ने हम्मीर के जन्म और अल्लाउद्दीन की मृत्यु के सम्बन्ध में जो घटनाएँ दी हैं वे भी अति दैविक तत्वों से प्रभावित हैं । हम्मीर के द्वारा अपने पुत्र रतनसेन की रक्षा करने का जो दायित्व सैनिकों को सौंपा गया, वह प्रसंग भी इतिहास के विरुद्ध बैठता है । अल्लाउद्दीन ने पद्मिनी के लिए चित्तौड़ के राजा जिस रतनसेन को बन्दी बनाया था, वह हम्मीर का पुत्र न होकर सिसोदियावंशीय रत्नसेन था जिसे चित्तौड़ का राज्य परम्परा से प्राप्त हुआ था । जोधराज ने इस ग्रंथ मे चौहानवंशीय हम्मीर और सिसोदियावंशीय हम्मीर दोनों को भ्रमवश एक मानकर यह घटना वर्णित कर दी है । अल्लाउद्दीन द्वारा हिन्दू देवताओं की जो स्तुति कराई गई है उसका भी औचित्य सिद्ध नहीं होता । अल्लाउद्दीन के पिता का नाम शहाबुद्दीन दिया है पर प्रामाणिक इतिहास के आधार पर यह बात भी सिद्ध नहीं होती । अतः कहा जा सकता है कि 'हम्मीर रासो' में काव्य-तत्त्वों की प्रधानता है । केवल हम्मीर और अल्लाउद्दीन के विग्रह का वर्णन ऐतिहासिक हैं । इस दृष्टि मे जैन कवि नयचन्द्र सूरि अपने 'हम्मीर महाकाव्य' में इतिहास के साथ अधिक न्याय कर पाये है ।

इस ग्रंथ का कथानक अतिप्राकृतिक तत्वों से संबद्ध है । पद्मऋषि के शरीर त्यागने से उनके विभिन्न अंगों से प्रमुख पात्रों का अवतरित होना तथा अल्लाउद्दीन का रामेश्वर में कूदकर प्राणोत्सर्ग करना और स्वर्ग मे परस्पर मिलना इसी बात के प्रतीक है । जब हम्मीर अल्लाउद्दीन के दूत को दो टूक उत्तर देकर शिवालय मे जाकर विधिवत् पूजा करते है तो आकाशवाणी होती है कि—हे हम्मीर ! तुमसे और अल्लाउद्दीन से १४ वर्ष पर्यन्त संग्राम होगा । तत्पश्चात् आषाढ़ सुदी ११ को तुम्हारा साका पूर्ण होगा । जिससे संसार मे चिर काल तक तुम्हारा यश बना रहेगा—

कहै संभु हम्मीर सुनि, कीरति जुग जुग तोर ।
चौदह वर्ष जु साहि सौं, लरत विघ्न नहिं और ।।

बारै अरद्धै वरख परि, सुदि असाढ़ सनि सोइ ।
एकादशी जु पुण्य कौ, साको पूरन होइ ।।

यह साको अरु जस अमर रहै तोहिं कलि माहिं ।
छत्री को जुग-जुग धरम, यह समान कछु नाहिं ।।

अति प्राकृत तत्त्वों के साथ–साथ कतिपय कथानक रूढ़ियों का प्रयोग कर रासोकार ने ग्रंथ को विस्तार दिया है। जैतराव का संगी–साथियों से छूटकर भटकते–भटकते अकेले निर्जन प्रांत में एक ऋषि के आश्रम में जाना प्रसिद्ध कथानक रूढ़ि है। ऋषि से आशीर्वाद पाना और तदनुकूल कार्य करना दूसरी कथा–रूढ़ि है। इन्द्र का कामदेव को भेजकर ऋषि को समाधि से विचलित करना, बादशाह का अमीर–उमरावों के साथ शिकार खेलने निकलना, सहसा तूफान का आना, नायिका का इधर–उधर भटक जाना, किसी वीर पुरुष द्वारा नायिका की रक्षा करना, नायिका का उस ओर आकर्षित होना, नायक का उस पुरुष को अपराधी घोषित कर देश निकाला देना, अन्यत्र जाकर किसी राजा के यहाँ उस पुरुष का शरण लेना, शरणदाता और नायक में विग्रह होना, नायक का पराजित होने पर समुद्र में डूबकर प्राण छोड़ना आदि प्रमुख कथानक रुढ़ियाँ हैं जिनपर इस ग्रंथ का निर्माण किया गया है।

पात्र और चरित्र-चित्रण :

चरित्र–चित्रण की दृष्टि से इस ग्रंथ में हम्मीर, राव रणधीर, महिमाशाह, रानी आसुमती आदि का चरित्र सुन्दर बन पड़ा है। हम्मीर इस ग्रंथ का प्रमुख पात्र है। वह शरणागत प्रतिपालक है। उसमें धर्मवीर एवं दयावीर का अद्भुत मेल है। महिमाशाह को वह शरण ही नहीं देता उसका उचित सम्मान भी करता है। पाँच लाख की जागीर का पट्टा देकर उसे गौरवान्वित करता है—

> बकसि सेख कों बाजि, साज कंचन के साजे।
> मुक्त माल सिरपेच जटिल हीरा छबि छाजे॥
>
> सकल सथ्य सिरपाव साल दिन्नव अति भारिय।
> पंच लक्ख को पटो दियौ, आदर सुखकारिय॥
>
> दिन्नी सुठौर सुंदर इकै, तिहि देखत हिय हरषियउ।
> उच्छाह सहित उठि सेख तब आनंद मगल वर्षियउ॥

जब अल्लाउद्दीन रणथंभगढ़ को चारों ओर से घेर कर हम्मीर के पास दूत भेजता है कि 'महिमाशाह को मेरे पास हाजिर करके मुझसे मिलो तो तुम्हारे अपराध को क्षमा कर दूंगा'। इस पर राव हम्मीर ने दूत को जो

उत्तर दिया उसमें उनका परम्परागत स्वाभिमान, अमिट आत्म–विश्वास और दृढ़ विजय–भावना का तेज प्रकट है। उन्होंने कहा 'मैं जानता हूं, तू बादशाह है, परन्तु मैं भी चहुआन कुल में से हूँ जिसने सदैव शत्रुओं के दाँत खट्टे किये हैं। इसी कुल मे बीसलदेव ने सौनगरा का साका किया, पृथ्वीराज ने शहाबुद्दीन को सात बार पकड़ कर छोड़ दिया। देख अब किसकी टेक रहती है। मेरी तो यह दृढ प्रतिज्ञा है कि सूर्य चाहे पूर्व से पश्चिम में उदित होने लगे, समुद्र मर्यादा छोड दे, शेषनाग पृथ्वी को त्याग दे, पर हम्मीर का अटल प्रण टल नहीं सकता—

> पच्छिम सूरज उग्गवैं, उलटि गंग वह नीर।
> कहो दूत पतिसाह सों, हठ न तजै हम्मीर।।
>
> अनहोंनी नहि होय, होय होंनी है सोइय।
> रजक मोह हरि हथ्थ, डर धु मानव क्यों कोइय।।
>
> नहि तजूं शेख कौ प्रण करिव, सरन धरम क्षत्रिय तनों।
> मन है विचित्र महिमा तनो, सत्य वचन मुखतें भनों।।

और हम देखते हैं कि अन्ततः उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी अपने प्रण की रक्षा की।

हम्मीर धर्मप्राण व्यक्ति थे। वे शिव के उपासक थे। युद्ध में जब भी प्रयाण करते, स्नानादि से निवृत्त होकर विधिवत् शिव की पूजा करते। अन्तिम समय में भी उन्होंने शिव के चरणों में अपना सिर अर्पण कर दिया—

> करि पूजन भव गणपति मनाय,
> बहु धूप दीप आरति बनाय।
> हा गिरजा गणपति सु मम देव,
> तुम जाँनत हो मम सकल सेव।।
> अपवर्ग देहु तुम नाथ सिद्धि,
> तन छत्र धर्म्म दीजे प्रसिद्धि।
> करि ध्यांन संभु निज सीस हथ्थ,
> नृप तोरि कमल ज्यो किय अकथ्थ।।

वे दानवीर भी थे। महिमाशाह को तो पाँच लाख की जागीर दी

ही थी पर जब अन्तिम समय युद्ध के लिए निकले तो समस्त याचकों को अयाची करने की आज्ञा दी।

संकट की घड़ियों में वे घबराते नहीं थे। बड़े धैर्य से काम लेते थे। जब कृतघ्नी कोषाध्यक्ष सुरजनसिंह ने उन्हें रसद व गोला बारूद के अभाव की सूचना दी तो उन्होंने तुरन्त विश्वास नहीं किया और स्वयं छान बीन की। अपने वीर सैनिकों को प्रोत्साहित करने और उनके वीरतापूर्ण कार्यों की प्रशंसा करने में वे कभी पीछे नहीं रहे। उन्होंने अपने सरदारों को उद्‌बोधन देते हुए कहा—अब धर्म के लिए प्राण न्योछावर करने का समय निकट आगया है। जो कोई जीवित रहेगा, वह पृथ्वी का भोग करेगा और जो धर्म की रक्षा केलिए युद्ध में मर मिटेगा, उसे स्वर्ग मिलेगा। अतः मोह त्याग कर शत्रु पर टूट पडो। जिन्हें जीवन प्यारा हो वे खुशी से घर चले जायं और जिन्हे मृत्यु प्रिय हो वे हमारे साथ रहें—

जीवैं सो घर भुगिवै, जुझे सुरपुर वास।
दोऊ जस कित्तो अमर, तजो मोह जग आस॥

जीवन चाहत जो कोऊ ते सुखं घर जाहु।
कहै राव सबकै सुनत, हम सँग मरन उछाह॥

कहना न होगा कि उनके इस आह्वान पर—
जीवन को सब कोउ कहैं, मरन कहै नही कोय।
सती सुरमा पुरुष को, मरतहिं मंगल होय।

कहते—कहते वीर सैनिक शत्रु पर टूट पड़े। भील भोजराज की प्रशंसा में कहे गये हम्मीर के ये शब्द युग-युग तक वीरों को प्रेरणा देते रहेंगे—

तुम सब अमर भए कलि माहीं।
स्वामि काम सब देह सराहीं।

वीर हम्मीर अन्याय का प्रतिकार करने में काल स्वरूप थे पर उनमें दया की भावना भी कूट—कूट कर भरी हुई थी। वे शत्रु को अपना पुरुषार्थ और पराक्रम दिखाकर मानवता का सही पाठ पढाना चाहते थे, उसे प्राणदण्ड देने की उनकी भावना कभी नहीं रही। यही कारण है कि जब अल्लाउद्दीन बन्दी बनाकर उनके सामने लाया गया तो उन्होंने उसे अदंड्य कह कर

छोड़ दिया। क्षमावीरता का यह श्रेष्ठ उदाहरण है।

हम्मीर के चाचा राव रणवीर भी वीर पुरुष हैं। वे छाड़गढ़ के स्वामी हैं। अल्लाउद्दीन की सेना का सर्वप्रथम मुकाबला वे ही करते हैं। स्वामिधर्म की रक्षा मे मर मिटना उनके जीवन का आदर्श है—

कह काको रणवीर राव सुन वचन हमारे।
अबै छडि कित जाहिं, खाय करि निमक तिहारे॥
अलीदीन सौं जुद्ध छडि गढ चौरै मंडौं।
जिता साहि की सेन मारि खग खड विहंडौं॥
चाहूँ सुधीर या बंस को, अकथ गथ्थ ऐसी करूं।
रवि लोक भेदि भेट्टूँ सुभट अप्प सीस हर हिय धरूँ॥

दोनों राजकुमारों की मृत्यु के बाद जब बादशाह अलाउद्दीन शोक विह्वल राव रणधीर को विवशता का अनुचित लाभ उठाने की नियत से राज्य का प्रलोभन देकर स्वामिभक्ति से डिगाना चाहता है तो वे उसी वीरता और दृढता के साथ उत्तर देते हैं—

गिरि सूरज पलटै पहुमि, कोटि वचन कह कोय।
सेख छाड़ि उलटौ फिरै, यह कबहू नहिं होय॥

और अन्तिम दम तक शत्रु-सेना का संहार करते हुए इस कहावत को चरितार्थ करते हैं—

जो कनव्रुज काकै करी, करी छाँडि रणधीर।

महिमाशाह को भी एक वीर पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है। वह जब हम्मीर के दरबार में पहुँचता है तो एक स्वाभिमानी व्यक्ति की भाँति उनकी सेवा मे नजराना पेश करता है। वह कायर नही है, तथाकथित अपराध पर बादशाह ने उसे देश निकाला दिया है पर वह अपने वीरोचित स्वभाव से विचलित नही होता। वह हम्मीर को स्पष्ट निवेदन करता है— मैं अलाउद्दीन के विरोधियो मे से हूं। यदि आप मे मेरी रक्षा करने की शक्ति हो तो शरण दीजिए अथवा मुझे भाग्य के भरोसे छोड़ दीजिए। उसमे बाण चलाने की अद्भुत शक्ति है। एक ही बाण से सिंह को मारकर वह रूप

बिचिया को भय मुक्त करता है। और एक बाण मारकर ही वह अलाउद्दीन के सिर से उसका मुकुट उड़ा देता है। महिमाशाह स्वामिभक्त है। अलाउद्दीन उसकी वीरता पर मुग्ध है। वह गोरखपुर का परगना देकर, उसके अपराध को क्षमाकर वापस अपने पास बुलाना चाहता है पर महिमाशाह अपने शरण• दाता राव हम्मीर को नहीं छोड़ता। अपने भाई मीर गमरू से युद्ध करके भी अपने स्वामिधर्म को निभाता है। उसकी दृष्टि में भ्रातृत्व भाव से भी स्वामिभक्ति का आदर्श ऊंचा है।

रानी आसुमती का चरित्र नारी के शक्ति रूप को प्रकट करता है। वह वीरांगना है। उसके हृदय मे पुत्रों के प्रति ममता है फिर भी वह दोनों राजकुमारों को बड़े उत्साह के साथ आशीर्वाद देकर युद्ध के लिए विदा करती है। अपने हाथों से उनके शीश पर मौड़ बांधती है और केसरिया बाना पहनाती है—

गए रणवास जहां दोउ बीर।
कियौ परणाम जुहार सुबीर॥
सबै रणवास भरे जल नैन।
कही तदि आसमती यह बैन॥
करो तुम उच्छह है यह बार।
कहे तदि बैन हँसे जु कुमार॥
धरो तुम सीस हमारे जु मौर।
लरैं सिर सेहर बांधि सजोर॥
बंध्यौ तब मौर कुमारन सीस।
दई बहु भाँतिन आस असीस॥

एक अन्य प्रसंग पर आसुमति नर की प्रेरणा बनकर आती है। दुर्ग जब चारों ओर से घिर जाता है और हम्मीर रानी की परीक्षा लेने के लिए महिमाशाह को वापस देकर अपना हठ छोड़ देने का प्रस्ताव उसके सामने रखते हैं तब आवेश में आकर क्रोध, शोक, लज्जा एवं आश्चर्य भरे कंठ से वह कहती है—यह ससार नश्वर है, इसमें केवल कीर्ति ही शेष रहती है। अपने हाथ से शीश काटकर देने वाला राजा जगदेव, विद्या–विशारद राजा भोज, पर–दुख–भजन राजा विक्रमादित्य, दानवीर कर्ण इत्यादि आज इस संसार में नहीं

हैं परन्तु उनकी यशपताका आज भी इसी शान के साथ अनन्त आकाश में उड रही है और भविष्य में भी उडती रहेगी—

> राणी कहे सुनो महराव ।
> ऐसे वचन उचित नहिं भाव ।।
> या तन बचन सार स्तुति भाखे ।
> तन मन धन दै बचन जु राखै ।।
> राज पाट अनित्य सु जानो ।
> रहै नित्य इक सुजस बखानो ।

अत. हे राजन् इस समय आप अपने पूर्व पुरुष सोमेश्वर, पृथ्वीराज, जैतराव इत्यादि की वीरता और उनकी अक्षय कीर्ति का स्मरण कीजिए और तन, धन सब कुछ जाय तो जाय परन्तु शरण मे आये हुए महिमाशाह और अपने धर्म-हठ को न जाने दीजिए—

> राखि सरन सेख न तजो, तजो सीस गढ वेगि ।
> हठ न तजो पतसाह सौं, गहि कर तजो न तेगि ।।
> कहाँ जैत कहँ सूर कहँ, कहँ सोमेश्वर राण ।
> कहाँ गए प्रथिराज जे, जीति साह दल आण ।।
> कहाँ जैत कहँ सूर प्रथि, जिन गद्दे गोरी साह ।
> होतव मिटे न जगत मैं, किज्जिय चिंता काह ।

आसुमती के ये शब्द भारतीय वीर महिला के शाश्वत सुहाग स्वर हैं । कवि ने नारी को वासना के क्षार जल से बाहर निकाल कर उत्सर्ग और बलिदान की जिस भूमिका पर ला उतारा है वह उसकी स्वस्थ जीवन-दृष्टि का परिचायक है ।

अलाउद्दीन इस ग्रंथ का प्रतिनायक है । उसमे दिग्विजयी होने की बलवती स्पृहा है । चूहे का प्रसग खडा कर कवि ने अपने आदर्श को गिराया ही है । न तो अलाउद्दीन जैसे बादशाह के लिए यह शोभास्पद है कि वह एक चूहे को मारकर अपने पुरुषार्थ की दुहाई दे और न हम्मीर जैसे नायक के लिए यह गौरव की बात है कि वह चूहे के मारक जैसे कायर प्रतिपक्षी को पराजित कर अपनी वीर-परम्परा पर अभिमान करे । कवि ने अलाउद्दीन

की मृत्यु का जो दृश्य उपस्थित किया है, उससे उसके चरित्र की महानता का पता चलता है। हम्मीर के चरित्र से वह इतना प्रभावित होता है कि उसकी मृत्यु के समाचार सुनकर उसका हृदय पश्चाताप और ग्लानि के भावों से अभिभूत हो उठता है। वह स्वयं दौड़कर उसके पास पहुँचता है और उसकी आज्ञा का पालन करता हुआ रामेश्वर के समुद्र में कूद पड़ता है। उसका यह ग्लानि व अवसाद भरा आत्म-त्याग चाहे ऐतिहासिक न हो पर सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से उसका बड़ा महत्त्व है।

साह कहत हम्मीर सों, लेहु मोहि अब संग।
धर्म रीति जानो सु तुम, सूर उदार अभंग॥

मुसकाय सीस बोल्यौ सु बानि।
तुम करो साह मम वचन कानि॥

हम तुम सु एक जानो न और।
तजि मोह देह त्यागो सु तौर॥

लीजे सुझाँफ सागर सु जाय।
तब मिलै आप अप्पै सु आय॥

यह कहिस सीस मुख मूँदि होत।
तब साहि ग्याँन हृद भो उदोत॥

सेत बंद पर जाय पूजि रामेश्वर नीकै।
परे सिन्धु मैं जाय, करे मन भाते जीकै॥

सांस्कृतिक एकता की भावना से प्रभावित होकर ही संभव है कवि ने अलाउद्दीन से हिन्दू देवताओं की स्तुति कराई हो—

महरम्म आपनो तजि सुसाहि।
ध्याए सुदेव हिंदवांन जाहि॥
बहु बोलि विप्र पूजा कराहि।
करि धूप दीप आरति बनाहि॥
पद परसे दरसे सकल देव।
नैवेद्य पुज्य नाना सु भेव॥
कर जोरि साहि बंदन सुकीन।
यह भाँति गवन डेरा सु लीन॥

भील भोजराज का चरित्र भी स्वामिभक्ति की एक अमिट छाप हमारे हृदय पर छोड़ जाता है। वह वीर धन्य है जिसकी मृत्यु पर स्वयं स्वामी की आंखें छलछला जाये।

वर्णन स्थल:

'हमीर रासो' एक वर्णन प्रधान काव्य है। प्रारम्भ में सृष्टि रचना, चहुआनों की उत्पत्ति, पद्म ऋषि की तपस्या आदि के वर्णन रूढ़िगत हैं। ऋषि के तप-भंग-प्रसग मे कवि ने पटऋतुओं के वर्णन के लिए अच्छा अवसर ढूंढ निकाला है। 'रासो' में जो वर्णन सबसे अधिक मार्मिक और ओजपूर्ण बन पड़े हैं वे हैं संदेश—प्रेषण और युद्ध-वर्णन के स्थल। सदेश–प्रेषण के स्थल ६ बार आये हैं। अलाउद्दीन की ओर से दूत बार–बार राव हम्मीर के यहां इस आशय का सदेशा ले जाता है कि वह बादशाह के अपराधी महिमाशाह को शरण न दे और उसे वापस करदे। पर प्रत्येक बार वीर हम्मीर अधिकाधिक आत्म–विश्वास और दृढता के साथ यही उत्तर देता है कि—

पच्छिम सूरज उग्गवै, उलटि गंग बह नीर।
कहो दूत पतिसाह सौं, हठ न तजै हम्मीर।।

युद्ध–वर्णन के कई प्रसंग हैं। राव रणधीर, मुहम्मद अली, अजमतखां और वादित खा जैसे सेनानायकों को मृत्यु के घाट उतारते हुए जिस प्रचण्डता के साथ युद्ध करते हैं उसका एक चित्र देखिए—

बज्जत सार गज्जंत अब्भ।
रणधीर सध्य आये स सब्भ।।
करि क्रोध जोध बाहत्त सार।
टूटंत अंग फूटंत धार।।

दोनों राजकुमार बड़ी बीरता के साथ लड़ते हुए जब युद्ध में काम आते हैं तब रणधीर के क्रोध की सीमा नहीं रहती। वे प्रतिपक्षी पर टूट पड़ते हैं—

बरषै घर आगि सु धूम उठा।
भर अंबर भुम्मि कराल घुठा।।

बहु गोलन गोलन गोल परे ।
गज राजन सों गजराज जुरे ।।
हय सों हय, पयदल पयदल सों ।
जुरे बहु जोध महाबल सों ।।
कर कुंडिय वीर कमांन कसैं ।
गज बाजिन फुट्टत पार लसैं ।।
बरषैं मनु पावस बुंद ग्रयं ।
बहु फुट्टत पक्खर कंगलयं ।।
तहं लागत सेल सु पार हियं ।
मनु श्रोन पनारन तैं बहियं ।।

राव हम्मीर जब अन्तिम समय में बादशाही सेना को ध्वंस करने के लिए ससैन्य निकल पड़ते हैं तब युद्ध का जो समां बंधता है वह देखते ही बनता है—

चढ़ैं साथि गोलांन कैं बीर ऐसें ।
मनो फाटिका तैं उड़ैं नट्ट जैसें ।।
चलै तोप जोरं करै सोर भारी ।
परै बिज्जुरी सी घने एक बारी ।।
घने सीस तबूंज से भुम्मि डारैं ।
लरै रुंड खेतं सिरं हक्क मारैं ।।
बहै बांन किरवांन बज्जन्त सारैं ।
मनो काठ काटंत कट्ठे कुहारैं ।।
बहे सील अंगं परे पार होई ।
मनो रुंड में नाग लपटंत सोई ।।
कटारी लगै अंग दीसंत पारं ।
मनो नारि मुग्धा कढ्यौ पानि बारं ।।

युद्ध-वर्णन के इन सजीव चित्रों को देखकर लगता है कि कवि में वीर रस को मूर्तिमान करने की क्षमता थी। सूदन, मान आदि अन्य वीर रस के कवियों की भांति जोधराज अनावश्यक सूची बढ़ाने और व्यर्थ के तड़ातड़-

भड़ामड़ के फेर में नहीं पड़े हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है—"हम्मीर रासो की कविता बड़ी ओजस्विनी है। प्राचीन वीरकाल के अंतिम राजपूत वीर का चरित जिस रूप में और जिस प्रकार की भाषा में अंकित होना चाहिए था उसी रूप और उसी प्रकार की भाषा में जोधराज अंकित करने में सफल हुए हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।'

सांस्कृतिक पक्ष:

'हम्मीर रासो' तत्कालीन सामाजिक जीवन को भी अभिव्यक्त करता चलता है। राजघरानों में शिकार खेलने की प्रवृत्ति सर्वाधिक प्रबल थी। राव जैतराव भी शिकार केलिए निकलते हैं और बादशाह अल्लाउद्दीन भी। स्वामिभक्ति का निर्वाह करना और शरणागत की रक्षा करना सबसे बड़ा धर्म था। स्त्रियाँ संकट के समय ज्वालाओं का शृंगार कर अपना शील धर्म निभाती थीं। युद्ध यद्यपि व्यवसाय सा था पर ऐसी विकट घड़ियों में भी नृत्य और संगीत से प्रेम था। हम्मीर स्वयं चन्द्रकला नामक वेश्या के नृत्य का आयोजन करते हैं। शिवोपासना का अधिक प्रचार था। युद्ध के पूर्व विधिवत् भगवान की पूजा की जाती थी। प्राणों को हथेली पर लेकर खेलने वाले ऐसे वीरों के बीच विश्वासघातियों की भी कमी न थी। हम्मीर का कोषाध्यक्ष सुरजनसिंह इसका प्रतीक है। रासो का सारा वातावरण मूलतः आन की रक्षा और प्रण-पालन की पूर्ति में आत्म-बलिदान करने की बलवती भावना से मंडित है।

कला पक्ष:

९६९ छंदों का यह ग्रंथ कला पक्ष की दृष्टि से भी कमजोर नहीं है। इसमें दोहा, सोरठा, छप्पय, पद्धरी, मुक्तादाम, चौपाई, भुजंगप्रयात, त्रोटक, नाराच, अर्द्धनाराच, कवित्त आदि विविध छंदों का प्रयोग किया गया है। बीच-बीच में वचनिका नाम से प्रसंग जोड़ने के लिए गद्य का प्रयोग किया गया है। अलंकारों की ओर विशेष प्रवृत्ति नहीं है। वर्णनों की प्रधानता होने के कारण सामान्यतः सादृश्यमूलक अलंकार ही यत्र तत्र प्रयुक्त हुए हैं। भावानुकूल भाषा का प्रयोग किया गया है। यद्यपि ग्रंथ की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है पर युद्ध-वर्णन में डिंगल की द्वित्तवर्णों वाली परम्परा का सहारा लिया गया है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि रासो परम्परा में जोधराज कृत 'हम्मीर रासो' का अपना विशिष्ट स्थान है। वीर रस की तो यह सुन्दर कृति है ही। हम्मीर और अलाउद्दीन के जन्म का सूत्र, एक ही स्रोत से जोड़कर और दोनो की अवसाद भरी मृत्यु को पारस्परिक मधुर मिलन और स्नेह की उदात्त भावना का रूप देकर, कवि ने जिस सृजनात्मक कल्पना तत्त्व का सहारा लिया है, उसका सांस्कृतिक एवं भावनात्मक एकता की दृष्टि से जो महत्त्व है, उसे भुलाया नहीं जा सकता।

---

१८ 'वीर सतसई' में वीर-भाव की व्यंजना

वीर काव्य राजस्थान के सहज जीवन की अभिव्यक्ति है। यह मृत्यु के साथ खेलनेवाले वीरों का साहित्य है और ऐसे कवियों द्वारा रचा गया है जिन्होंने प्रत्यक्ष मृत्यु का आह्वान कर लोहे से लोहा बजाया था। राजस्थान के इस साहित्य में आदर्श देशप्रेम, स्वातन्त्र्य भावना और जातिगत अभिमान के यथार्थ स्वरूप की अवतरणा हुई है। कर्नल टॉड ने ठीक ही लिखा है, "There is not a petty state in Rajasthan that has not had its Thermopylae and scarcely a city that has not produced its Leonidas" इस साहित्य मे "पटरानियों के अट्टहास, नायक-नायिकाओं के गुप्त मिलन और राजमहलों के विलास-वैभव का वर्णन नहीं है। इसमें है रणोन्मत्त राजपूत वीरों, मरणातुर राजपूत महिलाओं और रणांगण की रक्तरंजित हाथ हत्या का भावमय चित्रण।"

वीर रसात्मक दोहे लिखने में दुरसा आढा, बाँकीदास, ईसरदास, आशानन्द, सूर्यमल्ल मिश्रण आदि के नाम प्रमुख हैं। लोकप्रियता की दृष्टि से सूर्यमल्ल की 'वीर सतसई' को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त है। 'वीर सतसई' सचमुच वीर रस की साक्षात् मूर्ति है। उसके एक-एक दोहे में 'बिजली का वेग, अग्नि का आलोक और तूफान की हवा' समाई हुई है। डा० मोतीलाल मेनारिया ने सूर्यमल्ल को परिवर्तन काल (संवत् १९०० के बाद २०-३० वर्ष) का सबसे बड़ा कवि माना है और युग पर सूर्यमल्ल का

इतना अधिक प्रभाव देखा है कि उसे 'सूर्यमल्ल युग' की सना दी है।

'पूर्व आधुनिक राजस्थान' मे सूर्यमल्ल की आविर्भावकालीन स्थिति का वर्णन करते हुए डा० रघुवीरसिंह ने लिखा है—"सारे राजस्थान मे इस समय अज्ञान का घोर अधकार छाया हुआ था। समुचित नेताओ के अभाव मे जनता पूर्णतया किंकर्त्तव्यविमूढ हो गई थी। यही कारण था कि सन् १८५७ के विप्लव मे राजस्थान की जनता को साथ देने की न सूझी और मूक तटस्थ दर्शक बन कर उसने उसकी कार्यवाही को देखा ' ···· इस बाढ के प्रबल प्रवाह को रोकने में देशी राज्यो ने बाध का काम किया"। पर सूर्यमल्ल की आत्मा स्वतन्त्रता के लिये तडप उठी और उसने दोहा रूपी उस 'वीर सतसई' का निर्माण किया जो वीर भक्षिणी है और कायरों के लिये शल्य स्वरूप है—

'जंपै मड़खाणी जठै, सुणै कायरां साल' (७)

इनको सुनते ही वे पुरुष भी पूरे वीर के समान उबल पडते है जिनमें न तो रजोगुण है न पूरा जोश ही—

नधी रजोगुण ज्या नरा, वा पूरौ न उफाण।
वे भी सुणता ऊफणी, पूरा वीर प्रमाण ॥ (८)

'वीर सतसई' भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम का काव्यमय उद्गार है। इसके प्रत्येक दोहे मे सूर्यमल्ल के हृदय से निस्सरित सिन्धु राग की गर्जना है। युद्ध-भूमि मे जाकर ललकार सुनाने वाले चारणो की परम्परा मे कदाचित यही अन्तिम ललकार है। कवि ने प्रारंभ के मगलाचरण में गणपति की वदना करते हुए यही मांगा है—"पाउँ वीर प्रकास" 'वीर' और 'प्रकास' इन दो शब्दों में वीरता के दो रूप ध्वनित हैं। 'वीर' शब्द मे वीरता की उष्मा और प्रतिशोध की ज्वाला प्रज्ज्वलित है, जो असत् को भस्मीभूत कर देगी, आततायियो को नष्ट कर देगी और स्वाभिमान तथा स्वामिधर्म की रक्षा करेगी। 'प्रकास' शब्द मे देश-प्रेम की लौ का आलोक है। कवि ने सचमुच वीरता के इन दोनो रूपो की सफल अभिव्यक्ति की है।

वीर रस का वातावरण उपस्थित करने में तथा प्रकृत वीर का रूप

खड़ा करने मे सूर्यमल्ल को पूरी सफलता मिली है। 'सतसई के क्षेत्र में प्रवेश करते ही हम न केवल शूरवीरों के प्रदेश में विचरण करने लगते हैं। किन्तु हमारे हृदय पर भी वीर भावना का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। इस प्रदेश मे सती अग्नि स्नान करती है, शूरवीर योद्धा रणांगण में अपने प्राणों की आहुति देकर सूर्यमंडल को भेदकर अप्सराओं का आशिक बनता है, सद्योजात शिशु नाल काटने की छुरी की ओर लपकता है, छोटा बालक यदि युद्ध से रोक दिया जाता है तो कलाई को चबाकर अपना रोष प्रकट करता है, वीर प्रसविनी माता को सबसे बड़ी चिन्ता यह है कि पुत्र उसका दूध लज्जित न करे, वीरागना की अन्यतम अभिलाषा यह है कि उसका पति उसके वलय को न लजा दे[1]—

> "सहणी सबरी हूं सखी, दो उर उलटी दाह।
> दूध लजाणौं पूत सम, वलय लजाणौं नाह।" (१४)

'सतसई' में मार काट, हाय हत्या का विशेष वर्णन न होकर वीर-स्वभाव तथा वीर-चेष्टाओ का ही मुख्य रूप से अंकन हुआ है। यहाँ कोई बाला कभी विधवा नही होती क्योंकि उसका सतीत्व उसका अमर सुहाग है। यहाँ का योद्धा धड़ गिर जाने तथा गिद्धों द्वारा आँतों के ले जाये जाने पर भी स्वामी के लिये लड़ता रहता है। यहाँ के वीर-हृदय में कभी प्रेम और कर्तव्य का द्वन्द्व उत्पन्न होता ही नही। यहाँ के स्त्री-पुरुष प्रेम पाश को छिन्न-भिन्न कर तुरन्त कर्तव्य पथ पर बढ़ चलते हैं—

> 'बंब सुणायो बींद नूं, पैसंतां घर आय।
> चंचल साम्है चालियो, अंचल् बँध छुड़ाय।' (१३३)

यहाँ की वीर बाला की यह नाटकीय त्वरा देखिये—

> भागौ कंत लुकाय धण, ले खग आतौं धाड़।
> पहर धणी चा पूंगरण, जीती खोल किंयाड़। (१०६)

एक सांस में ही जैसे उसने जीत हासिल करली है। इन प्रेमोत्तेजक प्रसंगों पर भी कवि ने वीर-भावना का चित्र खीचा है। यहाँ नारी के नख-

---

१—वीर सतसई की भूमिका, पृ० ६६

शिख निरूपण और मन में उठने वाली प्रेमिल भावनाओं का वर्णन न होकर पति के वीर व्यक्तित्व की छटा पर नारी का मुग्ध होना प्रदर्शित किया गया है। यहाँ नारी को विरह और पति की अनुपस्थिति में सतप्त होने का अवसर ही नहीं। यहाँ विरह मे विलास नही विसर्जन है, शारीरिक दौर्बल्य नही, आत्मिक तेजस्विता है, विक्षिप्त दशा नही, विवेकशीलता है। इसीलिये पति की अनुपस्थिति मे भी वह सबला बन कर काम करती है। उसकी सक्रियता और अधिक बढ जाती है।

"वीर सतसई" का पुरुष और उसकी सहधर्मिणी दोनो ही वीर-भावना के प्रतीक हैं। प्रसाद और ओज सतसई के मुख्य गुण हैं। "सूखी लकडी मे गैसे अग्नि व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार सतसई के दोहो मे अर्न्तभेदन की गहरी शक्ति हैं। *"मायड खाय दिखाय थरा, थरा पगा वलय बताय"* (१३) जैसे दोहे इसी कोटि मे रखे जा सकते हैं। इन दोहो मे कही काव्यमय उद्बोधन है तो कही स्फूर्ति और प्रेरणा है, कही लडायक ललकार है, तो कही शत्रु से प्रतिशोध लेने के लिये अदम्य अभिलाषा, कहीं रणोत्सुक योद्धा की प्रसन्नता का वर्णन है तो कही वीरागना की अपने पति के शौर्य पर न्योछावर होने वाले हर्ष की व्यजना है, कही सती का आदर्शोज्ज्वल तेज और दीप्ति है तो कही मरण त्योहार का अपूर्व आनन्द है कही कुल क्रमागत मान मर्यादा की रक्षा है तो कही मूछ की दर्प भरी मरोड है, कहीं तात्कालिक राजनैतिक परिस्थिति की ओर सकेत है तो कही कवि के हृदय की मार्मिक व्यथा का चीत्कार है।[1]

वीर भावना के चित्रण के लिये आवश्यक तत्त्व हैं—पराक्रम, साहस, धैर्य, सहिष्णुता, दुर्दमनीयता, स्फूर्ति, उत्सर्गशीलता, दूरदर्शिता आदि। वीर के चरित्र म इच्छा और क्रिया की भावना प्रबल होती है। वीर का धर्म वीरता है। यदि वह वीरता के प्रदर्शन के स्थान पर उसके विषय मे चिन्तन करता है तो वीरत्व समाप्त हो जाता है। 'सतसई' के सम्पादको ने ठीक ही लिखा है "ऐश आराम के स्वप्न जाल मे लिप्त राजपूत जाति के अन्दर अपनी प्रेरणा से प्रबल इच्छा शक्ति उत्पन्न करके रजपूती वीर भावना को फिर से जागरुक करने का उत्तरदायित्व सूर्यमल्ल

१—वीर सतसई की भूमिका, पृ० ११०

ने अपनी 'सतसई' मे लिया है । फूट और सकुचित दायरे के कारण राजस्थान यद्यपि उस समय संघ शक्ति नही बन सका तथापि सूर्यमल्ल ने इस सकोच और आपसी फूट को मिटाने का प्रयत्न करके वीरत्व को व्यापक स्फूर्ति दी" (पृ० ११२)

साहित्य-दर्पणकार ने "उत्तम प्रकृतिर्वीर" लक्षण देकर वीर रस को अन्य रसों से श्रेष्ठ माना है। उत्साह वीर रस का स्थायी भाव है। वीर पुरुष आश्रय है। शत्रु आलंबन है। यश आदि उद्दीपन है। दान वीर, धर्म वीर, दया वीर और युद्ध वीर, ये वीरों के प्रकार बताये गये हैं। "वीर सतसई" मे युद्ध वीर का ही विशेष वर्णन है। सच्चे वीर में शौर्य, साहस, पराक्रम, प्रताप, धैर्य, उत्साह आदि गुण होने चाहिये। 'वीर सतसई' का योद्धा इन सभी गुणो से ओतप्रोत है। सामान्यत वीरत्व तीन प्रकार का है।

(१) लोक साधक परार्थ घटक (उत्तम)
(२) कोरा स्वार्थ घटक (मध्यम)
(३) स्वार्थ साधक परार्थ विघटक (निकृष्ट)

'वीर सतसइ' मे जो वीरत्व की भावना है वह उत्तम कोटि की है—'इला न देणी आपणी, हालरिया हुलराय' (२३०) जैसी पक्तियो मे उच्च कोटि की वीर-भावना ही व्यक्त हुई है।

वीर के आतरिक स्वभाव और उसकी बाह्य कार्यपटुता दोनो के चित्रण मे कवि को पूर्ण सफलता मिली है। वास्तव म घटनाओं की जितनी विविधता और व्याप्ति युद्ध वीर मे पाई जाती है, उतनी अन्य वीरो में नही। युद्ध वीर वह है जो अकेला और निशस्त्र होकर भी तथा कवच इत्यादि से हीन होते हुए भी शत्रुओ का मुकाबला करने मे डरता न हो, जिसे रण म शस्त्रास्त्र के प्रहार मे आनन्द आता हो, जो युद्ध-भूमि से न भागता हो, जो भयभीत को अभय दान देता हो और दुखी का दुख दूर करता हो। युद्ध वीर का सच्चा चित्र खडा करते समय दो बातो का वर्णन आवश्यक होता है। एक योद्धा का और दूसरे उसके युद्ध-कौशल का। योद्धा के वर्णन मे उसकी तजस्विता, निडरता, प्रचण्डता, धीरता, भीषणता

प्रसन्नता आदि गुणों का उल्लेख किया जाता है तो युद्ध-कौशल में मारकाट, विनाश, हस्तलाघव आदि का वर्णन किया जाता है। वीर रस का सफल चितेरा वह है जो योद्धा की अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी, दोनों प्रवृत्तियों का सामञ्जस्य कर सके। कहना न होगा कि युद्ध के दृश्यों का चुनाव, निरीक्षण की पूर्ण क्षमता, समाहार की पूरी शक्ति, प्रभावोत्पादकता तथा व्यापक दृष्टि आदि गुणों ने सूर्यमल्ल को पूर्ण सफलता प्रदान की है। डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव ने अपने शोध प्रबन्ध 'डिंगल साहित्य' में सूर्यमल्ल के सम्बन्ध में लिखा है "सच तो यह है कि ये सम्पूर्ण वीर काव्य के प्रतिनिधि कवि थे। इन्होंने अपनी 'सतसई' में वीरों के विविध चित्रमय रूप उपस्थित किये हैं।" यहाँ युद्ध वीर की आन्तरिक एवं बाह्य मनोवृत्तियों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१) उल्लासः—(क) ढोल सुणतां मंगली, मूंछा भूंह चढ़न्त। (१५४)
(ख) फूलंता रण कंत रैं, कड़ी समाणी मत्थ। (४२)

(२) उत्साहः—बंब सुणायो बींद नूं, पैसंतां घर आय।
चंचल साम्हे चालियो, अंचल बंध छुड़ाय। (१३३)

(३) धैर्य—तो भी तोरण बींद तिम, बीरौ बीरौ नाह

(४) कष्ट सहिष्णुताः—साम्है भालै फूटतौ, पूग उपाड़ै दंत।
हूं बलिहारी जैठ री, हाथी हाथ करंत (१४२)

(५) लापरवाहीः—कांकड़ अंबक अहकिया, ऊठौ खुलियौ कोट।
सुणतां नाहर आलसी, सूतो बदल करोट (१२२)

(६) दुर्दमनीयताः—नागण जाया चीटला, सींहण जाया साव।
राणी जाया नहँ रुकै, सो कुलवाट सुभाव (४०)

(७) आतंकः—पग पाछा छाली धड़क, कालौ पीलौ दीह।
नैण मिचै साम्हो सुणै, कवण हकालै सीह (५५)

(८) रोवः—गीध कलेजो, चील्ह उर कंका अंत बिलाय।
तौभी सो धक कंतरी, मूंछा भूंह मिलाय (६६)

(९) स्पर्धा—बधाबधी निज लावणी, सो ढाकी सरदार (११)

वीर की बाह्य कार्य पटुता :

(१) हस्त लाघव और त्वरा—

(क) चमठी खाली होवतां, नमठी चाली फौज ।

(ख) हेली की अचरज कहूँ, कंत परा वलिहार,
घर में देखूँ दोय कर, रण में दोय हजार । (९८)

(ग) कै दीठो हय आवतो, कै दीठो पर फौज ।
हेली कवरण सिखाबियो, उडणो उडणो ओज । (२७१)

(२) युद्ध कौशल:—

(क) देख सखी होली रमैं, फौजां मे धव एक
सागर मन्दर सारखो, डोहै अनड़ अनेक (५३)

(ख) पीव परसै पांत में, भूलै केम दुभांत ।

(३) चापल्य:—और चढे गढ़ ऊपरां, नीसरणी बल नीठ ।
अजको धव पूगो उठै, माकड़ मेल्हे पीठ । (१२५)

(४) असाधारण कार्य व्यापार—
मद प्यालां जिम एकलो, फौजां पीवत जाय । (५४)

(५) मारकाट:—रूँस सहर री गामड़ँ, आजे बणियो ओट ।
हाथालँ हण हाथियां, कीधा पंजर कोट (१७६)

वीर भावना के प्रतीक :

सूर्यमल्ल ने वीर भावना का अभिव्यंजन विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से भी किया है। वीर भावना के प्रमुख प्रतीक हैं—सुअर, सिंह, धवल और नाग । सुअर का राजस्थानी वीर साहित्य में विशेष महत्त्व है। यहाँ के राजघरानों में सुअर का शिकार करना अधिक प्रिय और दुष्कर माना जाता रहा है। उसकी डाढ़ें मजबूत होती हैं। वह निर्भीक होकर गोलियों की बौछार सहता हुआ भी सीधा चलता रहता है । यही निर्भीकता वीर पुरुष का गुण है । इसीलिये सूर्यमल्ल मिश्रण ने स्थान-स्थान पर वीर को सुअर की उपमा दी है। यहाँ एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

(१) तुंडा गज फेटां तुरी, डाढ़ां भड़ ग्रौभाड़।
हेकरण कौले गूंधिया, फौजां पाथर पाड़ (५७)

सिंह अकेला संचरण किया करता है। उसके पंजे (हाथल) में इतना अधिक बल होता है कि वह हाथी का मस्तक विदीर्ण कर देता है। उसका आतंक ही इतना जबरदस्त होता है कि कोई उसके सामने सीधा ना ही नहीं सकता।

निवड़क सूतौ केहरी, तो भी विमुहा पाव।
गज गैंडा, धीर न धरैं, वच्च पड़े वधबाव (४८)

वृषभ संत काव्य में अकर्मण्यता का प्रतीक है पर सूर्यमल्ल ने उसे वीर भाव का प्रतीक बना कर उसमें कुल-मर्यादा की रक्षा का भार वहन करने की शक्ति निहित मानी है। यह वीर भावना भावी पीढ़ी में भी उसी प्रकार निहित है—

धुर सूती मरियो धवल, सकट हचक्का खाय।
तिण रौ वालौ वाछड़ो, तंडे खंध लगाय। (५६)

सांप (काला) भी वीरता का प्रतीक है। उसको छेड़ते ही वह पीछे पड़ जाता है और छेड़ने वाले का प्राण लेकर ही रहता है—

वंबी अंदर पौढ़ियौ, कालो दबकै काय।
पूंगी ऊपर पाधरौ, आवे भोग उठाय। (५८)

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि कवि ने वीर भावना के इन प्रतीकों को इस ढंग से अपनाया है कि वीर भाव अधिक मार्मिक और प्रभावक बन गया है।

'वीर सतसई' में वीरता की सार्वजनीन एवं सार्वकालिक भावना का वर्णन हुआ है। यह मुक्तक काव्य है। इसलिये इसमें कवि के प्रबन्ध काव्य 'वंश भास्कर' में चित्रित युद्धजन्य मारकाट, कोलाहल, शूरवीरों की मुठभेड़, योद्धाओं की पारस्परिक ललकार, सेना-प्रयाण की हलचल आदि का विशद वर्णन नहीं है। इसकी आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि 'वीर सतसई' वस्तु प्रधान रचना नहीं है। यह भाव प्रधान रचना है। तीन सौ से भी

कम दोहों में सतसईकार ने जो वीरत्व के रूप की प्रतिष्ठा की है वह कवि-कर्म की चिर प्रशस्ति है । कवि का 'वंश भास्कर' यदि एक विस्तृत अरण्य है तो 'वीर सतसई' एक सुरम्य वनस्थली । 'वंश भास्कर' पाठक को आतंकित करता है तो 'सतसई' उसे सतुष्ट करती है । डा० मोतीलाल मेनारिया ने "राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा" में सूर्यमल्ल और महाकवि भूषण की तुलना करते हुए लिखा है, "वीररस का जैसा भावानुरंजित और पूर्ण अमर वर्णन सूर्यमल्ल ने किया है वैसा हिन्दी के किसी दूसरे कवि की रचना मे देखने को नहीं मिला..........कहाँ सूर्यमल्ल कहाँ भूषण ! दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है । वीर-वीरांगनाओं के हृदयस्थ भावों का विश्लेषण और काव्यमय निरूपण भूषण की कविता में कहाँ, जिसके दर्शन सूर्यमल्ल की रचना में पग-पग पर होते हैं । सच तो यह है कि सूर्यमल्ल की स्वभाव सिद्ध स्वर लहरी के सामने भूषण के वाग्डम्बर पूर्ण कवित्त-सवैये प्राण विहीन पञ्जर की तरह शुष्क और निर्जीव प्रतीत होते हैं ।"

सतसई परम्परा में 'वीर सतसई' एक नई कड़ी है । इसमें कवि ने सतसई परम्परा की निरीह शृंगारिक मनोवृत्ति को झकझोर कर उसे वीर भावों की संवाहिका बनाया है । सूर्यमल्ल ने इस सतसई मे शृंगार, भक्ति एवं नीति के स्थान पर देश और काल की तात्कालिक परिस्थितियों के अनुरूप व्यंजना कर, सतसई परम्परा को नया मोड़ दिया, जिस पर आगे चल कर हिन्दी व राजस्थानी में भी कई वीर रसात्मक सतसइयाँ लिखी गईं जिनमें वियोगी हरि, नाथूराम महियारिया, रावल नरेन्द्रसिंह और कविराव मोहनसिंह रचित वीर सतसइयाँ उल्लेखनीय हैं ।

सामान्यत: सतसईकारों ने राधा-कृष्ण को आलम्बन बना कर शृंगारपरक सतसइयाँ लिखी हैं पर सूर्यमल्ल ने अपनी सतसई में किसी विशिष्ट सामन्त, राजा या ठाकुर को अपना आलम्बन नहीं बनाया बल्कि सामान्य वीर पुरुष के आन्तरिक स्वभाव, उल्लास एवं बाह्य कार्यपटुता का ही ओजपूर्ण वर्णन किया है । इससे वर्णित भाव सार्वकालिक एवं सार्वजनीन बन गये हैं । अब तक चली आती हुई वीर काव्य परम्परा में सामान्यतः नायक कोई आश्रयदाता, राजा, सामन्त, ठाकुर या विशिष्ट पुरुष ही रहा है, पर नायक का यह सामान्यीकरण सूर्यमल्ल की अपनी विशेषता है ।

कुल मिला कर कहा जा सकता है कि सूर्यमल्ल मिश्रण ने शताब्दियों से भक्ति या शृंगार के रंग में रंगी आ रही कविता की बांसुरी के मधुर स्वर को रणभेरी का सिन्धु राग सुनाकर ओजस्वी व्यक्तित्व प्रदान किया। 'केवल चुम्बन और आलिंगन, रति और विलास, रोमांच और स्वेद, स्वकीया और परकीया, की कड़ियों से जकड़ी हुई कविता को विलास भवन और लता कुंजों' से बाहर लाकर प्रशस्त पथ पर खड़ा किया और अराजकता जनित विलासिता की दैन्य भरी रात्रि में शक्ति, पुरुषार्थ और देश प्रेम की लौ जलाकर वीरों को आदर्शों के लिए मर मिटने की प्रेरणा दी।

———

जैन साहित्य

१९ जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन

जैन साहित्य ने हिन्दी साहित्य को कई रूपों में अपनी देन दी है। संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश से होती हुई यह देन हिन्दी में आई। इस देन के स्थूलत: दो रूप हैं—संरक्षणात्मक और सर्जनात्मक। संरक्षणात्मक रूप में जैन-विद्वानों ने हिन्दी के विपुल और विविध साहित्य की रक्षा की, उसे काल की आँधी से बचाया। सर्जनात्मक रूप में इसने विचार और शिल्प दोनों क्षेत्रों में नई दृष्टि और नया स्वर दिया। विचार क्षेत्र में मानववादी दृष्टिकोण, राष्ट्रीय भूमिका और अध्यात्म भावना को विशेष प्रश्रय दिया तो शिल्प क्षेत्र में कई नये काव्य-रूपों को जन्म दिया। रूढ़िगत नायक की परिकल्पना को झकझोरा, भाषा और छन्द को लोकोन्मुखी बनाया। संक्षेप में इसका रेखा-चित्र इस प्रकार बनाया जा सकता है—

जैन साहित्य की देन

- (क) संरक्षणात्मक
  - (१) लिपि
  - (२) भंडार
  - (३) मंदिर
  - (४) कंठस्थ
- (ख) सर्जनात्मक
  - (१) विचार
    - (क) मानववादी दृष्टिकोण
    - (ख) राष्ट्रीय भूमिका
    - (ग) अध्यात्म भावना
  - (२) शैली
    - (१) पद्य
      - प्रबन्ध
      - मुक्तक
    - (२) गद्य
      - टीका
      - स्वतन्त्र
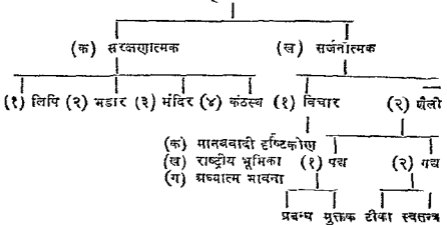
जैन विद्वानों ने कला और साहित्य के संवर्धन में जितना योग दिया उससे भी अधिक योग दिया उसके संरक्षण में। यह संरक्षण मुख्यतः चार रूपों में हुआ। प्राचीन और विलुप्त साहित्य को (जो प्रायः मौखिक था) लिपिबद्ध किया। लिपिबद्ध करने मात्र से साहित्य की रक्षा संभव न थी। उस समय विदेशी आक्रमण धर्म और संस्कृति पर बड़ी तेजी के साथ कुठाराघात कर रहे थे। जैन धर्मावलम्बियों ने बड़ी दूरदर्शिता और कुशलता के साथ भण्डारों और मन्दिरों का निर्माण कर हस्तलिखित ग्रन्थों को प्रश्रय दिया, उनका संग्रह किया और विदेशी आक्रमणकारियों के हाथों से उसे बचाया। न जाने कितने ग्रन्थ पैरों तले कुचले गये, न जाने कितनी पावन पुस्तकें लपटों के हवाले की गईं, फिर भी आज जैन भण्डारों और मन्दिरों में संगृहीत साहित्य को देखकर दांतों तले अंगुली दबानी पड़ती है। इस संग्रहशील एवं संरक्षण प्रवृत्ति में किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता न थी। उदार व व्यापक दृष्टिकोण को अपनाते हुए जैनियो ने जहाँ अपने धर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित ग्रन्थों की रक्षा एवं संग्रह किया वहां उसी सम्मान और आदर भावना से जैनेतर (शैव, वैष्णव, शाक्त आदि) ग्रंथों का रक्षण एवं संग्रह भी। कंठ–परम्परा के रूप में भी जैन मुनियों और आचार्यों ने अलभ्य ग्रन्थों की सुरक्षा की।

आज देश में विशेषकर राजस्थान, गुजरात और उत्तरप्रदेश में जगह–जगह पर जैन भण्डार हैं। आवश्यकता है उन भण्डारों का सर्वेक्षण किया जाय, वहाँ के ग्रन्थों की सूचियाँ बनाई जायें और महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का सम्पादन-प्रकाशन किया जाय। यों इस दिशा में थोड़ा बहुत काम हुआ अवश्य है पर वह ऊँट के मुंह में जीरा जैसा है।

सर्जनात्मक रूप में जैन कवियों, कथाकारों, टीकाकारों, सन्तों और उपदेशकों की अमूल्य देन रही है। इस देन के दो रूप हैं। एक तो तत्व चिन्तकों, मनीषियों और धर्माचार्यों ने विचार–जगत में क्रान्ति की और दूसरे इस विचार–क्रान्ति को वाणी का स्वर देकर बोधमय, रागमय और सहज बनाया भावुक कवियों और कथाकारों ने।

विचार क्षेत्र में जैन–दर्शन ने अद्भुत क्रान्ति की। जीव, ब्रह्म, प्रकृति आदि के सम्बन्ध में जैन धर्म की अपनी मान्यताएं हैं। यहाँ दार्शनिक गुत्थियों में न उलझकर साहित्य को प्रभावित और प्रेरित करनेवाली तीन प्रवृत्तियों की ओर पाठकों का ध्यान खीचा जा रहा है।

(१) मानववादी दृष्टिकोण:

जैनधर्म ने अपने साहित्य के माध्यम से मानववाद की बड़ी प्रतिष्ठा की। यों तो जैन धर्म में प्राणी मात्र के जीवन का चरम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति माना गया है और इस मुक्ति-प्राप्ति के जो साधन हैं उनमें मानव-जीवन की अवतारणा को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। यही नहीं, इस सन्दर्भ मे यहाँ तक कहा गया है कि मोक्ष में जाने के लिये देवता तक को मानव-जीवन ग्रहण करना पड़ता है। संक्षेप मे कहा जा सकता है कि मानव-योनि ही वह मूलाधार है जिसपर अहिंसा, संयम और तप की सम्यक् परिपालना के माध्यम से ईश्वरत्व की मंजिल खड़ी की जा सकती है। देव-जीवन प्रधानतः भोग-भूमि है जब कि मानव-जीवन कर्म भूमि। मानव अपनी कर्म शक्ति से पूर्वार्जित पापों (कर्मों) को क्षय कर सकता है और संयमनिष्ठ जीवन से पाप-पुण्य की लोह और स्वर्ण बेड़ियों को काट कर निर्द्वन्द्व और निर्विकार बन कर विचर सकता है।

इस धर्म साधना में लिंग, जाति, वर्ण, रंग, आदि किसी प्रकार का भेद भाव नही किया गया है। यहाँ पुरुषों को जितना अधिकार है उतना ही स्त्रियो को भी। ऋषभ मोक्ष गये हैं तो उनकी माता मरुदेवी भी। यही नहीं २४ तीर्थंकरों मे से १९ वें तीर्थंकर मल्लिनाथ श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार स्त्री हैं। वर्णव्यवस्था का आधार भी जैन धर्म में जन्म नहीं, कर्म ही माना गया है। इसीलिये सद्दालपुत्त जैसे कुम्भकार, अर्जुनमाली जैसे माली और हरिकेशी मुनि जैसे चाण्डाल भगवान महावीर के उपासक रहे हैं। जैनधर्म के मानववाद की यह विशेषता बहुत बड़ी सांस्कृतिक उपलब्धि है।

जैन धर्म के मानववाद की दूसरी विशेषता यह है कि यहाँ मानव को देवता से अजेय प्रतिपादित किया गया है। यह मानव विशिष्ट गुणों से युक्त और धर्म साधना मे हिमालय की तरह अडिग रहने वाला होता है। इसकी धर्म-प्रभावना से इन्द्र तक का आसन डोल उठता है, सामान्य देवी-देवताओं का तो कहना ही क्या ?

देवता इस मानव से सम्पर्क स्थापित करते हैं। यह सम्पर्क मुख्यतः दो रूपों मे स्थापित होता है। सहायक रूप में और परीक्षक रूप में। जो तीर्थंकर की सी विभूति और सच्चे सन्त की सी साधना लिए रहते हैं उन

श्रमणों के लिए देवता सहायक बन कर आते हैं। जब इन सन्तों पर उपसर्ग और परीषह की विपत्ति के बादल मडराते हैं तब देवता आपत्ति को दूर करने के लिये प्रकट होते हैं। पर ये सन्त पुरुषार्थवादी होते हैं। अतः स्वयं इन विपत्तियों का मुकाबला करते हैं और देवताओं से तनिक भी सहायता नही लेते। देवता इनके बल,वीर्य और सहनशीलता से प्रसन्न होकर पुष्प-वृष्टि करते हैं।

परीक्षक रूप में देवता प्रायः वैक्रिय रूप धारण कर प्रकट होते हैं। ये देव धर्म में दृढ़ श्रावकों की निष्ठा और आस्था की परीक्षा लेते हैं। कामदेव आदि श्रावको को-फुत्कारते हुए विषधर का रूप धारण कर, चिंघाड़ते हुए मदमत्त हाथी का रूप धारण कर, भयंकर रूप वाले पिशाच का रूप धारण कर—इन देवताओं ने संतप्त किया है, धर्म-पंथ से च्युत करने का उपक्रम किया है पर ये धर्मव्रती श्रावक किंचित भी विचलित नहीं हुए। अन्ततः देवता अपने असली रूप में प्रकट होकर क्षमा मांगते हैं और धर्मनिष्ठता की प्रशंसा करते हैं।

जैन धर्म के मानववाद की तीसरी विशेषता यह कि उसने मानव के हित के नाम पर मानवेतर प्राणियों का वध करने का विधान कभी नहीं किया। उसने संसार के सभी प्राणियों को समभाव से देखा। उनके प्रति मैत्री-भावना व्यक्त की। अन्य धार्मिक एवं राजनैतिक तंत्रों में जहाँ मानव के हित को ही प्रधानता देकर उसके सुख-साधन के लिए मानवेतर पशु-पक्षियों का बलिदान इष्ट माना गया वहाँ जैन धर्म ने छहों काया (पृथ्वी, अप, तेउ, वायु, वनस्पति और त्रस), पाँचों इन्द्रियो (एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय) और समस्त मानव-सम्प्रदाय का जीवन समान रूप से प्रिय, इष्ट और हितकर माना। इस तरह जैन धर्म ने अहिंसा का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण और विवेचन प्रस्तुत कर प्राणतन्त्र की प्रतिष्ठा की। आजकी राजनीतिक विचार-धारा का चरम विकास एकतन्त्र, कुलीनतन्त्र, जनतन्त्र और सर्वोदय (मानव सम्प्रदाय तक ही सीमित) के विभिन्न स्तरों को पार कर पाया है पर जैन धर्म ने इससे भी आगे प्राणतन्त्र की कल्पना कर मानवतावादी दृष्टिकोण को अधिक व्यापक, कोमल और उदार बना दिया है। मैं समझता हूँ यह परिणति सास्कृतिक, दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक सभी दृष्टियों से जैन धर्म की मानववाद के क्षेत्र में अमूल्य देन है।

(२) राष्ट्रीय भूमिका :

जैन धर्म की राष्ट्रीयता का आधार सार्वकालिक और सार्वजनीन है। उसने केवल भूमिगत उदारता को ही प्रश्रय नहीं दिया वरन् भाषा, साहित्य, लोकविश्वास और चिन्तनशीलता की उदार-भावना को भी संरक्षित रखा है।

राजनैतिक दृष्टि से भारत भूमि के समय-समय पर विविध गठन होते रहे। उसे कई प्रदेशों, प्रान्तों और राज्यों में बाँटा जाता रहा। पर जैन धर्म ने देश के किसी एक भाग को अपनी भक्ति का विषय कभी नहीं बनाया। जहाँ अन्य धर्मों ने अपना प्रसार, क्षेत्र विशेष को अपना गढ़ बनाकर किया वहाँ जैन धर्म सारे भारत को अपना क्षेत्र मान कर चला। विभिन्न तीर्थंकरों की जन्मभूमि, दीक्षा-स्थली, तपोभूमि, निर्वाण-स्थली अलग-अलग रही है। भगवान महावीर विदेह (उत्तर बिहार) में उत्पन्न हुए पर उनका साधना-क्षेत्र व निर्वाण-स्थल मगध (दक्षिण बिहार) रहा। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म तो बनारस में हुआ पर उनका निर्वाण-स्थल बना सम्मेदशिखर। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव अयोध्या मे जन्मे पर उनकी तपोभूमि रही कैलाश पर्वत और भगवान अरिष्टनेमि तो उत्तर भारत को छोड़ कर जा पहुँचे काठियावाड़ में। भूमिगत सीमा की दृष्टि से जैन धर्म उत्तर मे हिमालय, पूर्व में मगध, पश्चिम में काठियावाड़ और दक्षिण में मैसूर तक फैला। देश की चप्पा-चप्पा भूमि जैन धर्म की श्रद्धा और भक्ति का आधार बनी। दक्षिण भारत के श्रवणबेलगोला व कारकल आदि स्थानों पर स्थित बाहुबली की भव्य मूर्तियाँ आज भी इस राष्ट्रीय चेतना की प्रतीक हैं।

जैन धर्म की यह देशभक्ति या राष्ट्रीयता केवल भूमिगत ही नहीं है वह भावनापरक भी है। भाषा और साहित्य की दृष्टि से उसकी राष्ट्रीयता का औदार्य प्रकट होता है। जैन धर्म कभी साम्राज्यवादी नहीं रहा। उसकी दृष्टि सदैव विशाल और व्यापक रही है। संकीर्णता का वहाँ स्थान नहीं।

भाषा को ही ले लीजिए। वैदिक परम्परा में संस्कृत का बड़ा प्रचार रहा। उसका अत्यधिक सम्मान भी रहा पर उसने तत्कालीन प्रदेशीय विभिन्न लोकभाषाओं का प्रतिनिधित्व नहीं दिया। श्रमण परम्परा ने ही जनपदीय भाषाओं को उठने का अवसर दिया। इसमे भी बौद्धधर्म लोकभाषा मागधी को ही अपना सका। उसे पालि भाषा से ही विशेष मोह रहा जब कि जैन धर्म

ने अर्द्धमागधी प्राकृत को विशेष प्रश्रय देते हुए भी अन्य लोकभाषाओं का बहिष्कार व तिरस्कार नहीं किया। जिस समय मायावी साम्राज्यवादियों ने संस्कृत भाषा को शीर्षस्थ स्थान देकर जनपदीय भाषाओं का अपमान किया, यहाँ तक कि नाटकों में अधम पात्रों से जनपदीय भाषाएँ बोलाई गई उस समय भी जैनाचार्यों ने ही विभिन्न लोकभाषाओं की रक्षा की तथा उनका सम्मान बनाये रखा। जहाँ-जहाँ भी जैन सन्त गये, वहाँ-वहाँ की भाषाओं को—चाहे वह आर्य परिवार की हो, चाहे द्रविड परिवार की—इन्होंने उपदेश देने का माध्यम बनाया। इन्हीं जैनाचार्यों की बदौलत मध्ययुगीन विभिन्न जनपदीय भाषाओं के मूल रूप सुरक्षित रह सके हैं। आज जब भाषा के नाम पर चारों ओर विद्वेष की ज्वाला सुलग रही है, ऐसे समय में जैन धर्म की यह उदार दृष्टि अभिनन्दनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है।

साहित्य की दृष्टि से भी जैन धर्म का राष्ट्रीय स्वरूप हमारे सामने आता है। मौलिक साहित्य-सर्जना में जैन साहित्यकारों ने धार्मिक लोक मान्यताओं और विशिष्ट कथानक रूढियों की कभी उपेक्षा नहीं की। वैष्णव साहित्य के लोकप्रिय चरित्रनायकों राम और कृष्ण को जैन साहित्य में सम्मान का स्थान दिया है। कथानक की सृष्टि में दृष्टिकोण का अन्तर भले ही रहा हो फिर भी त्रैसठ शलाका पुरुषों में इन्हें स्थान दे देना कम गौरव की बात नहीं। ये चरित्र जैनियों के अपने बनकर आये हैं। यही नहीं वैदिक परम्परा में जो पात्र घृणित और वीभत्स दृष्टि से चित्रित किये गये हैं वे भी यहाँ उचित सम्मान के अधिकारी बने हैं। इसका कारण शायद यह रहा है कि जैन साहित्यकार अनार्य भावनाओं को किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुँचाना चाहते थे। यही कारण है कि वासुदेव के शत्रुओं को भी प्रतिवासुदेव का उच्च पद दिया गया है। सुग्रीव, हनुमान आदि को बन्दर न मानकर विद्याधरवंशी राजा माना और उनका ध्वज-चिन्ह वानर रखा है। नाग, यक्ष आदि को भी अनार्य न मानकर तीर्थंकरों के रक्षक माना है और उन्हें देवालयों में स्थान दिया है। कथा-प्रबन्धों में जो विभिन्न छन्द और राग-रागिनियाँ प्रयुक्त हुई हैं उनकी तर्जें भी वैष्णव साहित्य के छन्दानुबन्ध से समता रखती हैं। इन सबसे भी ऊपर जैनाचार्यों ने जैनेतर कई संस्कृत ग्रन्थों की सुन्दर टीकाएँ लिखी हैं, ऐसे ग्रन्थों की जिनका जैन धर्म से दूर का भी सम्बन्ध नहीं। आज जब देश में चारों ओर भावात्मक एकता की गूँज है तब ऐसे समय में जैन धर्म की यह राष्ट्रीय भूमिका पथ-प्रदर्शन

का काम कर सकती है ।

(३) अध्यात्म भावना ।

जैन धर्म ने शरीर की अपेक्षा आत्मा को, राग की अपेक्षा विराग को अधिक महत्व दिया है। पर यह एकान्त रूप से निवृत्तिमूलक भी नहीं है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुन्दर, सुखद समन्वय इस धर्म की विशेषता है। "जैन धर्म ज्ञानप्रधान है, भक्ति का उससे सम्बन्ध नहीं" यह कहना भ्रामक है। यह सही है कि जैन धर्म ज्ञान प्रधान है पर वह भक्ति से रहित नहीं है। उसमे ज्ञान, भक्ति और चारित्र का सामंजस्य है।

जैन धर्म की यह अध्यात्म भावना सगुण और निर्गुण भक्ति के झगड़े में नहीं पड़ी। गोस्वामी तुलसीदास के समय इन दोनों भक्तिधाराओं में जो समन्वय दिखाई पड़ता है उसके बीज जैन भक्ति काव्य में आरम्भ से मिलते हैं। जैन दर्शन मे निराकार आत्मा और वीतराग साकार भगवान के स्वरूप में एकता के दर्शन होते हैं। पंचपरमेष्ठी महामन्त्र (णमो अरिहन्ताण, णमो सिद्धाणं आदि) मे सगुण और निर्गुण भक्ति का कितना सुन्दर मेल बिठाया है। अर्हन्त सकल परमात्मा कहलाते है। उनके शरीर होता है, वे दिखायी देते हैं। सिद्ध निराकार हैं, उनके कोई शरीर नही होता, उन्हें हम देख नहीं सकते। एक ही मंगलाचरण मे इस प्रकार का समभाव कम देखने को मिलता है।

इस अध्यात्म-भावना के कारण ही जैन साहित्य प्रधानतः शान्त रसात्मक है। भोग से योग की ओर इसकी गति रही है। यहां जो नायक-नायिका हैं वे प्रारम्भ में सौन्दर्य, प्रेम और शृंगाररस दिखाये गये है पर बाद में वे किसी प्रत्यक्ष या परोक्ष कारण से विरक्त होकर साधु बन जाते हैं। अगी रस शान्तरस होते हुए भी सहायक रूप में वीर, शृंगार, करुण आदि रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। अधर्म की सर्वत्र पराजय और धर्म की सर्वत्र विजय भावना से प्रभावित होने के कारण जैन साहित्य सामान्यतः सुखान्त रहा है।

जैन धर्म की इस अध्यात्म-भावना मे अवतारवाद को स्थान नहीं है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति छिपी है। अतः अपने सद्-

गुणों का चरम विकास कर आत्मा ही परमात्मा बन सकती है। कोई ईश्वर मनुष्य का रूप धारण कर अधर्म के विनाश के लिये धरती पर अवतरित नहीं होता बल्कि मनुष्य ही अपनी आत्म-शक्ति के कारण ईश्वर बनकर ऊपर उठता है। ईश्वर भावना का यह बौद्धिक निरूपण आगे चलकर आधुनिक काल में राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' व 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' महाकाव्य मे प्रकट हुआ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन विचार-धाराओं का प्रभाव हिन्दी संतकाव्य और भक्तिकाव्य पर यथेष्ट रूप में पड़ा। डा० प्रेमसागर जैन ने ठीक ही लिखा है—"सूरदास के वियोग-वर्णन पर विनयचन्द्र सूरि की 'नेमिनाथ चतुष्पदी' का प्रभाव है। स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' की सीता की शालीनता, सौन्दर्य और पतिनिष्ठा तुलसी के 'रामचरितमानस' में प्रतिबिम्बित है। पुष्पदन्त के 'महापुराण' की कृष्णलीला का विकसित रूप 'सूरसागर' में निबद्ध है। धनपाल की 'भविसयत्तकहा' के पात्रों का यदि नाम बदल दिया जाय तो जायसी का 'पद्मावत' बन जाये" (जैनभक्ति काव्य की पृष्ठभूमि)

जैन साहित्यकारों ने वस्तु और शिल्प दोनों रूपों में हिन्दी साहित्य को अपनी देन दी है। वस्तु रूप में उन्होंने चारों अनुयोग पर लिखा है। प्रथमानुयोग में कथात्मक साहित्य समाविष्ट है, करणानुयोग में खगोल आदि गणित प्रधान विषयों का प्रतिपादन है, चरणानुयोग में नीति और सदाचरण की बातें कही गई हैं और द्रव्यानुयोग मे तत्वज्ञान की विवेचना है। इस प्रकार जैन साहित्य जगत और जीवन की प्रत्येक अवस्था को स्पर्श कर सका है। गद्य और पद्य दोनों में विचार व्यक्त किये गये हैं।

पद्य के क्षेत्र में जैन साहित्य की सबसे बड़ी देन है विविध काव्य-रूपों का सर्जन और विकास। श्री अगरचन्द नाहटा ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' मे प्रकाशित (सं० २०१०, अंक ४) 'प्राचीन भाषा काव्य की विविध संज्ञाएं' शीर्षक महत्त्वपूर्ण निबन्ध में ऐसे ११५ काव्य-रूपों की सूचना दी है। इनका वर्गीकरण हम मोटे तौर पर चार भागों में कर सकते हैं—

(१) चरित-काव्य:—इसमे आदर्श पुरुषों की जीवन-गाथा को पद्यबद्ध किया गया है। ये गाथायें प्रबन्ध और मुक्तक दोनों रूपों में गाई

गयी हैं। इस वर्ग मे रास, रासो, चौपई, चोपाई, संधि, चर्चरी, ढाल, चौढ़ालिया, छढ़ालिया, प्रबन्ध, चरित, सम्बन्ध, आख्यानक, कथा, वेलि, पवाड़ा आदि काव्य रूप आते हैं।

(२) ऋतु-काव्यः—इसमें ऋतु एवं अन्य उत्सवों पर लिखे गये काव्य रूप सम्मिलित हैं। जैसे—फागु, धमाल, बारहमासा, विवाहलो, धवल, मगल आदि।

(३) नीति-काव्यः—इसमें व्यवहार, शिक्षा, ज्ञान आदि की बातें कही गई हैं। मुख्य काव्य-रूपों के नाम है—संवाद, कक्का, मातृका, बावनी, कुलक, हीयाली आदि।

(४) स्तुति-काव्यः—इसमे तीर्थंकरों, तीर्थों, धर्माचार्यों, विशिष्ट महापुरुषों आदि का स्तवन किया गया है। दुर्गुणों से बचने के लिये और सद्गुणों को ग्रहण करने के लिये जीव को दिये गये उद्बोधन भी इसी में सम्मिलित हैं। इस वर्ग मे स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, सज्झाय, विनती, गीत, नमस्कार, चौबीसी, तीर्थमाला, बीसी आदि काव्यरूप आते हैं।

गद्य के क्षेत्र मे भी इस प्रकार के काव्य रूपों की देन देकर जैन विद्वानो ने गद्य का विस्तार किया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में सामान्यतः यह माना जाता है कि आधुनिक काल ही गद्यकाल है और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही इसके जनक हैं। पर गद्य के विकास के जो सोपान हैं उनमें जैन गद्य के नमूने सबसे प्राचीन ही नहीं सख्या में भी अधिक हैं। गद्य क्षेत्र में जैन विद्वानों ने दो प्रकार से योगदान दिया है। टीकाएँ लिखकर और स्वतन्त्र रूप से मौलिक सृजन कर।

टीकाओं के रूप में यह गद्य दो प्रकार का मिलता है। बालावबोध रूप मे और टब्बा रूप में। बालावबोध से अभिप्राय ऐसी टीका से है जो सरल सुबोध हो। इसमें केवल मूल की व्याख्या ही नही मूल सिद्धान्तों को स्पष्ट करने वाली कथा भी रहती है। यह कथा ही बालावबोध शैली की मुख्य विशेषता है। टब्बा बालावबोध से बहुत संक्षिप्त होता है। इसमें मूल शब्द का अर्थ उसके ऊपर, नीचे या पार्श्व में लिख दिया जाता है। ये टीकाएँ जैन आगमों, स्तोत्रग्रंथों, चरित्रग्रंथों, दार्शनिक ग्रंथों आदि पर विपुल परिमाण में लिखी गई हैं।

इस टीका साहित्य के अतिरिक्त जैन गद्य साहित्य स्वतन्त्र रूप में भी लिखा गया। व्याख्यान, विधि-विधान, धर्म-कथा, खण्डन-मण्डन, सिद्धान्त सारोद्धार एवं तात्त्विक विवेचन के रूप में इसके दर्शन होते हैं।

इस धार्मिक गद्य के साथ-साथ जैन विद्वानों ने ऐतिहासिक गद्य का भी निर्माण किया। यह गद्य मुख्यतः छः रूपों में मिलता है—

(१) पट्टावली—इसमें जैन आचार्यों की परम्परा के इतिहास के साथ-साथ पट्टधर आचार्यों का विस्तार से वर्णन रहता है।

(२) उत्पत्ति ग्रन्थ—इन ग्रन्थों में किसी मत, गच्छ आदि की उत्पत्ति का इतिहास रहता है।

(३) वंशावली—इसमें किसी जाति विशेष की वंश परम्परा का वर्णन होता है।

(४) दफ्तर-बही—इसमें समय-समय पर होनेवाले विहार दीक्षादि का विवरण लेखबद्ध किया जाता है। यह एक प्रकार की डायरी है।

(५) ऐतिहासिक टिप्पण :—जैन आचार्य अपने युग में ऐतिहासिक विषयों का संग्रह भी करते रहते थे। यह संग्रह छोटी-छोटी टिप्पणियों के रूप में होता था। इनके विषयों में अनेकरूपता होती है।

(६) ग्रन्थ-प्रशस्ति :—इसमें किसी ग्रंथ की समाप्ति पर ग्रंथकर्त्ता का परिचय, उसकी गुरु-परम्परा, रचना-स्थल, रचना-प्रेरणा, रचना-संवत् आदि का ऐतिहासिक विवरण दिया जाता है। प्रतिलिपिकार भी अपना नाम, गुरु-परम्परा, लेखन स्थल, लेखन-संवत्, लेखन-प्रेरणा व लेखन के उद्देश्य पर सामान्यतः प्रकाश डालता है।

इसके अलावा वात, दवावैत, वचनिका, वर्णक-ग्रंथ, पत्र-साहित्य आदि रूपों में जैन गद्य साहित्य प्राप्त होता है। जैन आचार्यों की प्रशस्ति में लिखा जाने वाला अभिलेखीय गद्य भी देखने को मिलता है। पद्य की तरह गद्य की देन भी अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

काव्यशास्त्रीय परम्परा के विकास में भी जैन विद्वानों का पर्याप्त

योगदान रहा है। अलंकार और छन्द के क्षेत्र में कई विद्वानों ने लक्षण ग्रन्थ लिख कर सैद्धान्तिक आलोचना का विस्तार किया। छन्द-विधान की दृष्टि से जैन काव्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कई छन्दों को मिला कर एक नवीन छन्द का निर्माण करना जैन कवियों का सामान्य धर्म रहा है। विभिन्न लोकधुनो और देशियो को अपनाकर जैन विद्वानों ने एक ओर जैनतर क्षेत्र में अपने साहित्य का व्यापक प्रचार किया तो दूसरी ओर विलुप्त होती हुई छन्दशास्त्रीय विरासत की भी रक्षा की।

व्यक्तित्व की दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि ये जैन विद्वान सामान्य रूप से पहले सन्त और बाद में कवि हैं। कवि रूप में इनका भक्त हृदय और उपदेशक मस्तिष्क बैठा हुआ है। दूसरे शब्दों में सन्त और भक्त हृदय का सुन्दर समन्वय इन जैन कवियों के व्यक्तित्व मे देखने को मिलता है। ये कवि किसी राज्य दरबार के आश्रित नही रहे। इसलिये जो अनुभव इनकी वाणी मे मुखरित हुआ है वह प्रभाव डालता है। इन्होने अलकार-विधान मे जो उपमान चुने हैं वे भी शास्त्रीय कम और लोक-जीवन से सम्बन्ध रखने वाले अधिक है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जैन साहित्य ने हिन्दी साहित्य को पद्य और गद्य दोनों क्षेत्रों में अपनी अमूल्य देन दी है। यह देन रूपगत भी है और शिल्पगत भी। रूपगत देन में आगे विकसित होने वाले सन्त काव्य और भक्ति काव्य के बीज सन्निहित हैं। शिल्पगत देन में इन कवियों ने हिन्दी कविता को शास्त्रीयता के बन्धन से बाहर निकाल कर लौकिक धरातल पर ला खडा किया, और उसे केवल मनोरंजन की वस्तु न रख कर मनस्तृप्ति का साधन बनाया।

---

२० | जैन साहित्य की विचार-धारा व विशेषताएं

जैन साहित्य की विचारधारा :

साहित्य का स्वभाव विषमता में समता स्थापित करना है। यह समता-स्थापन का कार्य बाहर से जितना सरल लगता है अन्दर से उतना ही दुरुह है। इसके लिए साहित्यकार को कठिन तपस्या करनी पड़ती है जीते जी घुल-घुल कर मरना पड़ता है, दीपक की भांति तिल-तिल कर जलना पड़ता है। यही जलन और तड़पन सच्चे साहित्य की कसौटी है। जो साहित्यकार साधक बन जाता है (वणिक नहीं रहता) उसका साहित्य ही विरोधी भावों में मेल करा सकता है और अन्ततः 'सहितस्य भाव साहित्यम्' की ध्वनि को आत्मसात् कर लोक-मंगल-भावना का वाहक बन सकता है। कहना न होगा कि जैन साहित्य और जैन साहित्यकार इस मंगल भावना के सच्चे वाहक और साधक हैं। वे जो कुछ कहते हैं पहले उसे जीवन में उतारते हैं। उनके जीवन की प्रयोगशाला में ही विभिन्न भाव-भुवना आलोक ग्रहण करते हैं, आकार धारण करते हैं और तब अपने तेज से, प्रकाश से दूसरों को प्रतिभासित और दीपित करते हैं।

साहित्य के मूल में हित की भावना है। पर सामान्यतः यह हित भावना मानव समुदाय तक ही सीमित है। आज साहित्य का केन्द्रीय भाव मानवाश्रित ही है। मानव ही वह केन्द्र बिन्दु है जिसके चारों ओर साहित्य के विभिन्न अंग अपनी रूपात्मक परिधि का विस्तार करते हैं। पर जैन साहित्य की विचारधारा में यह हित-भावना केवल मात्र मानव तक ही

सीमित नही है। इसकी परिधि अत्यन्त व्यापक है, उसकी दृष्टि अत्यन्त उदार है। वह सृष्टि बनकर मुस्कराती है। उसमे पशु, पक्षी और कीट पतंगों तक का हित भी समाविष्ट है। उसकी उद्घोषणाहै– 'सभी जीव जीना चाहते है, मरना कोई नहीं चाहता।'

हित-सम्पादन की यह भावना तभी फलवती हो सकती है जब आत्मा का अन्तिम लक्ष्य वीतरागता हो। जैन धर्म ने मुक्ति को ही जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार किया है। इस कैवल्य पद की प्राप्ति के लिए जीवन-शुद्धि की अत्यन्त आवश्यकता है। जीवन बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनो दृष्टियों से इतना पवित्र, निर्विकार और निष्कलुष बन जाय की उसका न तो किसी के प्रति द्वेष रहे न किसी के प्रति राग। इस स्थिति तक पहुँचने के लिए साधक को साधना के विभिन्न स्तरो से गुजरना पड़ता है। उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की आराधना करनी पडती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह जैसे महाव्रतों की स्थूल और और सूक्ष्म रूप से क्रमागत साधना करनी पड़ती है। क्रोध के भुजंग को क्षमा की मधुर स्वर लहरी से नथना पडता है, माया के मर्कट को सरलता के पाश में बांधना पडता है और लोभ के समुद्र को, सन्तोष के अगस्त्य मुनि बन पीना पड़ेता है। अपने 'स्व' को ही 'पर' में परिणत कर विश्व के साथ तादात्म्य भाव स्थापित करना पड़ता है। यही सोऽहं की भावना है, आत्मा को परमात्मा बनाने का उपक्रम है और है यही साहित्य की निष्काम उपलब्धि, चरम परिणति और पूर्ण रसदशा।

पर इनसे यह न समझा जाना चाहिए कि जैन साहित्य की विचार-धारा केवल मात्र वैयक्तिक जीवन विकास पर ही बल देती है और उसमें सामाजिक तत्त्वो की कमी है। सच तो यह है कि जैन धर्म का दर्शन व्यक्ति से आरम्भ होकर समाज के साथ घुल मिल जाता है। स्पष्ट शब्दों में यों कहा जा सकता है कि यहाँ व्यक्ति को ही अपने हिताहित का उत्तर-दायी, अपने उत्कर्षापकर्ष को जिम्मेवार और अपने सुख-दुख का कर्त्ता माना गया है। ईश्वर की स्थिति स्वीकार अवश्य की गई है पर कर्त्ता,हर्त्ता के रूप में नहीं, केवल मात्र वैयक्तिक विकास के चरम निदर्शन के रूप में ही। दैववाद पर निर्भर रहने वाली आत्मभीरु, भाग्यवादी और निष्क्रिय जनता के मनोलोक मे पुरुषार्थवाद का ओज फूंकने वाली, उनकी पराश्रित चेतना को आत्म विश्वास की शक्ति देकर प्रबुद्ध करने वाली और अपने ही

धन पर सार्वजनीन गुणों को विकसित करने की क्षमता तथा दृढ़ता प्रदान करने वाली विचारधारा विशिष्ट धरोहर है जैनधर्म की, जैन साहित्य की, जैन संस्कृति की।

ईश्वर के इस कर्तृत्ववाद की अवहेलना कर जैन दर्शन ने कोई आधार शून्य, अव्यावहारिक कपोल कल्पना का महल नहीं खड़ा किया। उसने मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक तथ्यों के बल पर इस सिद्धांत का विवेचन और विश्लेषण किया है।' इसी का परिणाम है कि कर्मवाद जैसा सिद्धान्त सामने आया। कर्मवाद की मान्यता है कि आत्मा ही भला करती है और आत्मा ही बुरा। 'अप्पा कत्ता विकत्ता य'। सुख-दुःख कोई ऊपर से नहीं देता। जब व्यक्ति की आत्मा शुद्ध परिणाम वाली होती है तो उसका रास्ता मंगलकारी बन जाता है, जब व्यक्ति की आत्मा पर राग-द्वेष, मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय आदि के पर्त जम जाते हैं तब उसकी अनन्त ज्ञान क्षमता और शक्तिमत्ता पर आवरण पड़ जाता है। इन पर्तों को हटाने के लिए ही श्रमण-साधना का विधान है। जब विशुद्ध परिणामों से, शुद्ध आचार से, कठोर तपस्या से ये कल्मष मिट जाते हैं तब आवरण को छेदकर आत्मा का उज्ज्वल प्रकाश बाहर फूट पड़ता है, यह अमर बन जाता है, परमात्मा बन जाता है। यह परमात्मा बनने की क्षमता किसी एक व्यक्ति में ही नहीं है, किसी एक व्यक्ति की ही बपौती नहीं है कि प्रत्येक युग में वही मनुष्य रूप धारण कर इस संसार में अवतरित होता रहे। इस प्रकार तथाकथित अवतारवाद की अवहेलना कर जैन दर्शन ने वह सामाजिक क्रान्ति की जिसमें व्यक्ति-व्यक्ति को इहलोक में ही समान स्तर पर प्रतिष्ठित होने का अधिकार नहीं मिला वरन् लोकान्तर प्रदेश में भी वह सर्वोच्च पद का अधिकारी बन सका।

सांसारिक जीवन को संतुलित, संयमित और मर्यादित बनाने के लिये भी जैन विचारधारा प्रयत्नशील रही है। उसने संसार को मायावी, नश्वर और असार अवश्य कहा पर उसके संघर्षों से मुकाबला न कर पलायन वादी बनने का उपदेश कभी नहीं दिया। उसने संसारी प्राणियों के लिये गृहस्थधर्म की साधना का मनोवैज्ञानिक क्रम प्रस्तुत किया। ग्यारह प्रतिमाओं का पालक गृहस्थ क्रमशः श्रमण की कोटि तक पहुँच सकता है।

जैन साहित्य की विचारधारा जितनी आध्यात्मिक और दार्शनिक है

उतनी ही सामाजिक और व्यावहारिक भी । एक धर्म विशेष में पलकर भी वह धर्म निरपेक्ष है। उसकी साधना के चरम बिन्दु को स्पर्श करने वाला किसी भी वर्ण, जाति, लिंग म सम्बन्धित हो सकता है। ये बाह्य चिन्ह उसकी साधना के लिये बाधक नही। बाधक तत्त्व है—आत्मा की कलुषता, सदाचार की शिथिलता, पाखण्ड-प्रदर्शन और प्रवचना।

विष को बेलडी, डायन और विलास की पुतली समझी जाने वाली नारी भी यहाँ समादृत हुई है। उसे सामाजिक महत्त्व ही नही मिला, आध्यात्मिक साधना की नेतृत्व गरिमा का पद तक भी मिला (चन्दनबाला को) है। उसे पुरुष ने सहचरी के रूप मे ही नही देखा, सहधर्मिणी के रूप मे भी देखा है। यही नहीं धर्म-प्रेरणा और उद्बोधिका बनकर भी वह जीवन में आई (राजमति) है। जब-जब पुरुष फिसलने लगा है, तब-तब नारी न उसे बाँह देकर सम्भाला है। नारी के प्रति यह दृष्टिकोण आज के मानववाद और प्रगतिशील जीवन का मुख्य बिन्दु बन गया है जबकि जैन विचारधारा ने इसे बहुत पहले ही प्रसारित कर दिया था।

नारी ही नही, समाज-वपु के चरण समझे जाने वाले अछूत और हरिजन भी इस विचारधारा में सम्मान के अधिकारी बने है। जिस समय इन अछूत समझे जाने वाले लोगो की छाया तक को छूना पाप माना जाता था, बस्ती मे आते समय जिन्हे अपने आगमन की सूचना लकडी बजा-बजा कर देनी पडती थी ताकि लोग भ्रान्तिवश उन्हे छू न ले। ऐसे समय मे जैन धर्म ने जातिवाद का घोर विरोध किया और इन पतित समझे जाने वाले लोगो को आचार का पाठ पढाया, जीवन को पवित्र बनाने का उपदेश दिया और उन्हे साधना की भूमिका पर ला उतारा (हरिकेशी मुनि) वर्ण व्यवस्था की विकृति को मिटाकर इस विचारधारा ने कर्म के आधार पर ऊच-नीच की प्ररूपणा की जन्म के आधार पर अपने को ऊचा मानने वाले लोगो की खबर ली। व्यक्ति-पूजा के स्थान पर गुण-पूजा को प्रतिष्ठित किया। सद्दालपुत्त जैसा कुम्भकार अपने विशिष्ट गुणो के कारण ही महावीर के प्रमुख दस आदर्श श्रावकों म स्थान पा सका।

जैन धर्म पुरुषार्थ प्रधान धर्म है। उसने जीवन मे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को अपने ढग से महत्त्व दिया है। धर्म और अर्थ को किसी विशिष्ट सीमा मे परस्पर पूरक मानकर उसने अर्थार्जन की प्रवृत्ति को

धर्मोन्मुखी बनाया है । अर्थ के उच्छृंखल उपभोग और निस्सार प्रयोग पर नियन्त्रण रखने के लिए धर्म को पहरेदार बैठाया है । यह धर्म का पहरेदार हृदय को उदार और संवेदनशील बनाकर अर्थ को हित-सम्पादन और परोपकार में खर्च करवाता है, संग्रह-वृत्ति को मर्यादित करवाता है । परिग्रह परिमाण व्रत इसी विचारधारा को बल देता है । दया और दान की भावना का इसी से निकट सम्बन्ध है । 'नहीं किसी को बहुत अधिक हो, नहीं किसी को कम हो' इस व्यवस्था का सूत्र इसी के अन्तराल में निहित है ।

काम और मोक्ष का पारस्परिक नैकट्य भी व्यर्थ नहीं है । वैदिक संस्कृति में 'पुत्र हीनस्य गतिर्नास्ति' के संदर्भ में भले ही काम का स्थूल अर्थ में प्रयोग किया गया हो पर सूक्ष्म अर्थ की दृष्टि से जब तक कामना का एक अंश भी मन मे है तब तक मुक्ति संभव नहीं । काम शब्द 'मोक्ष' प्राप्ति की इसी निष्काम भावना का संकेतक है ।

जैन साहित्य की विचारधारा जीवन-आस्था और जीवन-सम्पूर्णता की विचारधारा है । वह अन्धकार से प्रकाश की ओर अग्रसर कराने वाली विचारधारा है, मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाने वाली विचारधारा है, पंक से पंकज बनाकर मानवता को पार्थिव भूमि से ऊपर उठाने वाली विचारधारा है ।

इस विचारधारा का स्वर आक्रमणात्मक नहीं, रक्षात्मक है, प्रतिरोधात्मक नहीं, समन्वयात्मक है । यह समन्वय भावना आध्यात्मिक, भौतिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में विकसित हुई है । आध्यात्मिक क्षेत्र के विवादग्रस्त प्रश्नों को सुलझाने में इस भावना ने बहुत बड़ा काम किया । दार्शनिकों ने इस दृष्टि को 'स्याद्वाद' और 'अनेकान्तवाद' की संज्ञा दी । इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु, विचार और भाव के दो पहलू होते हैं । किसी एक पहलू को देखकर उसे ही सत्य मान लेना और उस पर अड़े रहना हठवादिता और-दुराग्रह है । यह उस वस्तु के एकान्त के पक्ष का अध्ययन है । बहुत सम्भव है, उस वस्तु के दूसरे पहलू को देखने से आपका हठवाद चूर-चूर हो जाय और वस्तु के सर्वांग स्वरूप से आप परिचित हो सकें । पांच अन्धों का हाथी के सम्बन्ध में पृथक-पृथक अध्ययन कितना अपूर्ण, एकान्तिक और अपरिपक्व है । पर सबको मिला देने से हाथी-धर्म का रूप

सामने आ खड़ा होता है। इसी दृष्टि ने आज तक जैन धर्म को टिकाये रखा है। इसे अवसरवादिता कहकर टाला नही जा सकता।

आध्यात्मिक और दार्शनिक क्षेत्र मे ईश्वर के स्वरूप को लेकर बडा विवाद चलता रहा है। किसी ने ईश्वर की सगुण रूप मे कल्पना की तो किसी ने निर्गुण रूप मे। जैन धर्म ने दोनों के प्रति समभाव रखते हुए स्वीकार किया कि अरिहन्त सकल परमात्मा है, वे सशरीर हैं, दृश्यमान हैं और सिद्ध निराकार परमात्मा हैं, अशरीर हैं, अदृश्यमान हैं। एक ही मगलाचरण मे 'णमो अरिहन्ताण, णमो सिद्धाण' कहकर दोनो की एक ही साथ वन्दना की है। ज्ञान और भक्ति को लेकर जो विवाद खड़ा हुआ उसका निराकरण भी इसी दृष्टि से ज्ञान और क्रिया को यथा महत्त्व देकर किया गया।

भौतिकता और आध्यात्मिता, प्रवृत्ति और निवृत्ति, कला और धर्म का समन्वय भी यहाँ देखने योग्य है। जैन कला—वास्तु कला, मूर्तिकला, चित्रकला, सगीत कला—का जो उत्कर्ष विभिन्न मन्दिरो और भीत्ति चित्रो मे दिखाई पडता है वह उसके जीवन विधायक पक्ष का उद्घाटन है। जो लोग जैन धर्म को अभावमूलक और निषेधपक्षीय रूप में ही मानते रहे हैं वह उनका एकान्त दृष्टिकोण है जो भ्रममूलक है। उपासकदशाग आदि सूत्रो मे श्रावको के जीवन का जो वैभवपूर्ण वर्णन मिलता है, नगरो के परिवेश का भव्य चित्रण मिलता है, बारह व्रतो की मर्यादाओ मे जिन अमूल्य अलभ्य और विलासपूर्ण वस्तुओ की सूची मिलती है उसमे जैन धर्मावलम्बी प्रमुख श्रावको के सास्कृतिक वैभव का किंचित सकेत मिल सकता है। यही नही, धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाले लोकोपदेष्टा तीर्थंकरो के पच कल्याणक महोत्सवों पर देवाधिराज इन्द्र द्वारा (मनुष्य द्वारा नही) जो वैभवपूर्ण आयोजन किया जाता है उससे धर्म की कलात्मक समृद्धि और विलासपूर्ण साम्कृतिक गरिमा का पता चलता है। पर यह वैभव विलास व्यक्ति को मोहग्रस्त और रागी नही बनाता वरन् आत्मानुरागी और सयमशील बनाता है।

सक्षेप में कहा जा सकता है कि जैन धर्म की विचारधारा का प्रारम्भ तो व्यक्ति सुधार से होता है पर उसका अन्तिम लक्ष्य समष्टि हित ही है। कैवल्य पद प्राप्ति की दार्शनिक भूमिका सब के मुक्त होने की, सबको पर-

मात्मा बनाने की ओर सब में अनन्त, अबाध सुखानुभूति की क्षमता के प्राकट्य की उद्घोषणा है।

जैन साहित्य की विशेषताएँ :

हमने जैन साहित्य की विचारधारा के जिन तत्त्वों की ओर संकेत किया है वे तत्त्व उस साहित्य की रचनात्मक प्रक्रिया में सहायक सिद्ध हुए हैं। जैन साहित्य की सैद्धान्तिक भूमिका का अध्ययन करते समय हमें इन्हीं तत्त्वों की ओर ध्यान देना होगा। ये तत्त्व ही जैन साहित्य के भाव पक्ष और कला पक्ष को विशिष्टता प्रदान कर सके हैं। संक्षेप में जैन साहित्य की निम्न-लिखित विशेषताएँ हैं :

(१) विविध और विशाल : जैन साहित्य विविध और विशाल है। सामान्यतः यह माना जाता है कि जैन साहित्य में निर्वेद भाव को ही अनेक रूपों और प्रकारों में चित्रित किया गया है। यह सच है कि जैन साहित्य का मूल स्वर शान्त रसात्मक है पर जीवन के अन्य पक्षों और सार्वजनिक विषयों की ओर से उसने कभी मुख नहीं मोड़ा है। यही कारण है कि आपको जितना वैविध्य यहाँ मिलेगा, कदाचित् अन्यत्र नहीं। एक ही कवि ने शृंगार की पिचकारी भी छोड़ी है और भक्ति का राग भी अलापा है। वीरता का ओजपूर्ण वर्णन भी किया है और हृदय को विगलित कर देने वाली करुणा की बरसात भी की है। साहित्य के रचनात्मक पक्ष से आगे बढ़कर उसने उसके बोधात्मक पक्ष को भी सम्पन्न बनाया है। व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्र-तन्त्र, इतिहास, भूगोल, दर्शन, राजनीति आदि वाङ्मय के विविध अंग उसकी प्रतिभा का स्पर्श कर चमक उठे हैं। विषय की दृष्टि से सम्पूर्ण जैन साहित्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है (१) आगम साहित्य और (२) आगमेतर साहित्य। आगम साहित्य के दो प्रकार हैं—अर्थ आगम और सूत्र आगम। तीर्थंकर भगवान् द्वारा उपदिष्ट वाणी अर्थागम है। तीर्थंकरों के प्रवचन के आधार पर गणधरों द्वारा रचित साहित्य सूत्रागम है। ये आगम आचार्यों के लिये अक्षय ज्ञान भण्डार होने से 'गणि पिटक' तथा संख्या में बारह होने से 'द्वादशांगी' नाम से भी अभिहित किये गये हैं। प्रणेता की अपेक्षा से ये अंग प्रविष्ट कहलाते हैं। द्वादशांगी के अतिरिक्त जो अन्य उपांग, छेद, मूल और आवश्यक हैं वे पूर्वधर स्थविरों द्वारा रचे गये हैं और अनंग प्रविष्ट कहलाते हैं।

आगमेतर साहित्य के रचयिता जैन आचार्य, विद्वान्, संत आदि है। इसमें गद्य और पद्य के माध्यम से जीवनोपयोगी सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है। यह वैविध्यपूर्ण जैन साहित्य अत्यन्त विशाल है। हिन्दी के आदिकाल का अधिकांश भाग तो इसी से बनी है। यह साहित्य निर्माण की प्रक्रिया आज तक अनवरत रूप से जारी है। इसका प्रकाशन बहुत कम हुआ है। यह विभिन्न उपाश्रयो, मन्दिरों, स्थानकों और वैयक्तिक भंडारों में बंद पड़ा है। इसके प्रकाशन की अत्यन्त आवश्यकता है। ज्यों-ज्यों यह विद्वानों की दृष्टि में आयेगा त्यों-त्यों साहित्य के इतिहास पर नया प्रकाश पड़ता जायगा।

(२) **विभिन्न काव्य रूपों का निर्माण :** जैन साहित्य की यह विविधता विषय तक ही सीमित नही रही उसने रूप और शैली में भी अपना कौशल प्रकट किया। आगमेतर साहित्य को अभिव्यक्ति की दृष्टि से दो भागों मे विभक्त कर सकते है (१) पद्य और (२) गद्य। ये विविध रूपों मे विकसित हुए। पद्य साहित्य के सौ से अधिक काव्य रूप देखने को मिलते हैं। सुविधा की दृष्टि से समस्त पद्य साहित्य के चार वर्ग किये जा सकते हैं। चरित काव्य, उत्सव काव्य, नीति काव्य और स्तुति काव्य। चरित काव्य मे सामान्यत: किसी धार्मिक पुरुष, तीर्थंकर आदि की कथा कही गई है। ये काव्य रास, चौपाई, ढाल, पवाड़ा, संधि, चर्चरी, प्रबन्ध, चरित, सम्बन्ध, आख्यानक, कथा आदि रूपों मे लिखे गये है। उत्सव काव्य विभिन्न पर्वों और ऋतु विशेष के बदलते हुए वातावरण के उल्लास और विनोद को चित्रित करते हैं। फागु, धमाल बारहमासा, विवाहलो, धवल, मंगल आदि काव्य रूप इसी प्रकार के हैं। इनमे सामान्यत: लौकिक रीति-नीति को माध्यम बनाकर उनके लोकोत्तर रूप को ध्वनित किया गया है। नीति काव्य जीवनोपयोगी उपदेशों से सम्बन्धित हैं। इनमे सदाचार-पालन, कषाय-त्याग, व्यसन-त्याग, ब्रह्मचर्य व्रत, पच्चखाण, भावना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, दान, दया, संयम आदि का माहात्म्य तथा प्रभाव वर्णित है। संवाद, कक्का, मातृका, बावनी छत्तीसी, कुलक, हीयाली आदि काव्य रूप इसी प्रकार के हैं। स्तुति काव्य महापुरुषों और तीर्थंकरों की स्तुति से सम्बन्धित हैं। स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, सज्झाय, वीनती, नमस्कार, चौबीसी, बीसी आदि काव्य रूप स्तवनात्मक ही हैं।

स्थूल रूप से गद्य साहित्य के भी दो भाग किये जा सकते हैं।

मौलिक गद्य सृजन और अमौलिक गद्य टीका, अनुवाद आदि। मौलिक गद्य सृजन धार्मिक, ऐतिहासिक, कलात्मक आदि विविध रूपों में मिलता है। धार्मिक गद्य में सामान्यतः कथात्मक और तात्त्विक गद्य के ही दर्शन होते हैं। ऐतिहासिक गद्य गुर्वावली, पट्टावली, वंशावली, उत्पत्ति ग्रन्थ, दफ्तर बही, टिप्पण आदि रूपों में लिखा गया है। इन रूपों में इतिहास-धर्म की पूरी-पूरी रक्षा करने का प्रयत्न किया गया है। आचार्यों आदि की प्रशस्ति यहाँ अवश्य है पर वह ऐतिहासिक तथ्यों की हत्या नहीं करती। कलात्मक गद्य वचनिका, दवावैत, बात, सिलोका, वर्णक, संस्मरण आदि रूपों में लिखा गया। अनुप्रासात्मक झंकारमयी शैली और अन्तर्तुकात्मकता इस गद्य की अपनी विशेषता है। आगमों में निहित दर्शन और तत्त्व को जनोपयोगी बनाने की दृष्टि से प्रारम्भ में निर्युक्तियां और भाष्य लिखे गये। पर ये पद्य में थे। बाद में चलकर इन्ही पर चूर्णियां लिखी गईं। ये गद्य में थीं। निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णी साहित्य प्राकृत अथवा संस्कृत मे ही मिलता है। आगे चलकर टीका युग आता है। ये टीकाएँ आगमो पर ही नही लिखी गईं वरन् निर्युक्तियों और भाष्यों पर भी लिखी गईं। ये टीकाएँ सामान्यतः पुरानी हिन्दी मे लिखी मिलती हैं। इनके दो रूप विशेष प्रचलित हैं। टब्बा और और बालावबोध। टब्बा संक्षिप्त रूप है जिसमें शब्दों के अर्थ ऊपर, नीचे या पार्श्व में लिख दिये जाते हैं, पर बालावबोध में व्याख्यात्मक समीक्षा के दर्शन होते हैं। यहां निहित सिद्धान्त को कथा और दृष्टांत दे-देकर इस प्रकार चित्रित किया जाता है कि बालक जैसा मन्द बुद्धि वाला भी उसके सार को ग्रहण कर सके। पद्य और गद्य के ये विभिन्न साहित्य रूप जैन सा हृत्य की अपनी विशेषता है।

(३) लोक भाषा का प्रयोग : जैन साहित्यकार सामान्यतः साधक और संत रहे हैं। प्रवचन, व्याख्यान, लोकोपदेश उनके दैनिक कार्यक्रम का अंग रहा है। साहित्य उनके लिए विशुद्ध कला की वस्तु कभी नहीं रहा, यह धार्मिक प्रचार और साधना का एक अंग बनकर आया है। यही कारण है कि अभिव्यक्ति में सरलता, सुबोधता और सहजता का सदा आग्रह रहा है। भाषा विज्ञान का यह सामान्य नियम रहा है कि जब-जब साहित्यकारों ने किसी भाषा विशेष को व्याकरण के जटिल नियमों में बांधा है तब-तब जन साधारण ने सामान्य लोक भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। जब वैदिक संस्कृत कठोर नियमों में जकड़ दी गई तब

प्राकृत लोकभाषा के रूप मे प्रचलित हुई। जैन साहित्य के मूल स्रोत सारे आगम प्राकृत भाषा में ही रचे गये हैं। यह वह युग था जब इन जनपदीय भाषाओं का तिरस्कार किया जाता था और अवम पात्रों के मुख से, संस्कृतादि नाटकों में, प्राकृत के बोल उच्चरित करवाये जाते थे। पर जैन तीर्थंकरों ने इस बात की परवाह नहीं करते हुए अपनी अमरवाणी का उद्‌घोष प्राकृत के माध्यम से ही किया। जब प्राकृत को भी कठोर कारा में बंदी बना दिया गया तब जैन साहित्यकार अपनी बात अपभ्रंश में कहने लगे। जब अपभ्रंश से हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाएँ विकसित हुईं तो जैन साहित्यकार अपनी बात इन्ही जनपदीय भाषाओं में सहज भाव से कहने लगे। यह भाषागत उदारता उनकी प्रतिभा पर आवरण नही डालती वरन् भाषाओं के ऐतिहासिक विकास क्रम को सुरक्षित रखे हुए है।

(४) **समन्वयात्मक सहज सरल शैली :** जैन साहित्यकार साहित्य को कलाबाजी नहीं समझते। वे उसे अकृत्रिम रूप से हृदय को प्रभावित करने वाली आनन्दमयी कला के रूप में देखते हैं। जहां उन्होंने लोकभाषा का प्रयोग किया वहां भाषा को अलंकृत करने वाले सारे उपकरण भी लोक जगत से ही चुने हैं। जैनेतर साहित्यकारों ने (विशेष कर चारणी शैली में लिखित साहित्य) जहां भाषा को विशेष प्रकार के शब्द–चयन द्वारा विशेष प्रकार के अनुप्रास–प्रयोग (वयण सगाई आदि) द्वारा और विशेष प्रकार के छन्दानुबन्ध द्वारा एक विशेष प्रकार का आभिजात्य गौरव और रूप दिया है वहां जैन साहित्यकार भाषा को अपने प्रकृत रूप में ही प्रभावशाली और प्रेषणीय बना सके हैं। यहां अलंकारों के लिए आग्रह नहीं। वे अपने आप परम्परा से युगानुकूल चले आ रहे हैं। शब्दों में अपरिचित सा अकेलापन नहीं, उनमें पारिवारिक सम्बन्धों का सा उल्लास है। छन्दों में तो इतना वैविध्य है कि सभी धर्मों, परम्पराओं और रीति रिवाजों से वे खींचे चले आ रहे हैं। ढालों के रूप में जो देशियाँ अपनाई गई हैं उनमें कभी तो 'मोहन मुरली बागे छै' और कभी 'गोकुल नी गोवालणी मही वेचवा चाली'। लोकोक्तियों और मुहावरों का जो प्रयोग किया गया है वे शास्त्रीय कम और लौकिक अधिक हैं। पर इस विश्लेषण से यह न समझा जाय कि उनका काव्य शास्त्रीय ज्ञान अपूर्ण था या बिल्कुल ही नहीं था। ऐसे कवि भी जैन जगत में हो गये हैं जो शास्त्रीय परम्परा में सर्वोच्च ठहरते हैं, आलंकारिक चमत्कारिता, शब्द–क्रीड़ा और छन्दशास्त्रीय मर्यादा पालन में होड़ लेते प्रतीत

होते हैं पर यह प्रवृत्ति जैन साहित्य की सामान्य प्रवृत्ति नहीं है। शैलीगत समन्वय-भावना के दर्शन वहां स्पष्ट हो जाते हैं जहां वे अपने नायक को मोहन और नायिका को गोपी कह देते हैं। लगता है कि जिस समय वैष्णव धर्म और वैष्णव साहित्य का अत्यन्त व्यापक प्रचार था, उस समय जन साधारण को अपने धर्म की ओर आकर्षित करने के लिए जैन साहित्यकारों ने अपने साहित्य में कृष्ण, राधा, गोपी, गोप, गोकुल, मुरली, यशोदा, जमुना आदि शब्दों को स्थान दे दिया। विभिन्न देशियां तो लगभग वैष्णव प्रभाव को ही सूचित करती हैं।

(५)नायक-नायिका की परिकल्पना : जैन साहित्य में जो नायक आये हैं उनके दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त। मूर्त नायक मानव है, अमूर्त नायक मनोवृत्ति विशेष। मूर्त नायक साधारण मानव कम, असाधारण मानव अधिक है। यह असाधारणता आरोपित नहीं, अर्जित है। अपने पुरुषार्थ, शक्ति और साधना के बल पर ही ये साधारण मानव विशिष्ट श्रेणी में पहुंच गये हैं। ये विशिष्ट श्रेणी के लोग त्रेसठशलाका पुरुष के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त सोलह सतियाँ, स्थूलिभद्र, जम्बूस्वामी, सुदर्शन, गजसुकुमाल, श्रेणिक, श्रीपाल, धन्ना, आषाढ़भूति वल्कलचीरी, आदि अध्यात्म पुरुष भी आलेख्य योग्य हैं। ये पात्र सामान्यतः राजपुत्र या कुलीन वंशोत्पन्न होते हैं। सांसारिक भोगोपभोग की सभी वस्तुयें इन्हें सुलभ होता हैं पर ये संस्कारवश या किसी निमित्त कारण से विरक्त हो जाते हैं और प्रवज्या अंगीकार कर लेते हैं। दीक्षित होने के बाद इन पर मुसीबतों के पहाड़ टूट पड़ते हैं। पूर्व जन्म के कर्मोदय कभी उपसर्ग बनकर, कभी परीषह बनकर सामने आते हैं। कभी—कभी देवता रूप धारणकर इनकी परीक्षा लेते हैं, इन्हें अपार कष्ट दिया जाता है पर ये अपनी साधना से विचलित नहीं होते। परीक्षा के कठोर आघात इनकी आत्मा को और अधिक मजबूत, इनकी साधना को और अधिक स्वर्णिम तथा इनके परिणामों को और अधिक उच्च बना देते हैं। अन्ततोगत्वा सारे उपसर्ग शांत होते हैं, वेशधारी देव परास्त होकर इनके चरणों में गिर पड़ते हैं और पुष्पवृष्टि कर इनके गौरव में चार चांद लगा देते हैं। ये पात्र केवलज्ञान के अधिकारी बनते हैं। लोक कल्याण के लिए निकल पड़ते हैं और अन्ततः परम पद मोक्ष की प्राप्ति कर अपनी साधना का नवनीत पा लेते हैं। प्रतिनायक परास्त

होते हैं पर अन्त तक दुष्ट बनकर नहीं रहते । उनके जीवन में भी परिवर्तन आता है और वे नायक के व्यक्तित्व की किरण से सस्पर्श पा अपनी आत्मा का कल्याण कर बैठते हैं ।

अमूर्त नायक मे 'जीव' या 'चेतन' को गिना जा सकता है तथा नायिका में 'सुमति' को । अमूर्त प्रतिनायकों में 'मोह' सबसे बलशाली है और प्रतिनायिका में 'कुमति' को रख सकते हैं । सामान्यतः मुक्तक काव्यों में ही अमूर्त नायक-नायिका की परिकल्पना की गई है । इनमें जीव को राजा बनाकर मोह रूपी शत्रु के साथ युद्ध करने का भाव खड़ा किया जाता है और अन्ततः चेतन राजा अपने आंतरिक गुणों से शत्रु सेना को परास्त कर मुक्ति रूपी गढ़ का अधिपति बन बैठता है । सुमति-कुमति का द्वन्द्व भी युद्ध रूपक ही है । यहां पात्रों की मनःस्थितियों का संघर्ष न दिखाकर सद्-असद् वृत्तियों का स्थूल संघर्ष मात्र दिखाया गया है । अंततः असद् प्रवृत्तियां पराजित होती हैं और सद् प्रवृत्तियां फलती फूलती हैं ।

(६) सुखांत भावना : जैन साहित्य के मूल में आदर्शवादिता है । वह संघर्ष में नहीं मंगल मे विश्वास करता है । यहां नायक का अंत मृत्यु में नहीं होता, वह किसी से पराजित नही होता । यहां कथाओं का निर्माण ही धार्मिक दृष्टि से किया गया है । इसलिए प्रत्येक नायक को विषम परिस्थितियों में डालकर अपने आचार, पुण्य, दान, दया, ब्रह्मचर्य आदि गुणों के कारण अन्त में हंसते हुए दिखाया है । यही कारण है कि अपरिग्रही, वैरागी, संसारत्यागी, भोगापरत नायक को कथा के अंत में परम पद दिला कर बड़ा वैभवशाली, अनन्त सुख, अनंत ज्ञान, अनंत शक्ति और अनंत सौंदर्य का धनी बताया है ।

(७) उदार दृष्टि : जैन साहित्य का अधिकांश भाग आगम सिद्धांत को ही प्रतिपादित करने मे लगा है । पर जैन साहित्यकारों की दृष्टि यहीं तक सीमित रही हो, ऐसा कहना एकांत सत्य होगा । सच तो यह है कि जैन दर्शन की समन्वय भावना ने जैन साहित्यकारों की दृष्टि को भी उदार बना दिया है । यही कारण है कि एक ओर तो इन्होंने विष्णु के अवतार समझे जाने वाले राम और कृष्ण को भी सामान्य महापुरुष न मान कर विशिष्ट श्रेणी के महापुरुषों में स्थान दिया है । राम बलदेव श्रेणी मे हैं तो कृष्ण वासुदेव श्रेणी में । यही नहीं जिन पात्रों को जैनेतर साहित्यकारों ने घृणित

और बीभत्स दृष्टि से देखा है, उन पात्रों को भी यहां समुचित स्थान दिया गया है। उदाहरण के लिए रावण को लिया जा सकता है। रावण यहां साधारण पुरुष नहीं है, वह प्रतिवासुदेव श्रेणी का विशिष्ट पुरुष है। दूसरी ओर जैनेतर आदर्श पात्रों को अपना वर्ण्य विषय बनाकर उनके व्यक्तित्व की महानता का गान किया है। दलपत विजय कृत 'खुमाण रासो' इस प्रसंग में दृष्टव्य है। स्वतन्त्र ग्रंथ निर्माण के साथ-साथ जैनेतर साहित्यकारों द्वारा रचित जैनेतर ग्रंथों पर विस्तृत और प्रशंसात्मक टीकाएं भी लिखी हैं। इस संदर्भ में बीकानेर के पृथ्वीराज राठौड़ कृत 'किसन रुक्मणी री वेलि' पर जैन विद्वानों द्वारा लिखित ६७ टीकाओं का उल्लेख किया जा सकता है। यही नहीं जैन विद्वानों ने जैनेतर प्राचीन ग्रंथों की रक्षा करने का भार भी अपने ऊपर लिया और बड़ी आदर भावना के साथ उनकी सुरक्षा की। आज जितने भी जैन भण्डार हैं उनमें कई प्राचीन महत्त्वपूर्ण जैनेतर ग्रंथ संरक्षित हैं। इससे भी आगे बढ़कर जैन यतियों ने अमूल्य जैनेतर ग्रंथों को लिपिबद्ध करना भी अपना पुनीत कर्त्तव्य समझा। यही कारण है कि 'बीसलदेव रासो' की लगभग समस्त पुरानी प्रतियां जैन यतियों द्वारा लिखित उपलब्ध होती हैं।

(८) स्वान्तःसुखाय भावना: सामान्यतः जैन साहित्यकार पहले संत है, फिर भक्त और तब कवि। ये स्वांतः सुखाय भावना से लिखते हैं पर इनका अपना कुछ नहीं होता। न इनके पास सम्पत्ति होती है न रहने के लिए मकान। और तो और खाने के लिए भी ये गोचरी करते हैं। तब साहित्य रचना के प्रति इनका स्वार्थ क्यों कर होगा? ये किसी राज्याश्रय में नहीं रहते, कहीं से इन्हें वृत्ति नहीं मिलती। अतः अन्य कवियों की तरह न तो इन्हें किसी आश्रयदाता की प्रशंसा करनी पड़ती है न किसी को युद्ध में प्रेरणा देने के लिए ओजपूर्ण वाणी में छप्पय, कवित्त आदि लिखने पड़ते हैं और न किसी का मनोविनोद करने के लिए शृंगार के गीत रचने पड़ते हैं अथवा कामोत्तेजक दोहे लिखने पड़ते हैं। ये तो लोकाश्रित होते हैं। इसलिए लोकहित या आत्म-हित ही इनकी साहित्य-सर्जना का मुख्य लक्ष्य है। जो श्रावक होते हैं वे भी व्रती गृहस्थ होते हैं। उनकी साधना भी जनहिताय ही होती है।

(९) विराट सांग रूपकों की सृष्टि: जैन साहित्य की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इन साहित्यकारों ने अपनी अभिव्यक्ति को

स्पष्ट और प्रभावशाली बनाने के लिए विराट सांगरूपकों की सृष्टि की। ये सांगरूपक लौकिक और तात्विक उपमानों को लेकर निर्मित हुए हैं। इनमें चेतन-राजा, अध्यात्म-दीवाली, मन-माली, श्रद्धा-दीप, अध्यात्म-होली, संयम-श्री आदि के रूपक बड़े सटीक हैं। पूरे के पूरे पद में इनका निर्वाह बड़ी खूबी के साथ किया हुआ मिलता है। हिन्दी कवियों में गोस्वामी तुलसीदास रूपकों के बादशाह माने गये हैं। उनके ज्ञान-दीपक और भक्ति चिंतामणि के रूपक बड़े सुन्दर बन पड़े हैं पर मुझे तो लगता है कि यहां सामान्य रूप से प्रत्येक जैन कवि ने इन बड़े २ भव्य रूपकों का सहारा लिया है। तात्विक सिद्धांतों को लौकिक व्यवहारों के साथ 'फिट' बैठाकर ये कवि गूढ़ से गूढ़ दार्शनिक भाव को बड़ी सरलता के साथ समझा सके हैं। निर्गुण सन्त कवियों की तरह विरोधमूलक वैचित्र्य और उलटबांसियों के दर्शन यहां नहीं के बराबर है। फिर भी इतना अवश्य है कि कुछ कवियों ने चित्रालंकार काव्य लिख कर अपनी चमत्कार प्रियता का परिचय दिया है। मयूरबन्ध, खड्ग बन्ध, छतरी बन्ध, धनुष बन्ध, हस्तीबन्ध, भुजाबन्ध, स्वस्तिक बन्ध आदि काव्य प्रकार इस सन्दर्भ में दृष्टव्य हैं।

(१०) शांत रस की प्रधानता : जैन साहित्य में यों तो सभी रस यथास्थान अभिव्यंजित हुए हैं पर अंगीरस शांत रस ही है। जैन धर्म की मूल भावना अध्यात्म प्रधान है। वह संसार से विरक्ति और मुक्ति से अनुरक्ति की प्रेरणा देती है। शांत रस का स्थायी भाव निर्वेद है। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक कथा काव्य का अन्त शांत रसात्मक ही है। इतना सब कुछ होते हुए भी जैन साहित्य में शृंगार रस के बड़े भावपूर्ण स्थल और मार्मिक प्रसंग भी देखने को मिलते हैं। विशेष कर विप्रलम्भ शृंगार के जो चित्र हैं वे बड़े मर्मस्पर्शी और हृदय को विदग्ध करने वाले हैं। राजमती और कोशा के विरह व्यथित उद्‌गार किस भावुक को विह्वल न करेंगे? मिलन के राशि-राशि चित्र वहां देखने को मिलते हैं जहां कवि 'संयम श्री' के विवाह की रचना करता है। यहां जो शृंगार है वह रीतिकालीन कवियों के भाव-सौंदर्य से तुलना में किसी प्रकार कम नहीं है। पर यह स्मरणीय है कि यहां शृंगार शांत रस का सहायक बनकर ही आता है। इससे नायक विरत ही होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि जैन सन्त कवि, जो सामान्यतः लौकिक प्रेम पक्ष से अछूते होते हैं, इस साहित्यिक शृंगार पक्ष का वर्णन कर मानसिक तृप्ति का अनुभव करते हैं। इस शृंगार वर्णन

में मन को सुलाने वाली मादकता नहीं, वरन् आत्मा को जागृत करने वाली मनुहार है। शृंगार की यह प्रतिक्रिया आवेगमयी बनकर नायक को शांत रस के समुद्र की गहराई में बहुत दूर तक पैठा देती है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जैन साहित्य की यह विचार-धारा केवल मात्र आदर्शवाद कह कर टाली नहीं जा सकती। आज के इस भौतिक युग ने वैज्ञानिक प्रगति द्वारा जहां चरण को गति दी है, वहां दिशा नहीं, जहां मस्तिष्क को ज्ञान दिया है, वहां विवेक नहीं, जहां मन को शक्ति दी है वहां भक्ति नहीं। ऐसे समय में इस साहित्य के चिंतन-मनन द्वारा विषमता में समता स्थापित करने की प्रक्रिया आरम्भ की जा सकती है।

---

२१ जैन कथा साहित्य की विशेषताएँ

जैन साहित्य विविध और विशाल :

जैन साहित्य विविध और विशाल है। उसमे प्राणिमात्र की कल्याण-भावना निहित है। वह तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब तो है ही, इससे भी बढ़कर वह है आत्मा का प्रतिबिंब। आत्मा अपने आप में शुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध है पर कर्मरज के पुद्गल, राग-द्वेष के विकार उससे चिपक कर उसे मलीन बना देते हैं। अत: समसामयिक परिस्थितियों के चित्रण के साथ-साथ जैन साहित्य का अधिकाश भाग उस साहित्य से संबंधित है जिसमें आत्मा के बंधन और मुक्ति का, मलिनता और पवित्रता का, प्रवृत्ति और निवृत्ति का, जन्म और मृत्यु का, राग और विराग का, पाप और पुण्य का विविध रूपों, प्रकारों और शैलियों में वर्णन है। इस साहित्य का मूल सन्देश है-अपने जीवन को पवित्र बनाओ, अपने समान ही दूसरे प्राणियों को समझो, आवश्यकता से अधिक संग्रह न करो, सुख-दुख में समभाव रखते हुए संयमित बने रहे।

जैन साहित्य का स्थूल वर्गीकरण :

जैन साहित्य की आधारभूमि है जैन आगम। जैन आगमों में जो चार अनुयोग बताये गये हैं, संपूर्ण साहित्य का समावेश उनमें किया जा सकता है। प्रथमानुयोग में धार्मिक विधान विशेष का किस व्यक्ति ने कैसा पालन किया, अनेक बाधाओ और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उसे कैसे निवाहा, उसका

क्या फल मिला आदि विषयों को लेकर वर्णन रहता है। करणानुयोग में खगोल आदि गणित प्रधान विषयों का वर्णन रहता है। चरणानुयोग में सदाचार के मूल नियम और उनके आचरण संबंधी क्रियाएं पाई जाती है। द्रव्यानुयोग में तात्विक सिद्धांतों की विवेचना रहती है। कहना न होगा कि रसात्मक साहित्य का मूल संबंध प्रथमानुयोग से ही है। कथा साहित्य भी उसका एक विशेष प्रबल अंग है।

जैन कथा साहित्य के प्रकार :

यों तो सामान्यत: जैन कथाएं, धर्म, नीति और सदाचार से संबंधित है। पर शास्त्रीय दृष्टि से इन कथाओं को दो रूपों में विभक्त किया गया है—कथा और विकथा। कथा के तीन भेद हैं—अर्थ कथा, धर्म कथा और काम कथा। अर्थ का स्वरूप एवं उपार्जन के उपायों को बतलाने वाली वाक्य-पद्धति अर्थ कथा है—जैसे कामकन्दकादिशास्त्र। धर्म का स्वरूप एवं उपायों को बतलाने वाली वाक्य पद्धति धर्म कथा है—जैसे उत्तराध्ययनसूत्रादि। काम एवं उसके उपायों का वर्णन करने वाली वाक्य-पद्धति काम कथा है—जैसे वात्स्यायन कामसूत्र आदि। इनमें धर्म-कथा को ही विशेष महत्व दिया गया है।

संयम में बाधक चारित्र विरुद्ध कथा को विकथा कहा गया है। इसके चार भेद हैं—स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा और राजकथा। स्त्री कथा के चार भेद हैं—जाति कथा (किसी जाति विशेष की स्त्रियों की प्रशंसा या निंदा करना) कुल-कथा (किसी कुल विशेष की स्त्रियों की प्रशंसा या निंदा करना) रूप-कथा (किसी देश विशेष की स्त्रियों के भिन्न भिन्न अंगों की प्रशंसा या निंदा करना)। वेश-कथा (स्त्रियों के वेणी बंध और पहनाव आदि की प्रशंसा या निंदा करना।)

स्त्री—कथा का निषेध इसलिए किया गया है कि इसके करने व सुनने से मोह की उत्पत्ति होती है, सूत्र—अर्थज्ञान की हानि होती है तथा ब्रह्मचर्य में दोष लगता है।

भक्त (भात) कथा के भी चार भेद हैं—आवाप कथा (भोजन बनाने की कथा) निर्वाप कथा (भोजन के विभिन्न प्रकारों का वर्णन करना) आरम्भ कथा

(भोजन में इतने जीवों आदि की हिंसा होगी आदि का वर्णन करना) निष्ठान कथा (भोजन विशेष के बनाने में इतना द्रव्य लगेगा आदि का वर्णन)।

भक्त कथा कहने से आहार के प्रति आसक्ति बढ़ती है फलतः साधु स्वादु बन जाता है और उसकी इंद्रियां शिथिल हो जाती हैं। वह आहार के ग्रहण आदि के नियमों का प्रतिपालन नहीं कर सकता अतः संयम बिगड़ जाता है।

देश–कथा के भी चार भेद है। विधि कथा (देश विशेष के भोजन मणि, भूमि आदि की रचना का वर्णन करना) विकल्पकथा (देश विशेष में धान्य की उत्पत्ति, वहा के कूप, सरोवर, देवकुल, भवन आदि का वर्णन करना) छंद कथा (देश विशेष की गम्य–अगम्य विषयक चर्चा) नेपथ्य कथा (देश विशेष के स्त्री–पुरुषों के स्वाभाविक वेश तथा शृंगार आदि का वर्णन)

देश–कथा करने से विशिष्ट देश के प्रति राग या रुचि तथा दूसरे देश के प्रति अरुचि होती है। राग–द्वेष से कर्मबन्ध होता है और पक्ष–विपक्ष को लेकर झगड़ा खड़ा हो सकता है।

राज–कथा के भी चार भेद है–अतियान कथा (राजा के नगर–प्रवेश तथा उस समय की विभूति का वर्णन करना) निर्याण कथा (राजा के नगर से निकलने की बात करना तथा उस समय के ऐश्वर्य का वर्णन करना) बल–वाहन कथा (राजा के अश्व, हाथी आदि सेना तथा रथ आदि वाहनों के और परिमाण आदि का वर्णन करना) कोष–कोठार–कथा (राजा के खजाने और धान्य आदि के कोठार का वर्णन करना)

राजकथा करने से श्रोता राजपुरुष के मन में साधु के बारे में संदेह उत्पन्न हो सकता है और इसके सुनने से दीक्षित साधु को भुक्त भोगों का स्मरण हो सकता है। जिससे संयम में बाधा उपस्थित हो सकती है।

हमने ऊपर जिन विकथा के भेदोपभेदों का वर्णन किया है उनका धार्मिक एवं चारित्र–दृष्टि से भले ही निषेध किया गया हो पर सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इन कथाओं का बड़ा महत्व है। धर्म के रंग का आवरण उतारकर यदि इन कथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाय तो एक वैभवपूर्ण सांस्कृतिक युग का पता लग सकता है।

विकथा की विपरीत कथा धर्म कथा कहलाती है। यह कथा दया दान, क्षमा आदि धर्म के अंगों का वर्णन करती हुई धर्म की उपादेयता बतलाती है। इनके भी चार भेद हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेगनी और निर्वेदनी।

श्रोता को मोह से हटाकर तत्त्व की ओर आकर्षित करने वाली कथा को आक्षेपणी कथा कहते हैं। श्रोता को कुमार्ग से सन्मार्ग में लाने वाली कथा विक्षेपणी कथा है। जिस कथा द्वारा विपाक की विरसता बताकर श्रोता में वैराग्य उत्पन्न किया जाय, वह संवेगनी कथा है। इहलोक और परलोक में पाप, पुण्य के शुभाशुभ फल को बताकर संसार में उदासीनता उत्पन्न कराने वाली कथा निर्वेदनी कथा है। इनमें धर्म कथा का विवेचन और उपदेशन ही प्रधानतया किया जाता है, क्योंकि इन कथाओं में अध्यात्म भावों को बल प्रदान किया गया है और सांसारिक प्रवृत्तियों को रोका गया है। विकथा का महत्त्व भी कम नहीं है। सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन करने पर विकथा वैभवपूर्ण ऐहिक जीवन की वैविध्यपूर्ण झाँकी प्रस्तुत करती है।

जैन कथा के इन विभिन्न रूपों को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है।
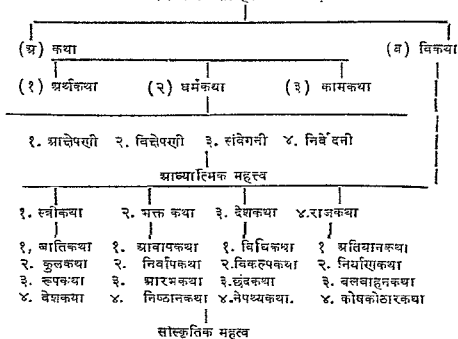
जैन कथा साहित्य का महत्त्व :

दार्शनिक और तात्त्विक सिद्धांतों की विवेचना के लिए स्फुटगीतों और मुक्तक छंदों की अपेक्षा कथाओं का आधार अधिक मनोवैज्ञानिक है। उसमे चिंतक काव्य नियमों की नियन्त्रणा से मुक्त रहता है अतः अपनी विचारधारा को अधिक स्वतन्त्रता पूर्वक सहज रूप से कह सकता है। यह कथा पद्य और गद्य दोनों रूपों मे मिलती है। पद्य रूप में कथा-काव्यों और चरित-काव्यों का विपुल परिमाण में निर्माण हुआ है। इन कथाओं का आधार ऐतिहासिक पौराणिक एवं काल्पनिक रहा है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में यह साहित्य यथेष्ट मात्रा में लिखा गया है। गद्य के रूप में यह कथा साहित्य प्राकृत के आगम ग्रंथों की टीका, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, अवचूर्णि, बालावबोध आदि विविक्त रूपों में प्राप्त होता है। राजस्थानी गद्य साहित्य को समृद्ध बनाने में इन कथाओं ने बड़ा योग दिया है।

(अ) ऐतिहासिक महत्त्व :

ऐतिहासिक दृष्टि से इस कथा साहित्य का बड़ा महत्त्व है। भारतीय प्राचीन इतिहास की अमूल्य सम्पत्ति इन कथाओं में सुरक्षित है। तीर्थंकरो' चक्रवर्तियों, सम्राटों और नरेशों को लेकर जो विविध पुराण लिखे गये हैं उनसे उस समय की ऐतिहासिकता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। महाभारत के समान 'हरिवंश पुराण' और 'पाण्डव पुराण' तथा रामायण के कथानक के समान 'पद्म पुराण' जैसे विशाल ग्रन्थ भारतीय इतिहास-पुराण साहित्य को जैनधर्म की विशिष्ट देन है। अन्य जैनेतर पुराण साहित्य की अपेक्षा इन पुराणों में ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश कहीं अधिक है। यहां जो पात्र है वे सर्वथा अमानवीय और पौराणिक न होकर मानवीय और ऐतिहासिक है। इसी कारण ये हमारे अधिक निकट हैं। उनके क्रिया-कलाप हमारे अपने जान पड़ते है। त्रिशष्टिशलाका पुरुषों के जीवनवृत्त हमारे सामने जो सामग्री प्रस्तुत करते है उससे अनेक ऐतिहासिक भ्रांतियों का समाहार तो होता ही है इतिहास के कई नये पृष्ठ भी खुलते से प्रतीत होते हैं।

(ब) सांस्कृतिक महत्त्व :

इतिहास से भी अधिक महत्त्व है संस्कृति के व्यापक परिवेश को जानने के स्रोत के रूप में इन कथाओं का। पारिभाषिक शब्दों में जिसे

'विपथा' कहा गया है, मेरी दृष्टि में इनमें तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन का जो चित्र मिलता है, वह अन्यतम है। उस समय के राजवर्ग का, श्रेष्ठिवर्ग का व सामान्य स्तर की जनता का सर्वांगीण चित्र भारत का दिखाई देता है इन कथाओं की पृष्ठभूमि में, इन कथाओं की घटनावलियों में, इन कथाओं की पात्र-धारणा में। मुनि श्री जिनविजयजी ने ठीक ही लिखा है-'भारतवर्ष के पिछले ढाई हजार वर्ष के सांस्कृतिक इतिहास का सुरेख चित्रपट चित्रित करने में जितनी विश्वस्त और विस्तृत उपादान सामग्री इन कथाओं में मिल सकती है उतनी अन्य किसी प्रकार के साहित्य में नहीं मिल सकती। इन कथाओं में भारत के भिन्न-भिन्न धर्म, सम्प्रदाय, राष्ट्र, समाज, वर्ण आदि के विविध कोटि के मनुष्यों के नाना प्रकार के आचार-व्यवहार, सिद्धान्त, आदर्श शिक्षण, सस्कार, रीति-नीति, जीवन-पद्धति, राजतन्त्र, वाणिज्य, व्यवसाय अर्थोपार्जन, समाज-संगठन, धर्मानुष्ठान एवं आत्म-साधन आदि के निदर्शक बहुविध वर्णन निबद्ध किये हुए हैं जिनके आधार से हम प्राचीन भारत के सास्कृतिक इतिहास का सर्वांगी और सर्वतोमुखी मानचित्र तैयार कर सकते हैं।"

(स) लोक तात्विक महत्व

यों तो इन कथाओं की मूल चेतना धार्मिक रही है, पर दर्शन और नीति की गुरुता को सरल और रोचक भाव-भूमि पर ला उतारना भी कम गौरव की बात नहीं है। धार्मिक दृष्टि की प्रधानता होते हुए भी इन कथाओं मे सकीर्णता नही आ पाई है। जिस जन-जीवन के व्यापक धरातल पर ये टिकी हुई हैं वह सम्प्रदाय विशेष के व्यामोह से ग्रस्त न होकर सार्वभौम लोक-जीवन का आधार है। यही कारण है कि ढाई हजार वर्ष पूर्व निर्मित ये कहानियां आज भी लोक-कथाओं के रूप मे विविध प्रदेशों मे प्रचलित हैं। जैन आगमो मे राजा श्रेणिक के पुत्र और मन्त्री अभयकुमार के बुद्धि-चातुर्य की जो कथा है अपने उसी रूप मे हरियाणा के लोक-साहित्य में अढाई द्वीप की कथा के नाम से प्रसिद्ध है। इसी प्रकार शेर-खरगोश, वादर-बया, नील-सियार आदि की कहानियां हैं जो जैन साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध-जातकों, पचतन्त्र, हितोपदेश, कथासरित्सागर आदि जैनेतर ग्रंथो मे ही नही मिलती वरन् आज भी सर्वसाधारण में प्रचलित है। इस सार्वभौम और सार्वजनीन रूप को देखकर सहसा यह कहा जा सकता है कि जैन कथा साहित्य भारतीय

कथा साहित्य का स्रोत ही नहीं रहा वरन् विश्व कथा साहित्य का प्रेरक भी रहा है। भारत की सीमाओं को लांघकर ये कथाएं अरब, चीन, लंका, योरोप आदि देश-देशान्तरों में भी गई है। उदाहरण के लिए 'नायधम्मकहा' की चावल के पांच दानों की कथा कुछ बदले हुए रूप में ईसाइयों के धर्म ग्रंथ 'बाइबिल' में भी मिलती है। प्रसिद्ध योरोपीय विद्वान् टॉवानी ने कथाकोश की भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि विश्व कथाओं का स्रोत जैनों का कथा साहित्य है।

जैन कथा साहित्य का साहित्यिक परिशीलन :

जैन कथाओं का निर्माण सामान्यतः एक विशेष विचार-धारा का प्रतिपादन करने के लिए किया गया है। इस विचारधारा का केन्द्र बिन्दु है कर्म-विपाक का सिद्धांत अर्थात् जो जैसे करता है, उसे वैसे ही भोग भोगने पड़ते हैं। कोई किसी का सगा या साथी नहीं है। आत्मा के साथ उसके कर्म ही आते हैं या जाते हैं। इस दार्शनिक धारणा के स्पष्ट प्रतिपादनार्थ सामान्यतः ऐसे कथानकों की सृष्टि की गई है जो बुराई के बदले में बुरा और भलाई के बदले में भला फल प्राप्त कर लेते हैं। विषय की दृष्टि से तो यह कथा साहित्य अत्यन्त व्यापक है। इसमें जीवन के सभी पक्षों और समाज के सभी वर्गों से कथानक लिए गये हैं। व्रतों का माहात्म्य बतलाया है तो धार्मिक अनुष्ठानों की शक्ति का वर्णन भी किया गया है। दान, पूजा, दया, शील की प्रभावना का वर्णन है तो तपस्या की धारणा का महत्व भी प्रतिपादित है। एक ही विचार-धारा का प्रतिपादन होने से प्रकारांतर से यह साहित्य जितना विस्तृत है उतना ही सीमित भी।

कथाकारों ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए लौकिक पात्रों को भी कहीं-कहीं जैनधर्म का बाना पहना दिया है। उनका रूप अपनी भावना के सांचे में ढाल दिया है। यही कारण है कि अनेक शृंगारिक आख्यानों को अन्त में उपदेश प्रधान बनाकर शांत रस में पर्यवसित कर दिया है। सूफी कवियों ने आगे चलकर इसी प्रकार अपने प्रबन्ध काव्यों में प्रेम-मार्ग का प्रतिपादन किया।

लोक-कथाओं की भांति इन कथाओं में भी एक कथा के साथ कई कथाएं अंतर्लीन रहती हैं। इनका प्रारम्भ प्रायः वर्णनात्मक ढंग से होता

है। आरोह-अवरोह के लिए विशद स्थितियां नहीं बनतीं। सामान्यतः पात्र आरम्भ में भोगी या मिथ्यादृष्टि होता है। मध्य में किसी निमित्त कारण से उसकी दृष्टि बदल जाती है। वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है, संसार से विरक्त हो जाता है। कभी—कभी ऐसे पात्र भी आते हैं, जो प्रारम्भ में दृढ़धर्मी और अडिग साधक होते हैं पर अचानक साधना से उनका मन उचट जाता है और वे मिथ्यादृष्टि बन जाते हैं। पर अन्त में विविध कठिनाइयों और संघर्षों को पारकर सभी पात्र अपना अपना फल पा लेते हैं। इन कथाओं का मूल उद्देश्य भी बुराई से मन की प्रवृत्ति को हटाकर भलाई की ओर मन को अग्रसर करना है।

कथा इतिवृत्तात्मक होती है। उसमें जटिलता व वक्रता के लिए कोई स्थान नहीं। आदर्शोन्मुखी होने के कारण इन कथाओं में जगह-जगह अलौकिक सकेत मिलते हैं। कहीं देव वैक्रिय रूप धारण कर साधक की परीक्षा लेते हुए दिखाई देते हैं तो कहीं उसकी भलाई से प्रभावित होकर उसके संकट में सहायता करते हुए। यह रूप-परिवर्तन का तत्त्व कथा के प्रधान पात्र में भी पाया जाता है और सहायक पात्र में भी। कहीं इलापुत्र नटनी को पाने के लिए नट बनता है तो कहीं मोदक की प्राप्ति के लिए आषाढमुनि चार रूप बनाते हैं। लोक साहित्य में प्राप्त प्राय सभी कथानक रूढियों का आश्रय भी इन कथाओं में लिया गया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि इन कथाओं का कथानक लोक तत्त्व की नींव पर ही खड़ा हुआ होता है। उसमें आदर्श की अवतारणा होती है, धर्म की विजय और अधर्म की पराजय दिखलाई जाती है। उसका वृत्त महाकाव्य की तरह विस्तृत होता है। उसमें औपन्यासिक कौतूहल और विस्तार होता है।

इन कथाओं की पात्र-सृष्टि व्यापक भाव-भूमि पर आधारित होती है। यों तो इनमें प्रधान पात्र प्रकारांतर से त्रिशष्टिशलाका पुरुष ही होते हैं पर सामान्यतः प्रत्येक वर्ग का पात्र इनमें दृष्टिगत होता है। राज-वर्ग से निम्न वर्ग का सम्बन्ध सूत्र भी यहां दिखाई देता है। दलित, हरिकेशी (हरिजन) दृढप्रहारी (चोर) अर्जुनमाली (माली) सद्दालपुत्त (कुम्भकार) आदि पात्र यहां अपनी साधना के कारण सम्मान के अधिकारी बने हैं। ये पात्र किसी न किसी वर्ग, जाति या समूह का प्रतिनिधित्व करते हुए पाये जाते हैं।

इनमें उनके स्वतन्त्र मनोभावों के अभिव्यंजन और मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के लिए कम स्थान हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में पर्याप्त विकास मिलता हैं। यदि वे मिथ्यादृष्टि हैं तो उचित अवसर और उपदेश पाकर विरागी बन जाते हैं। यह परिवर्तन कई कारणों से हो सकता है। कभी शास्त्रार्थ के कारण (जैसे-केशी श्रमण और राजा परदेशी) दृष्टि बदल जाती है, कभी दूसरों को दुखी देखकर और कभी अत्यन्त नियन्त्रण के प्रतिकार (सुकौशल मुनि) की भावना से मन निवृत्तिमार्ग की ओर अग्रसर हो जाता है।

स्त्री पात्रों में सामान्य और विशिष्ट दोनों प्रकार की स्त्रियां देखी जाती हैं। सामान्य स्त्रियां कामुक, ईर्षालु और साधना के मार्ग में बाधक होती हैं, विशिष्ट स्त्रियां सती साध्वी, संयमनिष्ठ और चरित्र की बलवान होती हैं। उनमें अपने चरित्र को दृढ़ता के साथ पालने की शक्ति ही नहीं होती वरन् दूसरों को सद्‌मार्ग पर बनाये रखने की भी ताकत होती है। राजमती, कोश्या आदि ऐसी ही स्त्रियाँ हैं।

देव-पात्रों और पशु-पक्षियों की भी यहां कमी नहीं है। मानव मन की चारित्रिक दृढ़ता और आचरण की गरिमा तथा महानता को प्रतिपादित करने के लिए ही यहां मावेनतर पात्रों की सृष्टि की गई है। इन कहानियों को पढ़ने से मानवीय चरित्रों की प्रभाव-गरिमा और व्यक्तित्व की महिमा से ही पाठक प्रभावित, आतंकित और स्तम्भित होता है न कि दैविक शक्ति के प्रयोग और चमत्कार से। देव-पात्रों की सृष्टि अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है वह महत्त्वपूर्ण बनती है मानवीय चरित्र की महानता का उद्‌घाटन कर।

जैन कथा साहित्य की एक अन्यतम विशेषता है देश-काल का व्यापक चित्रण। इन कहानियों को पढ़ने से भारत-भूमि की भौगोलिक और ऐतिहासिक जानकारी का प्रामाणिक परिचय मिलता है। उस समय के प्रसिद्ध नगरों के नाम, पार्श्वों के नाम, प्रधान व्यवसायों के नाम, महत्वपूर्ण उद्यानों के नाम आदि के उल्लेख से वातावरण में सजीवता व निश्चितता आ गई है। प्रमुख नगरों के कुछ नाम हैं-राजगृह नगरी, इलावर्धन नगर, चम्पानगरी, श्वेताम्बिका, श्रावस्ती, मिथिला, अवंतिका आदि। उद्यानों के नाम हैं-मंडीकुक्ष, मृगवन आदि। इस व्यापक चित्रण के कारण कहानी वर्णनात्मक अधिक बन गई है। नगर, बाग, संपदा, व्यवसाय, सौंदर्य, साधना आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है।

यह वर्णन कथा-शैली के कारण नीरस न होकर सरस बन गया है। भाषा में जो एक विशेष प्रकार का प्रवाह और लौकिक उपमानों के चयन से विशिष्ट अलंकरण है, वह कथा के सौन्दर्य को बिखरने से रोकता है। यह ठीक है कि शैलीगत वैविध्य और शिल्पगत सौंदर्य इन कहानियों में नहीं है पर जिस सार्वजनीन सत्य को ये ध्वनित करती हैं, वह अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि है।

---

२२ काव्य-रूपों की परम्परा में जैन कवियों का विशिष्ट योग

काव्य रूपों का प्रचलित सामान्य स्वरूप :

संस्कृत आचार्यों ने काव्य को माध्यम की दृष्टि से मूलतः दो मार्गों में बांटा है-(१) पद्य और (२) गद्य। बंध की दृष्टि से दोनों के दो-दो भेद किये जा सकते हैं। (१) प्रबन्ध और (२) मुक्तक। प्रबन्ध काव्य में पूर्वापर सम्बन्ध और तारतम्य रहता है जबकि मुक्तक काव्य इससे मुक्त होता है। उसका प्रत्येक छन्द स्वतः पूर्ण होता है। आकार और प्रकार की दृष्टि से प्रबन्ध काव्य के भी दो भेद किये गये हैं-(१) महाकाव्य और (२) खण्ड काव्य। महाकाव्य में समग्र जीवन का चित्रण और जातीय जीवन की अनेकरूपता वर्णित होती है जबकि खण्डकाव्य में जीवन की किसी एक ही घटना को प्रमुखता देकर उसके किसी विशिष्ट मार्मिक अंश की झाँकी प्रस्तुत की जाती है। मुक्तक की परिधि मे स्फुट कविताएं आती है। ये मुक्तक पाठ्य और गेय इन दो भागो में बांटे जा सकते हैं। नीति शृंगार आदि भावों को व्यक्त करने वाले मुक्तक पाठ्य कहे गये हैं और आत्मानुभूति व्यंजक मुक्तक गेय।

गद्य में भी किंचित परिवर्तन के साथ उपर्युक्त काव्य-रूप स्वीकार किये जा सकते हैं। यों प्रचलित अर्थ मे गद्य के उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, निबन्ध, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र आदि रूप स्वीकार्य हैं। गद्य के ये रूप आधुनिक काल में ही विकसित हुए हैं। प्राचीन काल में इनका रूप भिन्न रहा है।

काव्य रूपों के सम्बन्ध में जैन साहित्यकारों का दृष्टिकोण :

काव्यरूपों के सम्बन्ध में जैन साहित्यकारों की दृष्टि बड़ी उदार रही है। उन्होंने प्रचलित सामान्य रूपों को हूबहू स्वीकार न कर, उनमें व्यापकता, लौकिकता और सहजता का रंग भरा है। संक्षेप में उनके दृष्टिकोण को निम्नलिखित तीन बिन्दुओं में समझा जा सकता है—

(१) शास्त्रीयता से लौकिकता की ओर :

जैनधर्म जन्म से ही रूढ़िबद्धता के खिलाफ लड़ता रहा। उसे न विचार में रूढ़ परम्पराएं मान्य हो सकीं न आचार में। साहित्य और कला के क्षेत्र में भी जो बंधीबंधाई परिपाटी चल रही थी, वह उसके प्रतिरोध के आगे टिक न सकी। उसने उसके शास्त्रीय बन्धन काट दिये। इसी का एक परिणाम यह हुआ कि जैन तीर्थंकरों ने अपनी देशना तत्कालीन जन भाषा प्राकृत में दी और जब प्राकृत भी शास्त्रीयता के कटघरे में कैद हो गई तो जैनाचार्यों ने अपभ्रंश में अपनी रचनाएं लिखीं। आज विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के जो मूल रूप सुरक्षित रह सके हैं उनके मूल में जैन साहित्यकारों की यही दृष्टि काम करती रही है कि वे हमेशा जनपदीय भाषाओं को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते रहे हैं।

भाषा के क्षेत्र में ही नहीं छन्द और संगीत के क्षेत्र में भी यह सहजता देखने को मिलती है। शास्त्रीय छन्दों में दोहा, चौपाई, सोरठा, सवैया, छप्पय, कुंडलियां आदि इने गिने छन्द ही जैन कवियों ने अपनाये। इन्होंने लोक-रुचि को ध्यान में रखकर कई नवीन छन्द निर्मित किये और उनमें अपनी रचनाएं लिखीं। इनके ये छन्द प्रधानतः गेय रहे हैं। संगीत को शास्त्रीयता से मुक्त करने के लिए इन कवियों ने विभिन्न लोकदेशियों को अपनाया। ढालों में जो तर्जें दी गई हैं वे इसी प्रकार की लोकदेशियां हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से इस प्रवृत्ति का महत्त्वपूर्ण योगदान इस दृष्टि से रहा कि भारत का पुरातन लोकसंगीत सुरक्षित रह सका।

(२) लौकिकता से ऊर्ध्वलोक की ओर :

अभिव्यक्ति पक्ष में जैन कवियों ने लौकिक परम्पराओं और लोक-कथानक रूढ़ियों का अवश्य आश्रय लिया पर उनकी दृष्टि हमेशा ऊर्ध्वलोक

की ओर ही रही। विभिन्न काव्य-रूपों में जो विषय-सामग्री प्रयुक्त हुई है वह सामान्यतः लौकिक प्रेमाख्यानों पर आधारित है पर अन्त में उसका समाहार इस ढंग से किया गया है कि वह व्यक्ति को राग से विराग की ओर, शरीर से आत्मा की ओर तथा इह लोक से ऊर्ध्वलोक की ओर उन्मुख करती है। इन काव्य-रूपों मे जो नायक आये हैं वे प्रारम्भ में बड़े वैभवशाली, ऐश्वर्यवान और भोगरत दिखाये गये हैं। उनका परिवेश, क्या खान-पान, क्या रहन-सहन, क्या राज-दरबार, क्या आनन्द-विहार सब में लौकिक सुख की पराकाष्टा है पर कथा के अन्त में ये ही नायक संयमश्री या दीक्षाकुमारी से परिणय कर योगी, त्यागी और तपस्वी बन जाते हैं।

ऊर्ध्व लोक की ओर प्रयाण करने का अर्थ है—निःश्रेयस की प्राप्ति, जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा और आत्मा की सहज मुक्तावस्था। इस मुक्त-दशा की प्राप्ति में बाधक तत्त्व है-रागद्वेष। इनको नष्ट करने के लिए ही नायक संयम ग्रहण करता है, त्रिरत्नों की आराधना करता है। जब नायक की साधना पूरी होती है तब सिद्धि मिलने के अवसर पर लोकोत्तर वैभव की झांकी दिखाना भी ये जैन कवि नहीं भूले हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि ये कवि शृंगार रस का अनेक रूपो मे वर्णन करते हैं, रस की विविध झांकियां प्रस्तुत करते हैं, करुण रस की मार्मिक छवियां चित्रित करते हैं पर सबको अन्त में शांत रस की ओर प्रेरित कर ऊर्ध्वगामी बनाना ही इनका लक्ष्य रहा है।

(३) संकीर्णता से व्यापकता की ओर :

जैन कवियों ने काव्य-रूपों की परम्परा को संकीर्ण परिधि से बाहर निकाल कर व्यापकता का मुक्त क्षेत्र दिया। आचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रबन्ध-मुक्तक की चली आती हुई काव्य-परम्परा को इन कवियों ने विभिन्न रूपों में विकसित कर काव्य शास्त्रीय जगत मे एक क्रांति सी मचा दी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध और मुक्तक के बीच काव्य-रूपो के कई नये स्तर इन कवियों ने निर्मित किये।

जैन कवियों ने नवीन काव्य-रूपों के निर्माण के साथ-साथ प्रचलित काव्य-रूपों को नई भाव-भूमि और मौलिक अर्थवत्ता भी दी। इन सब मे उनकी व्यापक, उदार दृष्टि ही काम करती रही है। उदाहरण के लिए वेलि,

बारहमासा, विवाहलो, रासो, चौपाई, संधि आदि काव्य रूपों के स्वरूप का अध्ययन किया जा सकता है। 'वेलि' संज्ञक काव्य डिंगल शैली में सामान्यतः वेलियो छन्द में ही लिखा गया है पर जैन कवियों ने 'वेलि' काव्य को छन्द विशेष की इस सीमा से बाहर निकाल कर वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टि से व्यापकता प्रदान की। 'बारहमासा' काव्य ऋतु काव्य रहा है जिसमें नायिका एक-एक माह के क्रम से अपना विरह-प्रकृति के विभिन्न उपादानों के माध्यम से व्यक्त करती है। जैन कवियों ने 'बारहमासा' की इस विरह-निवेदन-प्रणाली को आध्यात्मिक रूप देकर इसे शृंगार क्षेत्र से बाहर निकालकर भक्ति और वैराग्य के क्षेत्र तक आगे बढ़ाया। 'विवाहलो' संज्ञक काव्य में सामान्यतः नायक-नायिका के विवाह का वर्णन रहता है जिसे 'व्याहलो' भी कहा जाता है। जैन कवियों ने इस 'विवाहलो' संज्ञक काव्य को भी आध्यात्मिक रूप दिया। इसमें नायक का किसी स्त्री से परिणय न दिखाकर संयमश्री और दीक्षाकुमारी जैसी अमूर्त भावनाओं को परिणय के बन्धन में बांधा गया। रासो, संधि और चौपाई जैसे काव्यरूपों को भी इसी प्रकार नया भाव-बोध दिया। 'रासो' यहां केवल युद्धपरक वीर काव्य का व्यंजक न रह कर प्रेम-परक गेय काव्य का प्रतीक बन गया। 'संधि' शब्द अपभ्रंश महाकाव्य के सर्ग का वाचक न रह कर, विशिष्ट काव्य विधा का ही प्रतीक बन गया। 'चौपाई' संज्ञक काव्य चौपाई छन्द में ही बंधा न रहा वह जीवन की व्यापक चित्रण क्षमता का प्रतीक बन कर छन्द की रूढ़कारा से मुक्त हो गया।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि जैन कवियों ने एक ओर काव्य-रूपों की परम्परा के धरातल को व्यापकता दी तो दूसरी ओर उसको बहिरंग से अन्तरंग की ओर तथा स्थूल से सूक्ष्म की ओर भी खींचा।

यहां यह भी स्मरणीय है कि जैन कवियों ने केवल पद्य के क्षेत्र में ही नवीन काव्य-रूप नहीं खड़े किये वरन् गद्य के क्षेत्र में भी कई नवीन काव्य-रूपों की सृष्टि की। यह सृष्टि इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसके द्वारा हिन्दी गद्य का प्राचीन इतिहास प्रकट होता है। हिन्दी के प्राचीन ऐतिहासिक और कलात्मक गद्य में इन काव्य रूपों की देन बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

काव्य रूपों की परम्परा में जैन कवियों का विशिष्ट योग :

जैन कवि सामान्यतः सन्त रहे हैं। व्याख्यान और प्रवचन देना उनके

दैनिक आचार का एक प्रमुख अंग है। दर्शन जैसे गूढ और जटिल विषय को समझाने के लिए ये कवि संत से साहित्यकार बने। धर्म प्रचार की दृष्टि से इन्होंने अपनी बात को लोक-मानस तक पहुंचाने के लिए काव्य और संगीत का सहारा लिया तथा अपनी परम्परा को सुरक्षित रखने व शास्त्र-विवेचना के लिए प्रमुखतः इतिहास और टीका का सहारा लिया। एक का माध्यम बना पद्य और दूसरे का गद्य। फलतः दोनों क्षेत्रों में कई काव्य-रूपों का सर्जन और विकास हुआ।

(१) पद्य के क्षेत्र में विभिन्न काव्य रूपों की सृष्टि :

श्री अगरचन्दजी नाहटा ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित (सं० २०१०, अंक ४) 'प्राचीन भाषा काव्य की विविध संज्ञाएं' शीर्षक निबन्ध में पद्य क्षेत्र के ११५ काव्य रूपों की चर्चा की है। उन्हें स्थूल रूप से निम्नलिखित भागों में बांटा जा सकता है—

(क) चरित काव्य : इनमें सामान्यतः जैन तीर्थंकरों, जैन आचार्यों और विशिष्ट महापुरुषों के जीवन आख्यान को पद्य में बांधा जाता है। ये आख्यान विशेषतः प्रबंधात्मक और गौणतः मुक्तक होते हैं। इनमें चरित नायक का पूर्वभव, जन्म, माता-पिता, शैशवकाल, विवाह, वैराग्य, संयम-धारण, कठोर साधना, मृत्यु आदि का वर्णन होता है। ये चरित प्रायः विभिन्न सर्गों, अध्यायों या ढालों में विभक्त होते हैं। इस वर्ग मे रास, रासो, चौपई, चौपाई, संधि, चर्चरी, ढाल, प्रबन्ध, चरित, सम्बन्ध, आख्यानक, कथा, पवाड़ा आदि काव्य-रूप आते हैं।

(ख) ऋतु काव्य : इसमे सामान्यतः ऋतु एवं लौकिक उत्सवों पर लिखे गये काव्य-रूप सम्मिलित किये जा सकते हैं। फागु, धमाल, बारहमासा, विवाहलो, धवल, मंगल आदि ऐसे ही काव्य हैं। फागु काव्य मूलतः वसन्तोत्सव से सम्बन्धित है। धमाल में किसी उत्सव विशेष की चहल-पहल, उत्साह, मस्ती और मादकता ही चित्रित की जाती है। बारहमासा में नायिका की विरह-कथा प्रत्येक मास के ऋतु-परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में व्यंजित की जाती है। विवाहलो, धवल और मंगल काव्य विवाहादि मांगलिक उत्सवों और तत्सम्बन्धी गीतों से सम्बन्धित है।

(ग) नीति काव्य : जैन काव्य की मूल प्रवृत्ति औपदेशिक भावना है। संसार की असारता, काया की नश्वरता, व्यसन-त्याग, क्रोध, मान, माया-लोभ का त्याग, तप का माहात्म्य, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत का धारण, भाव शुद्धि, दान की महत्ता, संयम की कठोरता आदि नैतिक उपदेश संवाद, कक्का, मातृका, बावनी, कुलक, हीयाली, बारहखड़ी आदि काव्य-रूपों में दिये जाते हैं। संवाद में दो मूर्त-अमूर्त भावनाओं में कृत्रिम विरोध या झगड़ा खड़ा कर, एक दूसरे को नीचा दिखाते हुए शुभ संकल्प और धर्म तत्त्व की विजय दिखाई जाती है। कक्का, बावनी बारहखड़ी आदि काव्य-रूपों में देवनागरी लिपि के वर्णक्रम को आधार बनाकर कोई न कोई नीति की बात कही जाती है।

(घ) स्तुति काव्य : इस वर्ग में जैन तीर्थंकरों, धर्माचार्यों, धर्मगुरुओं, विशिष्ट सन्त-सतियों आदि का गुण-कीर्तन किया जाता है। तीर्थंकरों में ऋषभ, शांतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, और महावीर स्वामी की स्तुति ही विशेष रूप से की गई है। विशिष्ट महापुरुषों में जम्बू स्वामी, स्थूलि भद्र, गजसुकुमाल, शालिभद्र, सेठ सुदर्शन, धन्ना आदि पर 'सज्झाय' काव्य रूप लिखे गये हैं। विहरमानों की स्तुति में 'बीसी' संज्ञक काव्य रूप लिखे गये हैं। तीर्थ-स्थानों की महत्ता में तीर्थमाला, चैत्यपरिपाटी आदि काव्य रूप रचे गये। स्तुति काव्य के प्रमुख रूप हैं—स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, सज्झाय, विनती, गीत, नमस्कार, चौबीसी, बीसी, तीर्थमाला आदि।

(२) गद्य के क्षेत्र में विभिन्न काव्य-रूपों की सृष्टि :

जैन पद्य की तरह जैन गद्य भी काफी समृद्ध और विपुल परिमाण में मिलता है। यह गद्य दो रूपों में मिलता है—स्वतन्त्र मौलिक सर्जन के रूप में और टीका तथा अनुवाद के रूप में। स्वतन्त्र गद्य के क्षेत्र में ऐतिहासिक और कलात्मक गद्य के रूप तथा टीकात्मक गद्य के क्षेत्र में टब्बा और बालावबोध के रूप विकसित हुए। संक्षेप में उन्हें इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है।

(क) ऐतिहासिक गद्य :—धार्मिक गद्य के साथ-साथ जैन विद्वानों ने ऐतिहासिक गद्य को भी प्रारम्भिक सहयोग दिया। इन विद्वानों ने गुर्वावली, पट्टावली, वंशावली, उत्पत्ति ग्रन्थ, दफ्तर बही, ऐतिहासिक टिप्पण आदि

विविध काव्य-रूपों में इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री को सुरक्षित रखा। गुर्वावली में गुरु-परम्परा का विस्तृत और विश्वस्त चरित्र वर्णित रहता है। पट्टावली में गच्छ विशेष के पट्टधर आचार्यों का जन्म, दीक्षा, साधना-काल, विहार, मृत्यु आदि का विवरण तथा उनकी शिष्य-सम्पदा और प्रभावना का यथातथ्य चित्रण निहित रहता है। उत्पत्ति ग्रन्थ में किसी सम्प्रदाय विशेष की उद्भवकालीन परिस्थितियों का तथा उसके प्रवर्त्तन के कारणों आदि का वर्णन होता है। वंशावली में जैन श्रावकों की वंश–परम्परा का वर्णन दिया जाता है। दफ्तर वही एक प्रकार की डायरी शैली है जिसमें रोजनामचे की भांति दैनिक व्यापारों का विवरण लिखा जाता है। ऐतिहासिक टिप्पण एक प्रकार के स्फुट ऐतिहासिक नोट हैं जिन्हें व्यक्ति विशेष ने अपनी रुचि के अनुसार संगृहीत कर लिया है।

(ख) कलात्मक गद्य : कलात्मक गद्य के वचनिका, दवावैत, सिलोका, वर्णक ग्रन्थ, बात आदि काव्य–रूप विकसित हुए। इस गद्य की विशेषता यह है कि इसमें अनुप्रासात्मक अन्त्यानुप्रासमूलक शैली का प्रयोग किया जाता है। गद्य की तुकात्मकता संक्षेप में इन काव्य–रूपों की सामान्य विशेषता है।

(ग) टीकात्मक गद्य : टीकात्मक गद्य के निर्माण में जैन विद्वानों का योग सबसे अधिक रहा। यह गद्य पांच रूपों में हमारे सामने आता है— चूर्णि, अवचूर्णि, टब्बा, बालावबोध और वचनिका। चूर्णि में मूल गाथा का विवेचन और विश्लेषण बड़ी गहराई और सूक्ष्मता के साथ किया जाता है। एक प्रकार से विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से उसका मन्थन कर दिया जाता है। इसी– लिए इस रूप को 'चूर्णि' कहा गया। 'अवचूर्णि' चूर्णि का संक्षिप्त रूप है। 'टब्बा' एक प्रकार की सामान्य शैली है जिसमें मूल शब्द का अर्थ ऊपर, नीचे या पार्श्व में दिया जाता है। 'बालावबोध' एक विशेष प्रकार की टीका शैली है जिसमें मूल ग्रन्थ की व्याख्या ही नहीं की जाती वरन् मूल सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न कथाएं भी दी जाती हैं। इस टीका को इतने सहज भाव से लिखा जाता है कि इसे बालक जैसा अपढ़ या मन्द बुद्धिवाला व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है। इसीलिए इसे 'बालावबोध' संज्ञा दी गई है। 'वचनिका' मूल ग्रन्थ का भाषानुवाद है जो कलात्मक गद्य की वच– निका विधा से नितांत भिन्न है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जैन कवियों ने पद्य और गद्य

दोनों क्षेत्रों में काव्यरूप सम्बन्धी कई नवीन प्रयोग किये। ये प्रयोग चमत्कार-प्रदर्शन के लिए न होकर लोक-मानस को प्रबुद्ध और संवेदनशील बनाने के लिए हुए। इन प्रयोगों से यह लाभ हुआ कि काव्यरूपों की गतानुगतिक परम्परा शास्त्रीयता के बन्धन से सहजता की ओर, रूढ़िबद्धता से लौकिकता की ओर और बने बनाये सांचो से बाहर निकल कर लोक-जीवन के व्यापक सांस्कृतिक परिवेश की ओर बढ़ी, प्रवाहित हुई।

२३ | जैन रूपक काव्य

साहित्यशास्त्र में सामान्यत:रूपक शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है एक तो समस्त दृश्य काव्य रूपक कहा जाता है दूसरा रूपक एक साम्यमूलक अलंकार है, जिसमें अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर अभेद आरोप किया जाता है। अधुनातन अर्थ में रूपक अंग्रेजी के 'एलिगरी' का पर्याय है। यह एक कथा–रूपक है जिसमें एक द्वि-अर्थक कथा होती है जिसका एक अर्थ प्रत्यक्ष और दूसरा गूढ़ होता है। हमारे यहा ऐसी रचना सामान्यतः अन्योक्ति कही जाती है। 'एलिगरी' के अर्थ मे रूपक और अन्योक्ति दोनों का समावेश किया जा सकता है। रूपक अलंकार मे जहां प्राय: एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर अभेद आरोप होता है वहां कथा–रूपक में एक कथा का दूसरी कथा पर अभेद आरोप होता है। प्रस्तुत कथा स्थूल, भौतिक, घटनापरक होती है और अप्रस्तुत कथा सूक्ष्म, सैद्धान्तिक, भावपरक होती है। जैन साहित्यकारों ने दोनों रूपों में रूपक काव्य रचे हैं।

रूपक काव्य-सृजन का उद्देश्य:

जैन साहित्यकारो का उद्देश्य आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को प्रस्तुत कर उसकी अनन्त शक्तिमता, अबाध आनन्द-दशा और समरसता का वर्णन करना रहा है। जो कर्म–पुद्गल और कषायादि भाव उसे घेरे हुए हैं, उनका नाश कर आत्मा को अपने परम पद में प्रतिष्ठित करना ही जैन साहित्य का अभिप्रेत है। शुद्धात्मा विकारों के घेरे में पड़ कर सांसारिक प्रपंचों में उलझ गई है। संसारी अशुद्धात्मा के साथ उसके विभिन्न सम्बन्ध जुड़ गये हैं। इन सम्बन्धों को लौकिक धरातल पर उपस्थित कर आध्यात्मिक बोध देने के लिए ही रूपक काव्यों की सर्जना की गई है। जीवन के शुभाशुभ परिणामों, सत्-असत्

प्रवृत्तियों और भले-बुरे पक्षों का अनुभूतिपरक उद्घाटन इन रूपक काव्यों में बड़ी सशक्त भावाभिव्यक्ति के साथ हुआ है। दुख की निवृत्ति दिखा कर लोककल्याण की प्रतिष्ठा करना इन रूपकों की मूल भावना रही है।

रूपक काव्यों के प्रकार :

ये रूपक काव्य विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किये गये हैं। स्थूल रूप से इन्हें तीन वर्गों में बांट सकते है।

(क) कथात्मक रूपक काव्य (ख) गीतात्मक रूपक काव्य और (ग) चित्रात्मक रूपक काव्य।

कथात्मक रूपक काव्यों मे कोई न कोई कथा होती है जिसके माध्यम से मूल भाव की व्यंजना की जाती है। यह कथा कभी तो स्वयं में आध्यात्मिक होती है और कभी साधारण आख्यायिका मात्र होती है। गीतात्मक रूपक काव्यो मे लौकिक त्यौहारों, लौकिक संस्कारों, लौकिक व्यापारों और प्राकृतिक वर्णनो द्वारा अध्यात्म भावों की व्यजना की जाती है। वर्ण या अक्षरो द्वारा नैतिक उपदेशना दी जाती है, मनोवृत्तियों को मूर्त्त रूप देकर परस्पर वाद-विवाद द्वारा असत् की पराजय और सत् की विजय दिखाई जाती है। विभिन्न मास, तिथि और वारों द्वारा भी, चेतन आत्मा को चेतावनी दी जाती है। रूपकात्मक चित्रकाव्यों द्वारा भी अध्यात्म बोध को स्पष्ट किया जाता है। इन सभी प्रकारों में लौकिकता—आध्यात्मिकता का बडा सजीव एव आकर्षक सम्बन्ध देखने को मिलता है। विराट कल्पना, अगाध दार्शनिकता और सूक्ष्म भावनाओ का विश्लेषण इन काव्यों में बड़ी जागरूकता के साथ किया जाता है।

जैन रूपक काव्य:

(क) कथात्मक रूपक काव्य : इन रूपक काव्यों में पात्र सूक्ष्म भावनाओं या वस्तुओं के मानवीकृत रूप होते हैं। उदाहरण के लिए बनारसीदास कृत 'तेरह काठिया' रचना को लिया जा सकता है। इसमें कवि जीवन-शुद्धि के लिए विधान का प्रतिपादन करता हुआ कहता है कि जिस प्रकार लुटेरे, चोर, बदमाश आदि देश मे उपद्रव मचाते हैं उसी प्रकार तेरह काठिया-जुआ, आलस, शोक, भय, कुकथा, कौतुक, कोप, कृपण बुद्धि, अज्ञानता, भ्रम, निद्रा, मद और मोह—आत्म-देश मे विकार उत्पन्न करते हैं। इन तेरह धूर्तों

द्वारा आत्मा का निजी धन–अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य–व्यर्थ नष्ट होता रहता है।

भैया भगवतीदास कृत 'चेतन कर्म चरित्र' इस श्रेणी की सरस रचना है। इसमे नायक चेतन की दो रानियां हैं—सुबुद्धि और कुबुद्धि। सुबुद्धि द्वारा तिरस्कृत किये जाने पर कुबुद्धि अपने पिता मोहराज के पास चली जाती है और उसे चेतन राजा के विरुद्ध उकसाती है। मोहराज क्रोधित होकर अपने दूत काम कुमार को चेतन राजा के पास भेज कर युद्ध के लिए ललकारता है। दोनों ओर की सेनाएं रण–निनाद करती हैं। मोहराज के पास क्रोध और लोभ रूपी योद्धा हैं। राग–द्वेष रूपी अपने मन्त्रियो से परामर्श कर वह इन दोनो योद्धाओ को चेतन राज को पकडने के लिए भेजता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठ कर्मो की विशाल सेना लेकर मोहराज आगे बढता है। उधर चेतन राज भी ज्ञानदेव के सेनापतित्व मे मुकाबला करता है। ज्ञानदेव चक्रव्यूह की रचना करता है। मुख्य द्वार–रक्षक बनता है व्रतदेव, जो मोहराज के प्रबल सेनानी मिथ्यात्वभट और अविरति का नाश करता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय जैसे वीर भी मूर्च्छित हो जाते हैं। मोहराज की सेना का दम टूटने लगता है। वह भाग खडी होती है और चेतनराज विभिन्न गुणस्थान रूपी मोर्चो से मोहराज की सेना का ध्वस करने लगता है। उसके पास भेदज्ञान, ध्यान, समाधि आदि के स्वचालित हथियार हैं। मोहराज आत्म–समर्पण कर देता है और चेतनराज मोक्ष को अपनी राजधानी बनाकर ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य रूप फल का आस्वादन करता है।

इस कथा मे स्पष्टतः चेतन आत्मा की कर्म पुदगलों से लडाई है। कुबुद्धि ही इस सघर्ष की जड है। ज्ञान के प्रकाश से ही चेतन आत्मा को विजय श्री मिलती है। दोनो पक्षों का उद्घाटन बडी तन्मयता के साथ किया गया है। इस कथात्मक रूपक को यो दर्शाया जा सकता है––
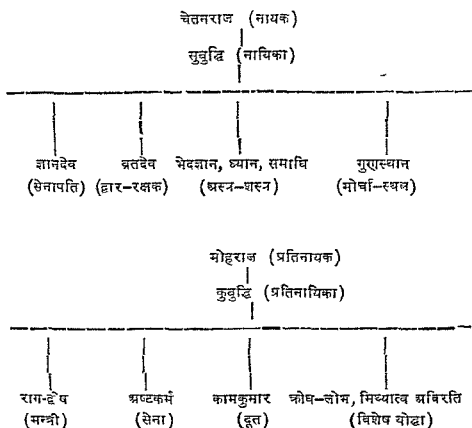
भैया भगवतीदास की ही अन्य रचना है 'मधु विन्दुक चौपाई'। यहा जो पात्र हैं वे मानवेतर, जीवित प्राणी भी हैं और प्रतीकार्थक भी। इस कथा का उद्देश्य ससार-सुख की क्षणभगुरता निरूपित करना है। मानव-मन में जो प्रलोभन वृत्ति बैठी हुई है उसका प्रसार किस सीमा तक हो सकता है और वह व्यक्ति को किस सीमा तक पतित कर सकती है, इसका बडा ही हृदयद्रावक चित्र इस कथात्मक रूपक में है।

'मधु विन्दुक रूपक' की कथा बहुत सक्षिप्त है। एक व्यक्ति वन मे रास्ता भूल कर ऐसे स्थान पर पहुचा जो अत्यन्त भयावना है। उसे सिंह और मदोन्मत्त हाथियो की चिंघाड सुनाई पडी। वह भयभीत हो इधर-उधर छिपने लगा कि एक पागल हाथी उसे पकडने के लिए दौडा। हाथी को अपनी ओर आते देख वह व्यक्ति अपने प्राण बचाने के लिए भागा। हाथी भी

उतनी ही तेजी से उसका पीछा करता रहा। अन्ततोगत्वा वह व्यक्ति हाथी से पीछा छुड़ाने के लिए एक वृक्ष की शाखा से लटक गया। इस वृक्ष की शाखा के नीचे एक बड़ा अंधकूप था। इसके ऊपर एक मधुमक्खी का छत्ता लगा हुआ था। हाथी भी दौड़ता हुआ उसके पास आया, और शाखा से लटक जाने के कारण वह उस व्यक्ति को न पकड़ सका और वृक्ष के तने को अपनी सूंड से पकड़ कर हिलाने लगा। वृक्ष के हिलने से मधु-मक्खी के छत्ते से एक-एक बूंद मधु टपकने लगा और वह व्यक्ति उसका आस्वादन कर अपने को सुखी अनुभव करने लगा।

नीचे के अन्धकूप मे चारों किनारों पर चार अजगर मुंह खोले बैठे थे तथा जिस शाखा को वह व्यक्ति पकड़े था उसकी जड़ें काले व सफेद रंग के चूहे अपने तीक्ष्ण दांतों से काट रहे थे। इस विषम एवं दयनीय स्थिति में फँसे इस व्यक्ति को आकाश मार्ग से गमन करते हुए विद्याधर दम्पति ने देखा। स्त्री के अनुरोध से पुरुष विद्याधर ने इस व्यक्ति से कहा कि आओ, मैं तुम्हारा हाथ पकड़ लेता हूं। विश्वास करो, मैं तुम्हे अपने विमान द्वारा सुरक्षित स्थान पर पहुंचा दूंगा।' इस पर वह पुरुष बोला, कृपया थोड़ी देर रुके रहें। इस बार गिरने वाली मधु-बूंद को खाकर मैं आता हूं।' विद्याधर प्रतीक्षा करता रहा, बार-बार उसके कहने पर भी वह पुरुष न आया। और 'एक बूंद और चाट लेने दो' के लोभ में उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। शाखा के कट जाने पर वह अन्धकूप में गिरकर अजगर का शिकार हुआ।

इस रूपक को स्पष्ट करते हुए कवि ने लिखा है—

यह संसार महावन जान, तामहिं भय भ्रम कूप समान।
गज जिम काल फिरत निशदीस, तिहें पकरन कहु बिस्वावीस।
वट की जटा लटाकि जो रही, सो आयुर्दा जिनवर कही।
तिहें पर काटत मूसा दोय, दिन अरू रैन लखहु तुम सोय।
मांखी चूंटत ताहि शरीर, सो बहु रोगादिक की पीर।
अजगर परयो कूप के बीच, सो निगोद सबतें गति बीच।
याकी कछु मरजादा नाहिं, काल अनादि रहै इह माहिं।
तातें भिन्न कही इहि ठौर, चहुंगति महितें भिन्न न और।
चहुं दिश चारहु महाभुजंग, सो गति चार कही सरवग।

मधु की बूंद विषै सुख जान, जिहै सुख काज रह्यौ हितमान ।
ज्यों नर त्यों विपयाश्रित जीव, इह विधि संकट सहै सदीव ।
विद्याधर तहं सुगुरु सुजान, दे उपदेस सुनावत ज्ञान ।।

यहां जो प्रतीक आये हैं उनका विश्लेपण इस प्रकार किया जा सकता है—

जंगल—संसार
अंधकूप—सांसारिक भ्रम
हाथी—काल
वृक्ष की डाल—आयु
चूहे (काला सफेद)—रात-दिन
मधुमक्खी का काटना—विभिन्न रोगों की पीड़ा
चार अजगर—चार गतियां
मधु-बूंद—विपय सुख
पुरुष—विपियाश्रित संसारी जीव
विद्याधर—गुरु

लौकिक त्यौहारों को आधार बनाकर भी कथात्मक रूपक काव्य लिखे गये हैं । इस श्रेणी में तिलोक ऋषि कृत दशहरे पर्व का विराट आध्यात्मिक सांगरूपक विशेष महत्त्वपूर्ण है । इसकी रचना कवि ने संवत् १८३८ मे विजयादशमी के दिन आंबोरी (दक्षिण) में की थी । भारतीय त्यौहारो मे दशहरे का बड़ा महत्त्व है ।

यह त्यौहार विजयादशमी नाम से भी पुकारा जाता है । इस दिन राम ने रावण का वध कर सीता को मुक्त किया था । दूसरे शब्दो मे राम ने रावण पर विजय पाई थी । दशमी का दिन होने से यह विजयादशमी कहलाया । इस त्यौहार को शक्ति का प्रतीक माना गया है । बंगाल मे विशेप-कर इन दिनो दुर्गा का पूजन किया जाता है जो कि शक्ति की अधिष्ठात्री देवी मानी गई है । यह तो सामान्य लौकिक मान्यता है जिससे दशहरे की परम्परा जोड़ी जाती है ।

पर यह पर्व अपने में मानव-जीवन के चिरन्तन सत्य को भी सुमेटे हुए है । प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में क्षण-प्रतिक्षण दशहरे का पर्व समारोह

चलता रहता है। असद् प्रवृत्तियों का रावण सद् प्रवृत्ति के राम से संघर्ष लेता रहता है। मन की लंका कभी शान्त नहीं बैठी रहती। उसमें सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्व का चक्र घूमता ही रहता है। कवि तिलोक की दृष्टि अन्तर्मुखी बनी और उसने सद्-असद् प्रवृत्तियों के इस व्यापक पर गहन संघर्ष को शब्दों में ला उतारा। यही इस विराट सांग रूपक की मनोभूमिका है।

इस आध्यात्मिक रूपक में कवि तिलोक ने राम और रावण के संपूर्ण परिवार को, उसके पारस्परिक सहयोग एवं विरोध को, उसकी सुखद-दुखद परिणति को बड़ी तन्मयता के साथ गाया है, बड़ी कुशलता के साथ निभाया है। अध्ययन की दृष्टि से इस सम्पूर्ण रूपक को तीन भागों मे बांटा जा सकता है।

१. रूपक में पारिवारिक सम्बन्ध
२. रूपक में संघर्ष एवं युद्ध
३. रूपक की परिणति

१. रूपक में पारिवारिक सम्बन्ध

दशहरे का आध्यात्मिक निरूपण प्रस्तुत करते समय भौतिक शक्ति के प्रतीक रावण और उसके परिवार का तथा आत्मिक शक्ति के प्रतीक राम और उनके परिवार का विस्तार के साथ वर्णन किया है। सुविधा की दृष्टि से इसे दो भागो मे बांट सकते हैं—(अ) रावण का परिवार और (ब) राम का परिवार।

(अ) रावण का परिवार (असद् प्रवृत्तियां)

यह परिवार भरापूरा और सांसारिक भोग पदार्थों की ओर ललकने वाला है। इसका निवास तीन दण्ड[1] रूपी त्रिकूट द्वीप में स्थित लालच रूपी लंका[2] मे है। इसका मुखिया महामोह[3] रूपी रत्नश्रवा (जिसे विश्रवा भी

१. जिससे आत्मा व अन्य प्राणी दण्डित हों अर्थात् उनकी हिंसा हो इस प्रकार की मन, वचन, काया की कलुषित प्रवृत्ति को दण्ड कहते हैं।

२. तीन दण्ड त्रीकूट द्वीप है, लालच लंक बंकवणी ॥

३. महामोह मोहनीय कर्म के उदय से पैदा होता है। जो कर्म आत्मा को मोहित करता है अर्थात् भले बुरे के विवेक से शून्य बना देता है वह मोहनीय कर्म है। यह कर्म मद्य के सदृश है। जैसे शराबी मदिरा पीकर भले बुरे का विवेक खो देता है तथा परवश हो जाता है। उसी प्रकार मोहनीय कर्म के प्रभाव से जीव सत्-असत् के विवेक से रहित होकर परवश हो जाता है।

कहा गया है) नामक राक्षस हैं जिसकी रानी क्लेश रूपी केकसी है।[1] महामोह (रावण) और क्लेश (केकसी) इन दोनों के संयोग से तीन पुत्र और एक पुत्री पैदा होती है। ये तीन पुत्र है—मिथ्यात्व मोहनीय[2] (रावण), सम्यक्त्व मोहनीय[3] (विभीषण) और मिश्र मोहनीय[4] (कुम्भकर्ण)। इनमे सबसे बड़ा है मिथ्यात्व मोहनीय। जिसके दश मिथ्यात्व रूपी[5] मुख (इसी कारण वह अर्थात् रावण, दशानन कहलाता है) और बीस आश्रव[6] रूपी भुजाएं हैं।

---

१. महामोह रत्नश्रवा नामक राक्षस राजा इसमें धणी।
क्लेश केकसी राणी है उसकी अकलदार समजो जहारी।।

२. अदेव मे देव बुद्धि और अधर्म मे धर्म बुद्धि रूप आत्मा का विपरीत श्रद्धान मिथ्यात्व मोहनीय है।

३. मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षमोपशम से उत्पन्न आत्मा का परिणाम। इससे मति आदि अज्ञान भी सम्यग्ज्ञान के रूप मे परिणत हो जाते हैं।

४. मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में कुछ अयथार्थ तत्त्व श्रद्धान होना।

५. जो बात जैसी हो वैसी न मानना या विपरीत मानना मिथ्यात्व है। इसके दस भेद है—१. अधर्म को धर्म समझना २. वास्तविक धर्म को अधर्म समझना ३. ससार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग समझना ४. मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग समझना ५ अजीव को जीव समझना ६. जीव को अजीव समझना ७ कुसाधु को सुसाधु समझना ८. सुसाधु को कुसाधु समझना ९ जो व्यक्ति राग-द्वेष से मुक्त नही हुआ है, उसे मुक्त समझना १० जो व्यक्ति ससार से मुक्त हो चुका है, उसे ससार मे लिप्त समझना।

६. कर्म बंध के कारणों को आश्रव कहते हैं—इसके बीस भेद हैं
(१-५) पाच अव्रत.—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह
(६-१०) पांच इन्द्रियो (कान, आख, नाक, जीभ और स्पर्श) की अशुभ प्रवृत्ति।
(११-१५) मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।
(१६-१८) मन, वचन, काया रूप योगो की अशुभ प्रवृत्ति।
(१९) भण्ड, उपकरण आदि को अयतना से लेना व रखना।
(२०) सूई, कुशाग्र आदि वस्तुओ को अयतना स लेना व रखना।

दूसरा पुत्र सम्यक्त्व मोहनीय (विभीषण) है जिसमे थोडी न्याय बुद्धि है और तृतीय पुत्र मिश्र मोहनीय अविक वाचाल है।[1]

ज्येष्ठ पुत्र रावण का परिवार फैलता है। यह मिथ्या मोहनीय रूपी रावण प्रपच रूपी मन्दोदरी से विवाह करता है। दोनो के सयोग से विषय रूपी इन्द्रजीत और ग्रह अर्थात् अभिमान रूपी मेघनाद का जन्म होता है। इस रावण के कुमति रूपी शूर्पणखा नाम की बहिन है। उसका विवाह कठिन क्रोध रूपी खर के साथ किया जाता है। इस क्रोध रूपी खर के दो भाई हैं। एक है दूषण (दुर्गुण) रूपी दूषण और दूसरा है तीन शल्य[2] रूपी त्रिशिरा।[3] मज्वलन[4] रूपी शबूक (एक शूद्र तपस्वी) ज्ञान रूपी सूर्य हस खड्ग की साधना करने के लिए उपशम रूपी रण मे उपस्थित होता है। रावण के इस परिवार का रेखाचित्र यों प्रदर्शित किया जा सकता है।

---

१. मिथ्यामोहनी उसका फर्जद, दश मिथ्या दश आनन है।
बीस आश्रव की भुजा है उसके, कपट विद्या की खानन है।।
सम्यकत्व मोहनी विभीषण दूजा, नदन सो कुछ न्यायी।
मिश्र मोहनी कुभकर्ण ए, लचपित बात में अधिकाई।

२ जिसमे पीडा हो, उसे शल्य कहते हैं। इसके तीन प्रकार हैं—१. माया शल्य २. नियाण शल्य और ३. मिथ्यादर्शन शल्य।

३. परपच नाम मन्दोदरी नामें, मिथ्या मोह रावण राणी
विषय इन्द्रजीत ग्रह मेघवाहन, मिथ्या रावण के सुख दाणी
कुमति नाम चदनखा बहन है कठिन क्रोध खर के व्याही।
दूषण तीन शल्य त्रिशिरा, ये दोनों ही उसके भाई।।

४. जो कषाय, परीषह तथा उपसर्ग के आ जाने पर तपस्वियो को भी थोडा सा जलाता है।
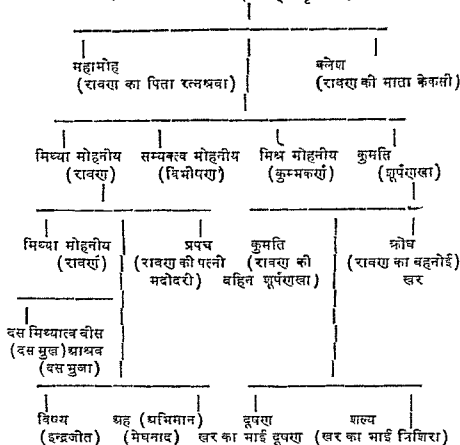
(ब) राम का परिवार (सत् प्रवृत्तिया)

रावण का परिवार जहा असत् प्रवृत्तियो का पोषक है वहा राम का परिवार सत् प्रवृत्तियो का प्रतिपालक। इस परिवार का मुखिया दशलक्षण धर्म[1] रूपी राजा दशरथ है। इस राजा के सवर[2] भावना रूपी कौशल्या नाम की पटरानी है। दोनो के सयोग से धर्म रूपी राम की प्राप्ति होती है। राजा

---

१ मोक्ष की साधन रूप क्रियाओ के पालन करने को धर्म कहते हैं। इसके १० भेद हैं—१. क्षमा २ मार्दव ३ आर्जव ४. मुक्ति ५. तप ६. सयम ७ सत्य ८ शौच ९ अकिंचनत्व १०. ब्रह्मचर्य।

२. जिन क्रियाओ से कर्मों का आना रुक जाता है, वह सवर है।

दशरथ के एक रानी और है । इस समकित [1] रूपी सुमित्रा रानी से सत्य रूपी लक्ष्मण का जन्म होता है । धर्म रूपी राम का विवाह सुमति रूपी सीता के साथ होता है । राजा दशरथ (दशलक्षण धर्म) की आज्ञा पाकर राम, लक्ष्मण और सीता (धर्म, सत्य और सुमति) तीनों संयम [2] रूपी वनवास ग्रहण करते हैं ।[3] इस परिवार का रेखा चित्र यों दर्शाया जा सकता है—

राम का परिवार (सत् प्रवृत्तियां)

दश लक्षण धर्म (राम का पिता राजा दशरथ) — संवर (राम की माता कौशल्या) — समकित (लक्ष्मण की माता सुमित्रा)

धर्म (राम) — सत्य (लक्ष्मण) (राम का भाई)

सुमति (सीता–राम की पत्नी)

संजम (वनवास)
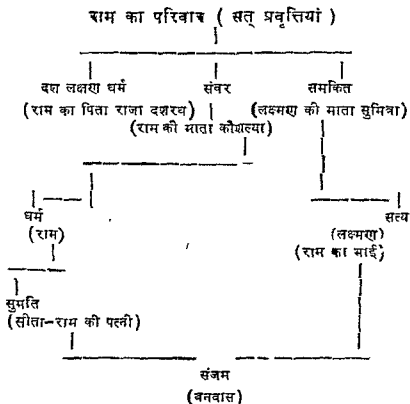
१. समकित—सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित पारमार्थिक जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना समकित है ।

२. सर्व सावद्य व्यापार से निवृत्त होना संयम है ।

३. उसी बखत में राम राजगृहि, दश लक्षण दशरथ राया ।
संवर भावना राणी कौशल्या, धर्म राम पुत्र जाया ।।
समकित सुमित्रा राणी दूसरी, सत लक्ष्मण की महतारी ।
सुमति सीता से धर्म राम का बहोत ठाठ से विवाह भया ।
एक दिवस वो पिता हुकुम सें, तिनु ही संजम बन में गया ।।

२. रूपक मे सघर्ष एव युद्ध:—

कवि तिलोक ऋषि ने रचना के प्रारम्भ मे दोनो परिवारों का विस्तृत परिचय देकर रचना के मध्य में दोनों परिवारो के बीच उठे हुए द्वन्द्व एव सघर्ष को वाणी दी है। दोनो परिवारों में द्वन्द्व का कारण बनती है कुबुद्धि अर्थात् शूर्पणखा। वह सज्वलन रूपी शबूक का अन्त नहीं देख सकती। इसीलिए अपने पति (क्रोध रूपी खर) और देवर (दूषण, शल्य) को चढा लाती है। पर सत्य के आगे क्रोधादि कषायो एव शल्यों की दाल नहीं गलती। वे लक्ष्मण के हाथ से मारे जाते हैं।[1]

इस प्रयास मे जब कुमति रूपी शूर्पणखा परास्त हो जाती है तब वह अपना दाव बदलती है और मिथ्यामोह रूप रावण के पास जाकर सुमति रूपी सीता की प्रशसा करती है। रावण छलपूर्वक सीता का अपहरण कर लेता है। सुमति मिथ्यामोह के जेलखाने में बन्द हो जाती है।[2]

पर यह स्थिति अधिक समय तक रहती नही। ज्योंही धर्म रूपी राम का सन्तोष रूपी सुग्रीव और उसके दल की सहायता मिलती है त्योंही बन्दी सुमति की टोह मिल जाती है।[3] टोह मिलते ही युद्ध के नगाडे बज उठते हैं।

युद्ध वर्णन में दोनों ओर की सेनाओ का बडा भव्य वर्णन किया गया है। रावण की सेना ठीक उसके अनुरूप है। उसकी सेना में क्रोध, मान, माया

---

१. सत लक्ष्मण वो खड्ग पकडकर, सजल सबुक का सिर धाया।
कुमति चद्रनखा कही पतिसु, खर, दूषण, त्रिशिरा धाया।।
सत लक्ष्मण तब चढे सामने, उन तीनु कु लिया मारी।

२. मिथ्यामोह रावण के पास वो, सुमति सीता की बडाई।
करी बहोत तब लालच वश वहा, चल आया लंका साई।
छल विद्या का नाद सुना कर, सुमति सीता की किवि है चोरी।
राम लक्ष्मण जब जाना भेद ए, सोचे अब लाना है दोरी।
झूठ साहसिक दृष्टि है उसकी, सत् लक्ष्मण ने करी खुवारी।।

३. सन्तोष सुग्रीव जब भया पक्ष पर, बहोत भूप उसकी सगें।
जाम जावुवाहन नील नलादिक, सुमत नाम हनुमत अगे।
खबर लाया वो सुमति सीता की बहुत जोरावर दुनिया मे।।

और लोभ (चार कषाय) रूपी राक्षस गजारोही, अश्वारोही, रथारोही तथा पदाति (चतुरंगिणी सेना) सैनिक हैं।

कुध्यान रूपी ध्वजा फहरा रही है। अपयश के नगाडे बज रहे हैं। विकथा [1] रूप कड़खों (वीर गीतों) का चारण-भाटों द्वारा उच्चारण हो रहा है। कुशील रूपी रथ मे मिथ्यात्वी रावण सात व्यसन [2] रूपी हथियार समाले सचेत होकर बैठा है। उसके दोनों ओर राग-द्वेष रूपी जबरदस्त उमराव हैं। [3]

राम की सेना भी किसी से कम नहीं। वह भी ठीक उनके अनुरूप है। नीति रूपी पताका लहरा रही है। सज्झाय रूपी रण-दुदुभी बज रही है। सत्य रूपी लक्ष्मण न धैर्य रूपी धनुष धारण कर रखा है। वे शील रूपी रथ मे बैठे हैं। दान शील, तप और भावना रूपी चतुरंगिणी सेना उनके साथ है। [4]

जब पूर्ण तैयारी के साथ दोनो सेनाएं आमने-सामने आती हैं तो युद्ध शुरू हो जाता है। मिथ्या मोह रूपी रावण क्रोधित हो उठता है। वह अज्ञान रूपी चक्र हाथ मे लेकर लक्ष्मण पर चलाता ह पर सत्य के आगे अज्ञान का कुछ भी वश नहीं चलता। इसके विपरीत सत्य ही जब ज्ञान चक्र को उठा लेता है तब

---

१ संयम मे बाधक चारित्र विरुद्ध कथा। इसके ४ प्रकार हैं—(१) स्त्री कथा (२) भक्त कथा (३) देश कथा (४) राजकथा।

२ १ जुआ २ मास ३ मदिरा ४. वश्या ५ शिकार ६. चोरी और ७ परस्त्री-गमन।

३ चार कषाय राक्षस दल भारी, कुध्यान धजा के फरवे।
अपकीर्ति का बजे नगारा, विकथा का कडखा गावे।
कुशील रथ में बैठा हुंशियारी, सात व्यसन शस्तर धारे।
राग द्वेष उमराव जोरावर, सहेज सुभट सें नहिं हारे।

४ दान शीयल तप भाव की सेना, ले के गया लका ठामे।
नय नेजा, सझाय घोष दे राम आय चढ तिन वारी।
सत लक्ष्मण तब धीरज धनुष ले, बैठे शील रथ के माइ

मिथ्या मोह का अन्त हो जाता है। लक्ष्मण के हाथों इसी कारण रावण मारा जाता है।[१]

दोनों परिवार (प्रवृत्तियों) में घटित इस संघर्ष एवं युद्ध को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—

कुमति (शूर्पणखा) के प्रयत्न से मिथ्यामोहनीय (रावण) द्वारा सुमति (सीता) का अपहरण
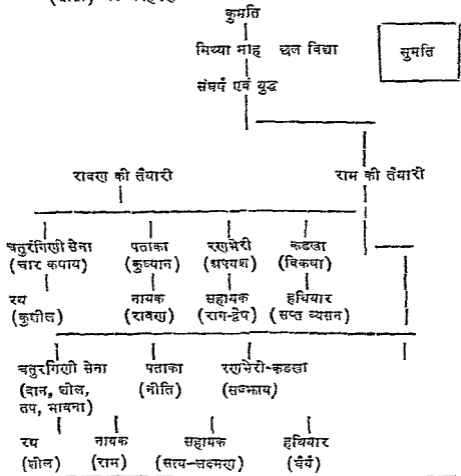
१. रुबरु जब मिले आन कर, मिथ्या रावण कूं रोश आइ।
अज्ञान चक्र मेला लक्ष्मण पर, जोर चला नहिं लीगार रे।
ज्ञान चक्र जब मेला हरि ने, एकदम में रावण मारे।
राम लक्ष्मण की जीत भई जब, जग में नया जय जय मारो॥

३ रूपक की परिणति

इस युद्ध मे राम की विजय और रावण की पराजय होती है। मिथ्या-मोहनीय रावण के अन्त होते ही सुमति रूपी सीता के सारे बन्धन खुल जाते हैं। वह मुक्त हो जाती है। उसकी राम-लक्ष्मण से भेंट होती है। कहना न होगा सुमति (सीता) की प्राप्ति के लिए धर्म रूपी राम को अपने सद्गुणो की पूरी सेना तैयार करनी पडती है। जब यह सेना अपने उद्देश्य को पूर्ण कर लेती है, प्रतिपक्षी को परास्त कर देती है तो मुक्ति सहज ही आ मिलती है। राम और लक्ष्मण अर्थात् धर्म और सत्य अपने सद्गुणों से मिथ्यामोह रूप रावण और उसके सहायक राग, द्वेष रूपी जबरदस्त सेनानियों का अन्त कर सीता को, सुमति को ले आते है और मोक्ष रूप अयोध्या नगर मे प्रवेश करते है, जहा जन्म-मरण का कोई दुख नही।[1] यही सच्चा राम-राज्य है। दशहरा पर्व इसी रामराज्य को प्राप्त करने का सन्देश देता है।

(ख) गीतात्मक रूपक काव्य इन रूपक काव्यों में कथा की कोई अन्तर्धारा नही बहती। वे किसी मनोभाव, घटना या परिस्थिति को ही लौकिक भाव भूमि मे ऊपर उठा कर किसी अध्यात्म भाव की ऊचाई तक पहुचाते हैं। इनमे सामान्यत: निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

१. लौकिक पर्वो की आध्यात्मिक व्यजना : लौकिक पर्वों की आध्यात्मिक व्यजना कथात्मक रूपक काव्यो मे भी मिलती है। गीतात्मक रूपक काव्यों मे भी ये त्योहार अपना आध्यात्मिक अर्थ देते देखे जाते हैं। तिलोक ऋषि ने धनतेरस, रूप चउदस, दीपमालिका, सक्राति पर्व, वसत पचमी, फाग, शीतला सप्तमी, गणगौर, आखातोज, राखी आदि विभिन्न पर्वों को आध्यात्मिक परिवेश दिया है[2]। अन्य कवियो की भी इस प्रकार की प्रवृत्ति रही है। सत कवि आचार्य जयमल्ल जी[3] का आध्यात्मिक दीवाली रूपक सुन्दर बन पडा है। यहा काया की हवेली को तपस्या से उज्ज्वल करने, क्षमा के

---

१. सुमति सीता कू लेकर आये, मुक्ति अयोध्या राज करे।
 जन्म मरण भय दु:ख मिटे जिहा, राम राजा सो जग में खरे।
२. श्री सत्यबोध : तिलोक ऋषि, पृष्ठ २२८–२३७
३ इनके विशेष परिचय के लिए देखिये : मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रथ, पृ० १३७–१५५

खाजे, वैराग्य के घेवर, उपशम के मोवण से मोतीचूर बनाने, धर्म की वही और कलम-दवात को पूजने, धैर्य की धूप, तपस्या का अगर और श्रद्धा के सुमन चढा कर काया-मन्दिर मे स्थित आत्मदेव की पूजा करने, दया के दीपक मे सवेग की बत्ती जला कर, ज्ञान का तेल डाल कर-समकित का प्रकाश कर अष्टकर्म रूप अ धकार को भगाने की बात कही गई है—

काया रूपी हवेलिया, तपस्या करने रेल,
सूस वरत कर, माडणो, विनय भाव वर वेल।
क्षमा रूप खाजा करो, वैराग्य घृतज पूर,
उपशम मोवण घालने, मदवो मोतीचूर।
दिवाली दिन जाणने, धन पूजे घर मांय,
इम तू धर्म ने पूज ले, ज्यो अमरापुर मे जाय।
राखे रूप चवदश दिने, गहणा कपडा री चूप,
ज्यों चूप राख धर्म सू, दीपे अधिको रूप।
पर्व दिवाली ने दिने, पूजे बही, लेखण ने दोत,
ज्यू तू धर्म ने पूजले, दीपे अधिको जोत।
पर्व दिवाली जाणने, उजवाले हवेली ने हाट,
इम तु व्रत उजवाल ले, बन्धे पुनारा ठाट।
काया रूप करो देहरो, ज्ञान रूपी जिनदेव,
जस महिमा शख झालरी, करो सेवा नितमेव।
धीरज मन करो धूपणो, तप अरगज खेव,
श्रद्धा पुष्प चढायने, इम पूजो जिनदेव।
दया रूपी दिवला करो, सवेग रूपणी वाट,
समगत ज्योत उजवाल ले, मिथ्या अ धारो जाय फाट।
सवर रूपी करो ढाकणो, ज्ञान रूपियो तेल,
आठो ही कर्म परजाल ने दो रे अन्धारो ठेल।

आध्यात्मिक होली के सरस गीत बडी तन्मयता और हर्षोल्लास के साथ जैन कवियो ने गाये है। रतनसागर कवि का कहना है कि चिदानन्द समता रानी के साथ होली खेलता है। भावना रूपी मृदग और दया रूपी डफ बजने लगता है तो विवेक ध्वनि को सरस झकार मन को मोहक लगती है। विनय रूपी स्नेह में पग कर सयम रूपी झोली मे बारह भावना रूपी गुलाल भर कर और तप रूपी पिचकारी मे निर्मल भाव रूपी केसर घोल कर जब

फाग खेली जाती है, तब अजब ही समा बध जाता है। आगम रूपी धमाल और सवर रूपी तूर्यनाद से आत्मा का प्रकाश उभर-उभर कर विकीर्ण होने लगता है। कितनी सरस होली है यह—

चिदानंद खेले होरी संग लिए समता गोरी।
भाव मृदंग दया डफ बाजत, विनय विवेक धुनि जोरी।
पांच सुमति जिहा झांझ बजत है, योग जुगति ताल बजोरी।
स्नेह विनय वैराग्य अरगजा, निर्मल धन केसर घोरी।
ज्ञान गुलाब विवेक सुजस्ता, सयम वासन भर झोरी।
द्वादश भाव गुलाल सु लेकर, तप पिचकारी र झोरी।
आगम अगम धमाल सुनावत, अति संवर गुण साझ तुरी।
रतनसागर कहे धन धन ते नर, इण विध खेलैं जे होरी॥

२. लौकिक संस्कारों द्वारा आध्यात्मिक बोध : जैन कवि लौकिक रीति, नीति और संस्कार आदि की उपेक्षा नही करते, वे उनका उदात्तीकरण कर उन्हें आध्यात्मिकता की ओर मोड़ देने में ही उनकी सार्थकता समझते हैं। यही कारण है कि जीवन के विभिन्न संस्कारो को उन्होंने बड़ी सहृदयता के साथ गा-गा कर आध्यात्मिक रंग दिया है।

लौकिक संस्कारो मे विवाह-संस्कार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। जैन कवियों ने इस संस्कार को 'सयम-श्री विवाह' के रूप में प्रदर्शित किया है। 'विवाहलो' संज्ञक ऐसी यथेष्ट रचनाएँ लिखी गई हैं। यहा दीक्षा कुमारी के साथ चिदानद का विवाह कराया गया है। विवाह के इस प्रसग में वर और वधू दोनो को वर्ण्य-विषय बनाया गया है। जैन कवयित्री जड़ावजी ने शील रथ पर आरूढ़ मुक्ति-वधू को वरण करने वाले वीर दूल्हे का कितना भावपूर्ण वर्णन किया है—

१. सील रथ कै जुपाद्यो जुपाद्यो गुरूजी माने,
मुगति को पथ बतायदो।
दया धरम की झूल करणी कर घुंघरमाल
वंदाद्यो २ गुरूजी०।
क्रिया किलंगी, व्रत की बागा,
भेमा का मुगट धराद्यो २ गुरूजी०।

चेतन राजा माह विराज्या,
जस का बाजा बजाद्यो २ गुरुजी० ।
ग्यान लगाम, ठाम मन घोड़ा,
समता की सडक चलाद्यो २ गुरुजी० ।
सतगुरु सारथी खेडण वाला,
सिवपुर की सैर कराद्यो २ गुरुजी० ॥

२. पच इन्द्री ने वस करो, सुपत गुपत सुखकार ।
सवर बांध्यो सेवरो, सील रो कियो सिणगार ।
क्रिया किलगी झुल रई, तपस्या रो तिलक लिलार ।
खिम्मा खड्ग ज्यार हाथ मे, ग्यान घोडे असवार ।
मुकति रा डका बाजिया, सजम सैंन्या लार ।
अचल अखै सुख माणवा, होय रह्या छो त्यार ।

शील रथ में आरूढ इस दूल्हे ने सवर का सेहरा बाध रखा है क्रिया की कलगी लगा रखी है तपस्या का तिलक दिया है, क्षमा रूपी खड्ग हाथ मे समाली है, सयम रूपी सेना उसके साथ है, फिर क्यो न मुक्ति-वधू का वरण करेगा वह ?

वर के साथ साथ वधू का भी आदर्श रूप सामने रखा है । वधू का वरण किसी सामान्य वर ने नही किया है, उसे जिस ससुराल मे जाना है वह लौकिक नही लोकोत्तर है । वहाँ जाने की पूर्ण तैयारी अपेक्षित है । विनयप्रभ सूरी ने ससुराल जाने वाली दुल्हिन का जो भावपूर्ण चित्र खीचा है, वह देखते ही बनता है । उसे जो शृ गार कराया है, वह मन मे पवित्र भावनाओ का सचार करता है । शील स्वभाव का उसने घाघरा पहन रखा है, जीव दया की कचुकी बाँध रखी है, समकित की ओटनी ओढ रखी है, निश्चय और व्यवहार के उसने नूपुर पहने हैं, साधु और श्रावक धर्म के कानो मे गहने हैं । प्रेम-सिन्दूर की बिन्दी है, भावना का हार पहना है, दान के काकण सुशोभित हैं, सुमति सखी साथ मे है—

शियल स्वभाव सोहे घाघरीयो, जीव दया काचलडी ।
समकित उटणी उढी रे जीणी, शका मेले न खरडी रे बाई ।
निश्चय ने व्यवहार तणा वे, प ये नेउर खलके ।

वेउ विध धर्म साधु श्रावक ना, कानें अकोटा झलके रे बाई ।
तप तणा बे वेरखा बाहे, तगतगे तेजें सारा ।
ज्ञान परमत तणु ते अर्चा, माहे परिणाम नी धारारे बाई ।
राग सिंदूर नु कीधु टीलु, शियल ना चाडलो सोहे ।
भाव नो हार हैया मां लहेके, दान ना काकण सोहे रे बाई ।
सुमति सहेली साथें लेइने, दौरे मारग वहीगे ।
क्रोध कषाय कुमति अज्ञानी, तेह थी बात न करीये रे बाई ।

ऐसी वधू का सासरा क्या है ? ससुर कौन है ? सास कौन है ? कवि का कथन है—जिन धर्म ही सासरा है, जिनवर देव ही ससुर है और जिनाज्ञा ही सास है—

जिन धर्म ने सासरु कहियें, जिनवर देव तो ससरो
जिन आणा सासू रढीयाली, तेना कह्याया विचरो रे बाई ।

विभिन्न साधना पद्धतियो मे योग साधना का बडा महत्व है । योग-साधना स्वय में अन्तर्मुखी साधना है पर बाह्य क्रियाकाण्डो मे वह भी मुक्त न रह सकी । अत यहा योग-साधना क्रिया का भी आध्यात्मिक रग देकर उसके मूल भाव को पकडने का प्रयत्न किया गया है—

ज्ञानानद का कहना है—

ऐसो योग रमावो साधो, ऐसो योग रमावोरे ।
धरम विभूति अग रमावो, दया तीर मन भावो रे ।
ज्ञान शोचला अतर घट में, आतम ध्यान लगावो रे ॥१॥
धरम शुक्ल दोय मुदरा धारो, कनदोरी सम मारो रे ।
सुभ सयम कोपीन विचारो, भोजन निरजरा धारो रे ॥२॥
अनुभव प्याला प्रेम मसाला, चाख रहे मतवाला रे ।
ज्ञानानन्द लहर मे झूले, सो योगी मदवाला रे ॥३॥

सयम की कोपीन धर्म और शुक्ल ध्यान की मुद्रा, समता भाव का कदोरा, और निर्जरा का भोजन करने वाला योगी ही सच्चे अर्थ मे आत्म-योगी है ।

लौकिक जीवन में व्यक्ति के नामों का बड़ा महत्त्व है। कवि तिलोक ऋषि की दृष्टि इसी नाम-संस्कार की ओर जाती है। वह नामों के माध्यम से ही आध्यात्मिक उपदेश दे बैठता है। काल किसी को नहीं छोड़ता, अतः मान, धन, कर्म आदि से प्रवृत्ति हटाकर चेतन को ज्ञान, दया और व्रत-नियम की ओर प्रवृत्त होना चाहिए—

प्रेमसी जुम्मारसिंह वश किया जीवराज,
मानसिंह भाईदास मिल्या चारों भाई है।
कर्मचन्द काठा भया, रुपचन्द जी से प्यार,
धनराज जी की बात चाहत सदाई है।।
ज्ञानचंद जी की बात सुने न चेतनराय,
आवे नहीं दयाचंद सदा सुखदाई है।
कहत तिलोकरिख मनाय लीजे नेमचन्द,
नहीं तो कालूराम आया विपत सवाई है।

जीविका-निर्वाह के लिए जो काम धन्धे किये जाते हैं, उन पेशों को लेकर भी इन कवियों ने बड़े सटीक आध्यात्मिक साग रूपक बांधे हैं।

समयसुन्दर ने धोबी को सजग करते हुए कहा है कि हे धोबी तू मन रूपी धोती को अच्छी तरह धोना। उसे उस सरोवर में धोना जहाँ समकित रूपी पाल हो, दान के दरवाजे हो, नवतत्त्व रूपी कमल खिले हुए हों। हँस रूपी मुनि क्रीड़ा करते हों, जप-तप रूपी जल भरा हो, शम दम की शिला हों, वहीं आत्म रूपी कपड़े को धोना—

धोबीड़ा तुं धोजे मननुं धोतीयुं रे।
एणे रे मेले जग मेलो करयो रे, अण धोयुं न राखे लगार रे।
जिन शासन सरोवर सोहामणुं रे, समकित तणी रूडी पाल रे।
दानादिक चारे बारणां रे, माँही नव तत्त्व कमल विशाल रे।
तिहां भीले मुनिवर हसलारे, पीये छे तप जप नीर रे।'
शम दम आदे जे सिलारे, तिहां पखाले आमत चीर रे।।

आगे कवि और चेतावनी देता है कि इस मन रूपी धोती को तप रूपी अग्नि में खूब तपाना, अठारह पापों के छींटे उछाल-उछालकर इसे साफ करना, आलोचना रूपी साबुन से धो-धो कर इसका मेल नष्ट करना—

तपवजे तप तडके करीरे, आलवजे नव ब्रह्म वाड रे ।
छांटा उभाडे पाप अढारना रे, एम उजलु होशे ततकाल रे ।
आलोयण साबूडो सुधो करे रे, रखे आवे माया शेवाल रे ।
निश्चें पवित्रपणु राखजेरे, पछें आपणा नियमे संभाल रे ।

तिलोक ऋषि ने मन के माली को उपदेश देते हुए कहा है कि हे मन-माली, तू उपशम रूपी सरोवर से ज्ञान का पानी भर कर धीरज की धरती को तर कर दे । कपट-लोभ की खाड़ दूर दे, क्रोध और मान के ठूंठ को क्षमा की कुदाली से जड़ समेत नष्ट कर दे—

मन का रे माली करले स्याणा, उनशम सरोवर सार ।
ज्ञान को पाणी निर्मल शीतल, धीरज की धरती सुधार ॥
कपट लोभ की खाड़ दूर दे, पावडी संतोष समार ।
ठूंठ उड़ादो क्रोध मान का, क्षमा कुदाली करो त्यार ॥

और तब उसमें शीयल का केला, संताप का सीताफल, यतना का अमरूद, दृष्टान्त का नींबू, दान का वटवृक्ष, आत्मानुभव का आम वृक्ष, गुण-रूपी विविध फूल लगा—

शीयल की केलि, संतोष सीताफल, जयणा का जाम विचार ।
दृष्टान्त लिंबू, चोज आमली, दान को वड़ विस्तार ।
आतम अनुभव करो अंबराई, गुण गुल विविध प्रकार ।
विनय की वनराई छाई घट में, सुकृत फल श्रेयकार ॥

आध्यात्मिक बगले की शोभा भी देखते ही बनती है । उसमें सात नय की खिडकियां हैं, करुणा की कुर्सी है, दया की टेबुल है, शुभ मन का पखा है, सरल भाव की सडक है, विनय की रेत बिछी है । नवबाड़ की कोट है, विवेक की फाटक है और प्रेम की मेहदी चारो ओर लगी हुई है—

सवर को बंगलो करो मनमोहन, सातूं नय की खिडकी विचार ।
करुणा की कुर्सी मेज मया का, शुभ मन पंखो कर डार ।
सरल भाव की सड़क बणायलो, विनय की वेलू तूं संचार ।
वाड़ वा कोट विवेक की फाटक, प्रेम की मेहदी परचार ॥

और अनुभव सुख-शय्या का क्या कहना ? दान, शील, तप और भावना के उसके चार पाये हैं। ज्ञान का वाण है, संयम की गादी है, विनय का तकिया है, बारह व्रतों का पंखा है। क्षमा का पलंगपोश है धर्म की सौरख है, धैर्य की मच्छरदानी है जो मिथ्या मच्छरों को भगा देती है। ऐसी सेज पर यह चिदानंद समता रूपी नींद में सुमति रूपी सुहागिन के साथ शयन करता है—

दान शीयल तप भावना, ए चारु पाया चग ज्ञानी ।
वाण बणावजो ज्ञान को जी कांइ, संतोष सेज रसाल ज्ञानी ।
संजम दुलाई तुम पाथरो कांइ, विनय उसीसो लाल ज्ञानी ।
समकित गालमसुरीयाजी कांई, विजणो ल्यो व्रत बारे ज्ञानी ।
धरम सौरख भली औढजोजी कांइ, पड़दाया शुभ ध्याय ज्ञानी ।
समता नींद में सोवजो जी कांइ, कुमति नार भगावो ज्ञानी ।
चाहो निशदिन सपदाजी कांइ, सुमति सुहागण चहावो ज्ञानी ।
ऐसी सुख सेज में पोढियेजी कांइ, पाया छे सुख अनंत ज्ञानी ।

इस प्रकार धोबी, माली, बढ़ई, कुंभकार, बणजारा आदि विभिन्न पेशेवरों को सम्बोधन कर इन कवियों ने नैतिकता व आत्मा के विशुद्ध स्वरूप को पहचानने का उपदेश दिया है।

(३) प्राकृतिक व्यापारों द्वारा सात्विक भावों की व्यंजना :

इन कवियों ने प्रकृति के विभिन्न व्यापारों को लेकर सात्विक भावों की हृदयस्पर्शी व्यंजना की है। प्रकृति के ये व्यापार केवल सात्विक प्रतीक बनकर ही नहीं आये हैं वरन् पूरे मनोभाव को अभिव्यक्त करते हैं। परम्परागत बारहमासा को विरह की भाव भूमि से बाहर निकाल कर ये कवि उसे लोकहित व आत्मचिन्तन की भूमिका पर उतार सके हैं। पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी[१] ने बारहमासा को वैराग्यपूर्ण बारह भावनाओं में गूंथा है। उनके लिए आषाढ़ अनित्य भावना का, श्रावण अशरण भावना का, भाद्रपद संसार भावना का, आसोज एकत्व भावना का, कार्तिक अनन्य भावना का, मगसर

---

१. विशेष परिचय के लिए देखिये—गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, पृ० ३१७-३२७।

अशुचि भावना का, पौप आश्रव भावना का, माघ संवर भावना का, फाल्गुन निर्जरा भावना का, चैत्र धर्म भावना का, वैशाख लोक स्वरूप भावना का और ज्येष्ठ बोधि दुर्लभ भावना का सन्देश लेकर आता है। निर्जरा भावना और फाल्गुन मास का यह रूपक-सम्बन्ध देखिये—

फाल्गुन समय वसन्त को, तप भेद द्वादश निर्जरा।
पिचकारी संजम रंग है गुण सतवीस लीजे पखरा।
धमाल ध्यान मृदंग समता, शील केशर तन सजै।
करम धूर उड़ाय कर, गढ़ मुक्ति में अनहद बजै।

बारहमासा को शोभजी श्रावक ने एक दूसरी दृष्टि से भी देखा है। उन्हे तेरापंथ सम्प्रदाय के आद्य प्रवर्तक स्वामी भीखणजी का व्यक्तित्व ही बारहमासी रूप में दिखाई दिया। आषाढ-श्रावण में वे झूलते हुए गजराज हैं (आप हस्ती ज्यूं डोला में दीपता), भाद्रपद–आसोज में वे हरे-भरे पर्वत हैं (सांमी डूंगर हरिया होय), कार्तिक—मिगसर में वे सजे-सजाये सांड हैं (सांड ज्यूं पूज पूजावता गामां नगरां), पौप–माघ में वे सुखद सूर्य हैं (रवि तपतो ज्यूं तप तेज आकरो), फाल्गुन–चैत्र में वे वैराग्य रूपी गुलाब और दया रूपी जल से फाग खेलने वाले राजा हैं (राजा ज्यूं पूज सुमता राण्यां वंणी), और वैशाख–जेठ में वे लहराते समुद्र हैं (आप दरसण समुद्र लहिर ज्यूं)[1]।

पूज्य रतनचन्दजी ने एक अन्य स्थल पर परमात्म–मिलन (आत्म-ज्ञान) की आनन्दानुभूति का वर्णन करने के लिए सम्यक्त्व श्रावण का साग रूपक बांधा है—

सम्यक्त्व श्रावण आयो, अब मेरे सम्यक्त्व श्रावण आयो।
घटा ज्ञान की जिनवर ने भाखी, पावस सहज सुहायो ॥१॥
ग्रीष्म ऋतु मिथ्यात मिटांनी, अनुभव पवन सुहायो।
ऊंची ध्वनि गुरु गरजन लागे, भव्य मोर चित भायो ॥२॥
निज गुण दामिनी चमकण लागी, ज्ञान-नीर बरसायो।
तप जप नदियाँ चलत हीया में, ममता तपत मिटायो ॥३॥

---

१. हिन्दुस्तानी : भाग २४, अङ्क ३

सम्यक्त्व श्रोता तरुवर उलहसे, श्रुत ज्ञान फल छायो ।
अर्क जवासा जिम मिथ्याती, सूकत होत दुखायो ॥४॥
सम्यक्त्व धरती अमृत निज गुण, बचे खेत अविकायो ।
मिथ्या धरती लोभ उकरड़ी, दुर्गन्ध द्वेष बधायो ॥५॥
श्री जिनवाणी अमिय समाणी, मुक्ति मारग दरसायो ।
'रतनचन्द्र' कर जोडि जम्पै, इस वाणी सरणायो ॥६॥

इस सांगरूपक का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—

	उपमेय	उपमान
१.	सम्यक्त्व	श्रावण
२.	ज्ञान	घटा
३.	मिथ्यात्व	ग्रीष्म ऋतु
४.	अनुभव	पवन
५.	चित्त	मोर
६.	गुण	दामिनी
७.	ज्ञान	मोर
८.	जप-तप	नदियां
९.	ममता	तपन
१०.	सम्यक्त्व श्रोता	तरुवर
११.	श्रुत ज्ञान	फल
१२.	मिथ्यात्वी	अर्क, जवासा
१३.	सम्यक्त्वी के गुण	लहलहाते खेत
१४.	मिथ्यात्वी की लालसा	उकरड़ी
१५.	द्वेष	दुर्गन्ध
१६.	जिनवाणी : मुक्तिमार्ग	अमृत वर्षा

कवि भूधरदास प्रकृति के माध्यम से जीवन की मार्मिकता और काल की गतिशीलता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि काल रूपी अरहट सूरज-चांद रूपी बैलों द्वारा रातदिन रूपी घड़ों में प्राणियों के आयु रूपी जल को भर-भर कर खाली कर देता है—

रात दिवस घट माल सुभाव ।

भरि भरि जल जीवन की जल ।।
सूरज चांद बैल ये दोय ।
काल रैहट नित फैरे सोय ।।

आनन्दघन ने सूर्योदय से ज्ञानोदय की व्यंजना करते हुए कहा है कि सूर्योदय होते ही चेतन रूपी चकवा-चकवी का विरह मिट गया, भ्रम रूपी अन्धकार नष्ट हो गया और सर्वत्र आनन्द के कमल खिल गये—

मेरे घट ज्ञान भाव भयो भोर ।
चेतन चकवा चेतन चकवी, भागौ विरह को सोर ।।
फैली चहुँदिशि चतुर भाव रुचि, मिटयौं भरम तम जोर ।
आपनी चोरी आपहि जानत, औरैं कहत न चोर ।।
अमल कमल विकसित भये भूतल, मद विशद शशि कोर ।
आनदघन एक वल्लभ लागत, और न लाख किरोर ।।

(ग) चित्रात्मक रूपक काव्य : संस्कृत आचार्यों ने चित्र काव्य को अधम काव्य की संज्ञा दी है और ध्वनि काव्य को श्रेष्ठ काव्य माना है । पर यहाँ जिस चित्रात्मक रूपक काव्य की चर्चा की जा रही है वह तथाकथित चित्रकाव्य से भिन्न है । यहा 'चित्रकाव्य' का प्रयोग काव्य की विशेष लेखन पद्धति द्वारा निर्मित चित्र के प्रसग में किया जा रहा है । ऐसे चित्र काव्य की सृष्टि वही कर सकता है जिसमे कवि का हृदय हो, चित्रकार का लाघव हो, गणितज्ञ की बुद्धि हो और स्थितप्रज्ञ की तन्मयता हो । ये चित्र सामान्य और रूपकात्मक दो प्रकार के होते हैं। सामान्य चित्र वे होते है जिनमें कवि स्वरचित या किसी प्रसिद्ध कवि की कविताओं—दोहे, सवैये, कवित्त आदि—को इस ढङ्ग से लिखता है कि एक चित्र सा खड़ा हो जाता है । समुद्र बंध, नागपाश बंध, खड्ग बंध, कमल बंध, जाली बंध, चौपड़ बंध आदि का समावेश इनमें किया जा सकता है । तिलोक ऋषि ने इन चित्रों के तत्सामानुकूल भाव वाली कविताओं को इन चित्रो मे चित्रित किया है । समुद्र बंध कृति में ससार को समुद्र के रूप मे उपमित करने वाली कविता का प्रयोग किया गया है जबकि नागपाश बंध में भगवान पार्श्वनाथ के जीवन की उस घटना को अङ्कित किया गया है जिसमें उन्होने कमठ तापस की पचाग्नि से सकट ग्रस्त नागदम्पति का उद्धार किया था ।

रूपकात्मक चित्र काव्यों में कवि की रूपक योजक वृत्ति ही काम

करती है। तिलोक ऋषि के ज्ञान-कुंजर और शील-रथ के रूपकात्मक चित्र अत्यन्त सुन्दर एवं भव्य बन पड़े हैं। 'ज्ञान कुंजर' के द्वारा कवि ने सामान्य बुद्धि के लोगों को जैन-दर्शन का बोध कराया है। विभिन्न तात्त्विक सिद्धान्तों से परिपूर्ण अक्षरों द्वारा हाथी का यह चित्र बड़ा आकर्षक और विशाल बन पड़ा है। चौबीस तीर्थंकरों के नाम लिख कर हाथी की सूंड, गणधरों के नाम लिख कर उसका कान, ज्ञान रूप उसकी आंख, धीरज और धर्म लिख कर उसकी दंतूरें, आगमों के नाम लिख कर उसके पांव, पंच महाव्रतों के नाम लिख कर उस पर चढ़ने की सीढ़ियां आदि बनाई गई हैं। दान, दया रूपी महावत के हाथों में उपदेश और ज्ञान का अंकुश दिया गया है। उसके ऊपर देव, गुरु, धर्म की छत्री है जिसमें सम्यक्त्व की डंडी लगी हुई है। अंबाड़ी को विभिन्न शास्त्रीय गाथाओं से सजाया गया है। अंबाड़ी के ऊपर स्थित मंदिर के दोनों ओर ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप चार स्तंभ हैं। इसके मध्य प्रतिमाधारी मुनि की आकृति है। ऊपर धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान की पताका लहरा रही है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि रूपक काव्यों की सृष्टि कर जैन कवियों ने एक ओर लौकिक सम्बन्धों को लोकोत्तर उदात्त आदर्शों में परिणत किया है तो दूसरी ओर दुख-निवृत्ति का मार्ग बता कर लोक-कल्याण की भावना को प्रश्रय दिया है।

---

२४ | जैन साहित्य में शान्त रस

जैन धर्म और दर्शन का मूल स्वर आत्मा पर पड़े हुए विभिन्न कर्म-पुद्‌गलों का आवरण हटाकर उसे अपने विशुद्ध सहज रूप में देखना है। यही मनोभूमि उसे साहित्य-सृजन की ओर प्रेरित करती है। यही कारण है कि जैन साहित्य में जीवन के विविध पक्षों का निरूपण होते हुए भी उसकी अन्तिम परिणति शांतरसात्मक ही है। विशुद्ध आनन्दानुभूति की अवस्था तभी प्राप्त हो सकती है जब आत्मा अपने प्रकृत स्वभाव में हो, राग-द्वेष की स्थिति से विरत हो, दूसरे शब्दों में शान्त हो, सकल्प-विकल्प से ऊपर उठी हो। यही वह बिन्दु है जहाँ काव्यानद और ब्रह्मानन्द दोनों मिलकर एक हो जाते हैं।

रस शब्द के विभिन्न प्रयोग :

लोक-व्यवहार में रस शब्द चार रूपों में प्रचलित है। (१) पदार्थों का रस-जैन दर्शन मे इसके पाँच प्रकार माने गये हैं—खट्टा, मीठा, कड़वा, कपायला और तिक्त। (२) आयुर्वेद का रस—पारद का रस। (३) साहित्य का रस-काव्यानन्द का रस (४) मोक्ष का रस—आत्मा की विशुद्धावस्था में ब्रह्मानन्द का रस। जैन साहित्यकारों ने काव्य में शान्त रस को प्रमुखता देकर साहित्य के रस को ब्रह्मानन्द के रस-स्तर तक ऊपर उठा दिया है।

शांत रस की प्रमुखता :

संस्कृत आचार्यों ने शृंगार रस को रसराज माना है। भवभूति ने सभी रसों का अन्तर्भाव करुण रस में कर. करुण रस का रस राजत्व सिद्ध किया है। जैन कवि प्रकृत राग-द्वेषों का परिमार्जन कर, अव्यवस्था में

व्यवस्था स्थापित कर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर, राग से विराग की ओर बढ़ने में ही कवि-कर्म की सार्थकता मानते थे। इसीलिए उन्होंने अन्य रसों की तुलना में शांत रस को प्रमुखता दी। रीतिकालीन विलासिता के युग में भी ये कवि बहिर्मुखी वृत्तियों के संकोच और अन्तर्मुखी वृत्तियों के विस्तार द्वारा आत्मा के अनन्त प्रकाश को बिकीर्ण कर शान्त रस में डुबकियाँ लगाते रहे। महाकवि बनारसीदास ने शृंगारी कवियों की भर्त्सना करते हुए कहा है[1]—

ऐसे मूढ़ कु-कवि कुधी, गहैं मृषा पथ दौर।
रहें मगन अभिमान में, कहैं और की और॥
वस्तु सरूप लखैं नहीं, बाहिज दृष्टि प्रमान।
मृषा विलास विलोक के, करें मृषा गुणगान॥

कवि ने शृंगारी कवियों के इस 'मृषा गुणगान' का विश्लेषण इस प्रकार किया है।

मांस की ग्रंथि कुच कंचन कलस कहैं,
कहैं मुखचन्द जो सलेषमा को घरु है।
हाड के दशन आहि हीरा मोती कहे ताहि,
मांस के अधर ओठ कहे बिंबफल है॥
हाड दंभ भुजा कहे, कौल नाल काम जुधा,
हाड ही के थंभा जंघा कहे रंभा तरु है।
यों ही झूठी जुगति बनावैं औ कहावैं कवि,
एते पै कहैं हमें शारदा को वरु है॥

भूधरदास ने स्तनों को दी जाने वाली परम्परागत स्वर्ण-कलशों की उपमा को झुठलाते हुए उसे इस रूप में देखा है—

१—बनारसीदास स्वयं प्रारम्भ में शृंगारी कवि थे, पर बाद में शृंगार रस की सार्थकता न समझकर अपनी शृंगार प्रधान 'नवरस' रचना को गोमती के हवाले कर दिया।

कंचन कुंभन की उपमा, कहि देत उरोजन को कवि वारे।
ऊपर श्याम विलोकत के मनि नीलम ढकनी ढक छारे॥
यो सत बैन कहे न कु-पंडित, ये युग आमिष पिंड उघारे।
साधन भार दई मुंह छार, भये इहि हेत किधौ कुच कारे।

रस सम्बन्धी नवीन दृष्टिकोण:

रस के सम्बन्ध मे इन कवियो की मान्यता रही कि आत्मो-मुख पुरुषार्थ का नाम ही रस है। जब तक आत्मानुभूति नही होती तब तक रस' मयता आ नही सकती। विभाव, अनुभाव, सचारी भाव, जीव के मानसिक, वाचिक और कायिक विकार हैं, स्वभाव नही है। रस का वास्तविक उद्भव इन विकारों के दूर होने पर ही हो सकता है। जब तक ये विकार—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायो के रूप मे—बने रहते हैं तब तक शुभाशुभ प्रवृत्ति मे आत्मा रमण करती है। वह आवरण रहित होकर अपने मूल प्रकृत स्वभाव मे अवस्थित नही होती। शुभ शुभ परिणतियो के विनष्ट होने पर ही आत्म-रस छलकने लगता है। इसीलिए लौकिक समस्त रस यहाँ विरस हैं। बनारसीदास ने रस की लोकोत्तरता को इस प्रकार व्यक्त किया है—

जब सुबोध घट मे परगासै।
नवरस विरस विषमता नासै॥
नवरस लखै एक रस माही।
तातैं विरस भाव मिटि जाही॥

अर्थात् जब हृदय म विवेक—यथार्थज्ञान—का प्रकाश होता है, तब विरसता और विषमता विनष्ट हो जाती ह और निरन्तर आत्मानुभूति होने लगती है। इस अवस्था मे इन्द्रिय-लिप्सा और शारीरिक सुख दूर हो जाती है। दहधर्मिता छूट जाती हैं। रस की यह दशा आनन्द की दशा है, चिदानद स्वरूप है। उपनिषदो मे इसे 'रस सार चिदानन्द प्रकाश' कह कर विश्ले-षित किया गया है। 'जिस प्रकार योगी उस चिदानन्द प्रकाश का अपनी आत्मा में सहज साक्षात्कार करके पूर्णतः तन्मय होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, उसी प्रकार सहृदय भी अपने मानस मे नाटक या काव्य के सौंदर्य का सहज साक्षात्कार करके काव्यानन्द का अनुभव करता है'।

इतना होने पर भी लौकिक रूप में रस का प्रयोग जैन साहित्य में अनेक स्थलों पर हुआ है। 'अभिधान राजेन्द्र कोश' में रस शब्द की विवेचना करते हुए कहा गया है-'रस्यन्ते अन्तरात्मनाऽनुभूयन्ते इति रसास्तत्सहकारिकारणसन्निधानेषु चेतोविकारविशेषेषु रसाः श्रृंगारादयः'। अर्थात् अन्तरात्मा की अनुभूति को रस कहते हैं तथा इसमें सहकारी कारण मिलने पर जो मन में विकार उत्पन्न होता है, वह श्रृंगारादि रूप रस कहलाता है। इसी को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

> बाह्यार्थालम्बनो वस्तुविकारो मानसो भवेत् ।
> स भावः कथ्यते सद्भिः तस्योत्कर्षो रसः स्मृतः ॥

अर्थात् बाह्य वस्तु के आलम्बन से जो मानसिक विकार उत्पन्न होता है, वह भाव कहलाता है और इसी भाव के उत्कर्ष को रस कहा जाता है। जिनसेन ने 'अलंकार-चिन्तामणि' में रस का स्पष्टीकरण यों किया है—

> क्षयोपशमने ज्ञानाऽऽवृत्तिवीर्यान्तिराययोः ।
> इन्द्रियानिन्द्रियैर्जीवे त्विन्द्रियज्ञानमुद्भवेत् ॥
> तेन संवेद्यमानो यो मोहनीयसमुद्भवः ।
> रसाभिव्यंजकः स्थायिभावश्चिद्वृत्तिपर्ययः ॥

अर्थात् ज्ञानावरण और वीर्यान्तिराय के क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह इन्द्रिय ज्ञान है। इस इन्द्रिय ज्ञान के संवेदन के साथ मोहनीय कर्म का उदय होने पर विकृत चैतन्य पर्याय जो कि स्थायी भाव रूप है, रस की अभिव्यक्ति कराती है। यह रस-दशा लौकिक स्तर की रस दशा है। इसे स्वीकारते हुए भी इन कवियों की दृष्टि लोकोत्तर रस दशा पर ही विशेष स्थित रही है।

बनारसीदास ने स्थायी भावों की नवीनतम वैज्ञानिक प्ररूपणा की। परम्परागत स्थायी भावों की स्थिति उन्हें पूर्ण नहीं लगी। उन्होंने श्रृंगार, हास्य, भयानक, करुण और वीर रस के स्थायी भावों को अधिक व्यापकता एवं व्यावहारिकता दी। उनके अनुसार—

> शोभा में श्रृंगार बसे, वीर पुरुषारथ में,
> कोमल हिये में करुणा बखानिये ।

आनन्द में हास्य रुण्ड-मुण्ड में विराजे रुद्र,
बीभत्स तहां, जहां गिलानि मन आनिये।
चिन्ता में भयानक, अथाहता में अद्भुत,
माया की अरुचिता में शांत रस मानिये।
ये ई नव रस भव रूप ये ई भाव रूप,
इनको विलक्षण सुदृष्टि जगे जानिये।।

अर्थात् शृंगार रस का स्थायी भाव शोभा, हास्य रस का आनन्द, करुण रस का कोमलता, रौद्र रस का क्रोध, वीर रस का पुरुषार्थ, भयानक रस का चिन्ता, वीभत्स रस का ग्लानि, अद्भुत रस का आश्चर्य और शांत रस का वैराग्य है।

परम्परागत शृंगार रस के स्थायी भाव रति का स्थानापन्न शोभा-भाव अधिक तर्क संगत है। शोभा में जो व्यापकता और विशालता है वह रति में नहीं। एक ही रति भाव विषयक चित्र को देखने से मुनि, कामुक और चित्रकार के हृदय में एक ही प्रकार की भावना जागृत नहीं होती जब कि शोभा-भाव का सम्बन्ध मानसिक वृत्ति से होने के कारण उसमें चित्त वृत्ति की तल्लीनता सार्वजनीन रूप से देखी जा सकती है। मन, वचन और काया की एकनिष्ठता जब किसी सौन्दर्य विशेष में होती है तभी शृंगार की सही अनुभूति होती है। रति के नाम पर जो उद्दाम वासना की धारा बही, उसका परिहार भी शोभा को शृंगार का स्थायी भाव मान लेने से हो जाता है। क्योंकि यहां कवि का लक्ष्य विभिन्न गुणों से आत्मा का शृंगार करना, उसकी शोभा को बढ़ाना रहता है। प्रकारांतर से इस भाव में उन गुणों की ओर दृष्टि जाती है जिनसे मानवता का विकास होता है।

हास्य रस का स्थायी भाव आनन्द, हास की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिक है। हंसी का आना कई कारणों से हो सकता है। हम किसी की विवशता पर, मूर्खता पर और दयनीय स्थिति पर भी हंस सकते हैं। उसमें एक कटुता या वेदना का अंश निहित रह सकता है। यह हंसी, मुक्त दशा की उन्मुक्त हंसी नहीं हो सकती। आनन्द की अवस्था में जो हंसी फूटती है वह निस्संग और निरपेक्ष होती है। उसमें किसी की विवशता या दुर्बलता का लाभ नहीं उठाया जाता। उसका सम्बन्ध आनन्द से होता है, केवल हास से नहीं। जब तक यह आनन्दानुभूति नहीं होती तब तक हंसी फूट नहीं सकती। आंतरिक आनन्दानुभूति ही हंसी का कारण होती है।

करुण रस का स्थायी भाव कोमलता, परम्परागत शोक भाव की अपेक्षा अधिक युक्ति सगत है। शोक के मूल में चिंता की भावना होती है और चिन्ता से भय पैदा होता है। अतएव एक मात्र शोक की अनुभूति से करुण रस का परिपाक नहीं होता। करुणा का सामान्य अर्थ है दया और दया उसी व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न हो सकती है जिसके अंतस्तल मे कोमलता हो। अतएव कोमलता को करुण रस का स्थायी भाव मानना अधिक वैज्ञानिक है। आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ताओं के अनुसार शोक-भाव में अन्तर्द्वन्द्वजन्य चिन्ता का मिश्रण रहता है जिससे वृत्ति मे करुण रस की उत्पत्ति के लिए उदारता व कोमलता का गुण नहीं आ सकता।

वीर रस का स्थायी भाव पुरुषार्थ, परम्परा से माने जाने वाले उत्साह स्थायी भाव की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। उत्साह मे किसी कारण ने मन्दता आ सकती है पर पुरुषार्थ मे हमेशा आगे बढने की व कुछ कर गुजरने की भावना ही बनी रहती है। पुरुषार्थ वृत्ति, अपने आप में स्वतन्त्र वृत्ति है। वह किसी पर अवलम्बित नहीं है, उसमें कार्य-साधन की तीव्र लगन और अगाध निष्ठा होती है।

भयानक रस का स्थायी भाव चिन्ता मानना भी भय की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत लगता है। क्योंकि किसी भयानक दृश्य को देख या सुनकर भयभीत होने की भावना का जाग्रत होना आवश्यक नही। जब तक चिन्ता उत्पन्न नही होती, तब तक भय भी उत्पन्न नही हो सकता। चिन्ता शब्द भय की अपेक्षा अधिक व्यापक भी है।

इस प्रकार बनारसीदास ने प्रचलित स्थायीभावों के सम्बन्ध मे अपना मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जो अधिक मनोवैज्ञानिक एवं स्वाभाविक प्रतीत होता है।

शान्तरस का रसराजत्व :

जैन साहित्यकारों ने शान्तरस को ही रसराज माना है। इस रस का स्थायीभाव है वैराग्य या शम। तत्वचिन्तन, तप, ध्यान, स्वाध्याय, समाधि आदि विभाव हैं, काम, क्रोध, मान माया, लोभ, मोह का अभाव अनुभाव है, धृति, मति आदि संचारी भाव हैं। सच तो यह है कि जहा देहधर्मिता छूट जाती है, समरसता की स्थिति आ जाती है, वहीं शान्त रस का परिपाक

होता है। शान्त रस का रस राजत्व इसलिए सिद्ध है कि सभी रसों का उद्‌गम भी इसी से होता है और सबका समावेश या विलय भी इसी मे होता है। मानव जीवन की समस्त प्रवृत्तियों का उद्‌गम शान्ति से ही होता है। शान्ति का अनन्त भण्डार आत्मा है, जब यह देह आदि पर पदार्थों से अपने को भिन्न अनुभव करने लगती है तभी शान्त रस की उत्पत्ति होती है। यह अहंकार, राग-द्वेष आदि से परे विशुद्ध ज्ञान और आनन्द की दशा है। रति, उत्साह आदि अन्य मनोदशाओं का आविर्भाव इसी में होता है।

जैन आचार्यों ने वैराग्य-भावना की उत्पत्ति के दो साधन बताये हैं—तत्त्वज्ञान और इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग। इनमे पहला स्थायीभाव है और दूसरा संचारी। यह मान्यता आधुनिक मनोविज्ञान के अनुकूल भी है। राग की बलान्त अवस्था ही वैराग्य है। महाकवि ने भी वैराग्य को राग की अतिशय प्रतिक्रिया माना है। इनके अनुसार तीव्र राग ही क्लान्त होकर वैराग्य मे परिणत हो जाता है। जैन कथा-काव्यों में जितने भी नायक हैं वे सामान्यतः भोग भोग कर ही योग मार्ग की ओर अग्रसर होते हैं। जम्बूस्वामी, स्थूलिभद्र आदि के कथानक इस प्रसंग मे द्रष्टव्य हैं। राग की अतिशयता के ही कारण निर्वेद भावो की उत्पत्ति मानने से जैन साहित्य की शान्त रसात्मक कृतियों मे भी श्रृंगार रस का जमकर वर्णन मिलता है।

'नव रासो' नाम से यहां ऐसे काव्य-रूपों की परम्परा भी चली है जिसमें एक ही नायक के व्यक्तित्व में नवरसों का समाहार किया गया है।

श्री भगवानदास ने 'रस मीमांसा' में शान्त रस का रसराजत्व सिद्ध करते हुए लिखा है, 'इस महारस में अन्य सब रस देख पड़ते हैं, यह सबका समुच्चय है। श्रेष्ठ और प्रेष्ठ अन्तरात्मा परमात्मा का (अपने पर) परम प्रेम, महाकाम, महाश्रृंगार, (अकामः सर्वकामोवा ··· ··· ···), संसार की विडम्बनाओ का उपहास, संसार के महातमस अन्धकार में भटकते हुए दीन जनों के लिए करुणा(संसोरिणां करुणयाऽऽह पुराणगुह्यम्), पटरिपुओं पर क्रोध (क्रोध क्रोधः कथन्नते), इनको परास्त करने, इन्द्रियो की वासनाओ को जीतने, ज्ञान-दान से दीनजनों की सहायता करने के लिए उत्साह (युयोध्यस्मज्जुहराणमेन) अन्तरारि षड्‌रिपु कही असावधान पाकर विवश न कर दें इसका भय (नरः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पंचभिरेव पंच), इन्द्रियों के विषयों पर और हाड़-मांस के शरीर पर जुगुप्सा (मुखं लालाक्लिन्नं पिबति चषकं सासवमिव····

अहो मोहन्वा नां किमिव रमणीयं न भवति), और क्रीड़ात्मक लीला स्वरूप अगाध, अनन्त जगत् का निर्माण विधान कराने वाली परमात्मा की (अपनी ही) शक्ति पर महाविस्मय (त्वेमेवैकोऽस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुव.........।) सभी तो इस रस के अन्तर्भूत हैं।

महाकवि बनारसीदास ने शान्त रस का रसराजत्व सिद्ध करते हुए आत्मा में ही नवों रसो की स्थिति मानी है। श्री भगवान दास ने जिस प्रकार ऊपर शान्त रस को संस्कृत साहित्यके उद्धरणों के साथ रसराज सिद्ध किया है, उसी प्रकार जैन कवि ने आत्मानुभूति एवं तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्म-स्वरूप शान्त रस में सभी रसों का अन्तर्भाव किया है—

गुन विचार सिंगार, वीर उद्यम उदार रुख।
करुना, समरस रीति, हास हिरदै उछाह सुख॥
अष्ट करम दल मलन, रूद्र वरतै तिहि थानक।
तन विलेच्छ वीभच्छ, दुन्द मुख दसा भयानक॥
अद्भुत अनन्त बल चिन्तवन, सान्त सहज वैराग ध्रुव।
नव रस विलास परगास तव, सुबोध घट प्रगट हुव॥

अर्थात् आत्मा को ज्ञान-गुण से विभूषित करने का विचार शृंगार, कर्म-निर्जरा का उद्यम वीर रस, सब जीवों को अपने समान समझना करुण रस, हृदय में उत्साह और सुख का अनुभव करना हास्य रस, अष्ट कर्मों को नष्ट करना रौद्र रस, शरीर की अशुचिता का विचार करना भयानक रस, आत्मा की अनन्त शक्ति को प्राप्त कर विस्मय करना तथा आत्मानुभव में लीन होना शान्त रस है।

शान्त रस के परिपाक मे बनारसीदास ने चार अवस्थाओं का वर्णन किया है। प्रथम अवस्था में विभाव से हट कर स्वभाव रूप प्रवृत्ति होने लगती है। ऐन्द्रियक सुख क्षणिक प्रतीत होता है। यह आत्मदर्शन एवं आत्मशोधन की अवस्था है। द्वितीय अवस्था में आत्मोत्थान में बाधक प्रवृत्तियों को दूर करने का पुरुषार्थ जाग्रत होता है। साधक प्रमाद को दूर हटा कर आत्म-चिन्तन द्वारा आत्मानुभव प्राप्त करने लगता है। इस अवस्था में नवो रसों की अनुभूति होती है। तृतीय अवस्था में कषायादि वासनाओं का पूर्ण अभाव हो जाता है। समस्त बाधाएं दूर हट जाती हैं। आत्मा निर्मल एवं निर्विकार हो

उठती है। चौथी अवस्था केवल ज्ञान प्राप्ति की अवस्था है जहां आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाती है। यहां पूर्ण रस छलकने लगता है। इसे ही संतों ने परम पद की प्राप्ति और ब्रह्म-मिलन की संज्ञा दी है।

जैन आचार्यों ने स्थायी भावों की अवस्थिति मूलत: राग-द्वेष मनोविकारों में मानी है। मानव का अहंकार इन्हीं दोनों रूपों में अभिव्यंजित होता है। रति, हास, उत्साह और विस्मय साधारणत: अहं भाव के उपकारक होने के कारण राग में अन्तर्भूत होते हैं और शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा द्वेष में। जब राग और द्वेष दोनों का परिमार्जन हो जाता है, तब वैराग्य की उत्पत्ति होती है। यह अहंकार की समरसता की अवस्था है, आत्मा इसमें स्वोन्मुखी होकर रमण करती है। यही शांत रस छलकता है।

शान्त रस की अभिव्यक्ति :

शान्त रस की अभिव्यक्ति के लिए जैन कवियों ने एक ओर कथा-काव्यों के रूप में प्रबन्ध काव्यों का प्रणयन किया तो दूसरी ओर स्वतन्त्र रूप से कई रूपकात्मक काव्य लिखे। कभी लौकिक पर्व और त्यौहारों को आध्यात्मिक रूप दिया, कभी बारहमासा और पखवाड़ा वर्णन में विभिन्न महीनों और तिथियों के द्वारा चेतन आत्मा को साधना में प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी, कभी 'कका बावनी' आदि लिख कर प्रत्येक वर्ण को आध्यात्मिक जागरण का उत्प्रेरक बताया। बुरी समझी जाने वाली कषायादि प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण कर और प्रकृति के श्रृंगारिक उपादानों को सात्विक भावों के प्रतीक बना कर भी इन कवियों ने शान्त रस की सृष्टि की।

जैन साहित्य में शान्त रस की प्रमुखता देख कर कुछ लोग इसे वर्तमान जीवन के लिए उपयोगी नहीं मानते और सामाजिक-हित में उसे बाधक समझते हैं। ऐसे लोगों द्वारा आक्षेप लगाये जाते हैं कि शांत रसात्मक यह साहित्य जीवन से पलायन करने की प्रेरणा देता है। इसे पढ़ कर संसार से भागने की इच्छा होती है। वह हमें सामाजिक दायित्व से वंचित रखता है और वर्तमान जीवन की उपेक्षा करता है। सामान्य पाठक के मन में भले ही कभी ऐसे विचार उठें परन्तु प्रबुद्ध पाठक तो इस साहित्य की मानवीय संवेदना और विश्वबन्धुत्व की भावना से ही उत्प्रेरित होगा। यहां के नायक स्वार्थ-सिद्धि के लिए नहीं वरन् मानवता को उबारने के लिए संन्यस्त होते हैं। पुनर्जन्म

और कर्म-सिद्धान्त के विवेचन में जो कहानियां आई हैं उनमें वर्तमान जीवन की यात्राओं का ही वर्णन नहीं है वरन् आत्मा की पूरी जीवन-कथा वर्णित है। आत्मा को शरीर से विलग किन-किन योनियों में किस-किस प्रकार जीवन-यापन करना पड़ा, इसका भी विवरण यहां मिलता है। इन कहानियों की दृष्टि वर्तमान जीवन को उपेक्षित करने की नहीं है वरन् इसी जीवन द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की भावना है। इसी कारण आत्मा-लोचन या आत्म-निरीक्षण के रूप में भूतकालीन घटनाओं को प्रस्तुत किया जाता है। यहां भूतकाल को वर्तमान जीवन के दुख-सुख की व्याख्या करने और कारण निर्देश के लिए ही लाया जाता है।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि शान्त रस की प्रमुखता जीवन को निराशा की ओर ले जाती है और व्यक्ति को अकर्मण्य बनाती है। पर यह कथन भी भ्रांतिमूलक है। आत्मा को सर्वोत्तम विकास करने की जितनी सुविधा और अवसर जैन-दर्शन ने प्रदान किये हैं, उन्हें देखते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि वहां नैराश्यमय जीवन को प्ररूपित किया गया है? सच तो यह है कि जीवन में आशा, उत्साह और पुरुषार्थ का आलोक बिखेरा है जैन साहित्य की लोक संग्रह प्रवृत्ति ने। करुणा, सहानुभूति, अहिंसा, विश्व-बन्धुत्व आदि भावनाओं का विस्तार कर जैन साहित्यकारों ने न केवल व्यक्ति को कर्मण्य बनाया है वरन् दूसरों के लिए जीने की सार्थकता भी प्रतिपादित की है। आत्मा को ईश्वरत्व की स्थिति तक पहुंचाने की क्रमबद्ध साधनामय जीवन-पद्धति को महत्त्व देकर जैन साहित्यकारों ने अपने नायकों को अपनी सम्पूर्ण चेतना के साथ अपने समस्त बाहरी-भीतरी शत्रुओं से मुकाबला करने को सदैव जागरूक रखा है। उन्हें किसी की अपेक्षा नहीं है, वे स्वाश्रयी व स्वावलम्बी हैं। व्यक्तित्व के विकास और महत्त्व की औदार्यपूर्ण गरिमा जैन साहित्यकारों ने प्रस्तुत की है।

जो नारी साधना के क्षेत्र में बाधक समझी जाती रही, उसे परमपद का अधिकारी बनाया। उसके शक्ति रूप और सतीत्व की विवेचना कर नारी को त्याग, श्रद्धा और सेवा की सजीव प्रतिमा के रूप मे देखा। आधुनिक युग में 'प्रियप्रवास', 'कामायनी' जैसे महाकाव्यों का अन्त शान्त रसात्मक बन पड़ा है, पर वे जीवन को अकर्मण्य, निराश या हेय नहीं घोषित करते। इनके मूल में लोक-कल्याण व स्वार्थ-त्याग की भावना ही रही है। राधा, उर्मिला आदि परम्परागत नारी पात्रों के चरित्र में जिस दृष्टि-बिन्दु से नया परिवर्तन आया है, जैन साहित्य का 'एप्रोच' उससे भिन्न नहीं है।

——

२५ | जैन काव्य में महावीर[1]

आज से लगभग अढाई हजार वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को वर्द्धमान महावीर का जन्म हुआ। वे इस युग के अन्तिम तीर्थङ्कर थे। उन्होंने संसार समुद्र से भव्य जीवों को तारने के लिए तीर्थ की स्थापना कर धर्म चक्र प्रवर्त्तन का कार्य किया। साधु–साध्वी, श्रावक और श्राविका के रूप में चतुर्विध संघ की स्थापना कर उन्होंने प्राणी मात्र के आत्मोत्थान के लिए धर्म का सही स्वरूप प्रस्तुत किया। उन तक आते आते वैदिक संस्कृति का जो निर्मल और लोककल्याणकारी रूप था, वह विकारग्रस्त होकर चन्द व्यक्तियों की ही सम्पत्ति बन गया। धर्म के नाम पर कर्मकांड बढ़ा। यज्ञ के नाम पर मूक पशुओं की बलि दी जाने लगी। अश्वमेध ही नहीं नरमेध भी होने लगे। वर्णाश्रम व्यवस्था में कई विकृतियां आ गई। स्त्री तथा शूद्र अधम और नीच समझे जाने लगे। उनको आत्मचिन्तन और सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने का कोई अधिकार न रहा। त्यागी तपस्वी कहे जाने वाले महात्मा लाखों करोड़ों की सम्पत्ति के मालिक बन बैठे। एक प्रकार का सांस्कृतिक संकट उत्पन्न हो गया। इससे मानवता को उबारना आवश्यक था।

वर्द्धमान महावीर ने एक संवेदनशील व्यक्ति की भांति इस गम्भीर स्थिति का अनुभव किया। यद्यपि वे राजकुमार थे। भौतिक ऐश्वर्य उनके चरणों में लौटता था तथापि राजपाट को ठोकर मारकर वे विरक्त बन गये। बारह वर्षों की कठोर साधना के बाद वे मानवता को इस संकट से उबारने के

---

१. आकाशवाणी, जयपुर के सौजन्य से

लिये ज्ञान का प्रकाश ले आये । उन्होंने घोषणा की, "सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता । इसलिये तुम अपने आपको जितना प्यार करते हो उतना ही प्यार दूसरे जीवों को करो । आवश्यकता से अधिक धन संग्रह मत करो । अधिक संग्रह करना दूसरों के हक को छीनना है । जन्म से कोई ऊंचा और नीचा नहीं है । व्यक्ति को ऊंचा या नीचा उसके कर्म बनाते हैं । हम स्वय ही अपने भाग्य का निर्माण और विकास करने वाले हैं, ईश्वर नहीं । किसी बात को, सिद्धान्त को एक तरफ से मत देखो, एक ही तरह उस पर विचार मत करो । तुम जो कहते हो, वह सच होगा पर दूसरे जो कहते हैं वह भी सच हो सकता है । इसलिये सुनते ही भड़को मत, वक्ता के दृष्टिकोण से विचार करो ।"

महावीर की इस वाणी ने देववाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की मान्यता को संपुष्ट किया । असह्य और निर्बल समझी जाने वाली जनता को आत्म जागृति का सदेश दिया और सर्व जाति समभाव, सर्व धर्म समभाव और सर्व जीव समभाव का लोकहितवादी संदेश जन–जन के मानस में ला उतारा ।

जैन काव्य में महावीर का यह लोकोपकारक व्यक्तित्व कई रूपों में प्रकट हुआ । महावीर ने जिस भाषा में उपदेश दिया वह लोक प्रचलित अर्ध मागधी थी । पीछे से गणधरों ने उसका संकलन किया । संकलित ग्रंथ आगम कहलाये । इन आगमों मे स्थान–स्थान पर महावीर के विविध जीवन–प्रसगों और दार्शनिक सिद्धान्तों का वर्णन है । सूयगडांग सूत्र के छठे अध्याय में महावीर की स्तुति करते हुए कहा गया है कि वे महा ऋषिश्वर, सब जीवों के दुख को जानने वाले, अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन के धारक, महायशवन्त, आंखो की तरह सबको आधारभूत, महाधैर्य के धारक, सत्य धर्म के परिपोषक थे । भगवती सूत्र में इनके पट्ट शिष्य गौतम गणधर द्वारा पूछे गये कई तात्त्विक प्रश्नों के उत्तर हैं । ज्ञाताधर्मकथांग में महावीर के जीवन से संबद्ध धर्म कथाएं हैं और उपासकदशांग सूत्र में महावीर के प्रमुख दस उपासकों की जीवन–गाथा वर्णित है ।

हेमचन्द्र विरचित संस्कृत ग्रंथ त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र में ६३ महापुरुषों मे महावीर की गणना कर उनकी गुण गाथा गाई गयी है । अपभ्रंश के महान कवि पुष्पदंत ने अपने ग्रंथ महापुराण के तृतीय खंड मे महावीर

जी की जीवनगाथा को निरुपित किया है। महावीर से सम्बन्धित अपभ्रंश के खण्ड काव्यों में रयधूकृत 'सन्मतिनाथ चरित', नरसेनकृत 'वर्द्धमान कथा' और जयमित्र हल्ल कृत 'वर्द्धमान चरित' महत्त्वपूर्ण हैं।

अपभ्रंश से विकसित होने वाली विभिन्न देशी भाषाओं में महावीर के चरित्र को लेकर कई काव्य रूप निर्मित हुए। सज्झाय, चौढालिया, छढ़ालिया स्तवन, स्तोत्र, स्तुति, वेलि, अष्टक, चौबीसी, बत्तीसी, छत्तीसी, बहोत्तरी आदि इसी प्रकार के काव्य है। इन काव्यों में महावीर के जीवन के विशिष्ट प्रसंगों को वर्ण्य-विषय बनाया गया है। यह स्मरणीय है कि मध्य युग के इन कवियों को नेमिनाथ और राजुल के प्रसंगों में प्रेम और विरह के वर्णन के लिए उचित स्थल मिल गया। फलस्वरूप कई बारहमासा, फागु और रास संज्ञक काव्य सामने आए। महावीर के जीवन में ऐसा कोई शृङ्गारमूलक प्रसंग नहीं उपस्थित हुआ। वे धीरोदात्त नायक के रूप में ही चित्रित हुए। उनकी वीतरागता, महावीरता और लोकसंग्रह भावना पर ही कवियों की दृष्टि गई।

राम के संबंध में जैसी निर्गुण और सगुण की भावना रही है वैसी महावीर के सम्बन्ध मे नहीं। पंच कल्याणक स्तुतियों में महावीर के गर्भ धारण, जन्म-संस्कार, तप-साधना, ज्ञानार्जन और निर्वाण प्राप्ति का गुण-कीर्तन सगुण ब्रह्म के रूप में किया गया है। पर आयु कर्म के क्षीण होने पर जब वे सिद्ध बन गए तब उनका न कोई रंग रहा और न रूप। वे गंध, रस, शब्द और स्पर्श से रहित बन गए। जन्म और मरण के बंधन से छूट गए। यह सिद्ध स्वरूप निर्गुण ब्रह्म का ही रूप है। महावीर तीर्थङ्कर और सिद्ध दोनों ही रूपों में एक साथ वर्णित रहे हैं। सकलचन्द्र उपाध्याय ने 'वर्द्धमान जिन-वेलि' में तथा ज्ञान उद्योत ने 'वीर जिन चरित्र वेलि' में तीर्थङ्कर महावीर के इन्हीं पंचकल्याणक महोत्सवों को अपना वर्ण्य-विषय बनाया है।

महावीर को कवियों ने अपने आराध्य के रूप में स्वीकार कर उनकी भक्त वत्सलता, पतित पावनता और उदारता का तन्मय होकर वर्णन किया है। कवि दौलतराम के शब्दों में-महावीर ने चन्दना को बेड़ियों से मुक्त किया, मेघकुमार को प्रबोध दे सन्मार्ग में स्थिर रखा, दृष्टिविष सर्प चंडकौशिक का उद्धार किया। वे धर्म सभा में आते हुए मेंढक को जो श्रेणिक के हाथी के पैरों से दब कर मर गया था, पाप रहित कर स्वर्ग में प्रतिष्ठापित करने वाले हुए।

सचमुच उनका व्यक्तित्व अद्भुत चन्द्र का व्यक्तित्व है। कर्मावरण मेघों से वह अवरोधित नहीं होता वरन् मोक्ष मार्ग का बोध कराने वाला है। मुनि गणधर रूपी तारे सदा ही उसकी सेवा मे लीन रहते हैं। वह कभी क्षीण नहीं होता। वहा नित प्रति पूर्णिमा का प्रकाश छाया रहता है। ऐसा यह अद्भुत चन्द्र वन्दनीय है—

कर्मावरण पयोद अरोकित
बोधित शिवमगचारी।
गणधरादि मुनि उडुगन सेवत
नित पूनम तिलधारी।
वन्दौ अद्भुत चन्द्र वीर जिन
भवि चकोर चितहारी॥

द्यानतराय ने भगवान महावीर को भक्ति मे आरती की रचना करते हुए कहा है कि वे मनुष्यो को तारने मे भी वैसे ही पटु हैं जैसे कि अन्य कर्मो का विदीर्ण करने में। वे शीलवानो मे सर्वोत्कृष्ट हैं और शिवतिय का भोग करने वाले है। वे मन, वचन और काय से योगी है—

—शील धुरधर शिवतिय भोगी,
मन वच कायनि कहिये योगी।
करौ आरती वर्द्धमान की
पावापुर निरवान थान की॥

महावीर के जितेन्द्रिय रूप का वर्णन बडा आकर्षक है। वे शारीरिक बल के ही धनी नही थे। उनमे आत्म-बल की प्रधानता थी। वे आत्म विजेता थे। उनके साथ सयम की अपार सेना थी, मोह रूपी नृप को पराजित कर उन्होंने मुक्ति के राज्य को प्राप्त किया था। जैन दिवाकर प्रसिद्ध कवि चौथमलजी ने महावीर के इस तपस्वी रूप की बडी ही हृदयग्राही झाकी उतारी है—

मारा प्रभुजी ज्ञान घोडा पै चढिया,
लिनी है तप की तलवार।

आधुनिक युग मे आकर महावीर के सिद्धान्तो को अधिक, व्यापकता

मिली। वे विज्ञान की कसौटी पर खरे उतरे। उनमें अहिंसक समाज की नव रचना के मूल आधार नजर आए और वे समाजवादी जनतांत्रिक शासनपद्धति के अनुकूल भी लगे। अतः महावीर का जीवन और दर्शन आधुनिक कवियों के लिए भी प्रेरणादायी सिद्ध हुआ। श्री अनूपशर्मा ने अपने 'वर्धमान' महाकाव्य में महावीर के सम्पूर्ण जीवन को चित्रित किया है। श्री धन्यकुमार जैन 'सुधेश' ने 'विराग' नामक खण्ड काव्य में महावीर के विरक्त जीवन-प्रसग को उद्घाटित किया और श्री वीरेन्द्रप्रसाद जैन ने 'तीर्थङ्कर भगवान महावीर' में महावीर के धर्म चक्रवर्तित्व के आगे भौतिक चक्रवर्तित्व को तुच्छ ठहराया—

धर्म चक्री ये बनेंगे तीर्थ के कर्तार।
ये विचक्षण व्यक्ति जग में, शान्ति के आगार।

युद्ध के कगारे पर खड़ी मानवता को आज भी महावीर के उसी अमर संदेश की आवश्यकता है जो आज से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व देश-देशान्तरों मे व्याप्त हुआ था—

यही है महावीर सन्देश।
मनुज मात्र को तुम अपनाओ,
हर सबके दुख क्लेश।
असद्भाव रक्खो न किसी से,
हो अरि क्यों न विशेष।
घृणा पाप से हो,
पापी से नहीं कभी लवलेश।
भूल सुझा कर प्रेम मार्ग से
करो उसे पुण्येश।
यह है महावीर सन्देश।

२६ | कबीर और बनारसीदास

हिन्दी कविता की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि उसके मूल मे विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की देन रही है। जैनेतर सम्प्रदायों की ऐतिहासिक एवं साहित्यिक उपलब्धियों का मूल्यांकन तो हिन्दी-समालोचकों की लेखनी से बराबर होता रहा है पर जैन सम्प्रदायों[1] की साहित्यिक उपलब्धियों की सांगोपांग आलोचना एवं गवेषणा बहुत कम हो पाई है। हिन्दी का आदिकाल एवं मध्यकाल (भक्तिकाल) जैन-कवियों से बराबर खाद पाता रहा है। आवश्यकता है उसके मूल रूप को पहचान कर मूल्यांकन करने की। कभी-कभी ऐसा लगता है कि जैन-भक्ति-दर्शन ने हिन्दी के भक्त-कवियों को एक सीमा तक प्रभावित किया है। यों कहा जा सकता है कि निर्गुण-सम्प्रदाय और कतिपय जैन-सम्प्रदाय वैचारिक धरातल पर साथ-साथ चले हैं। हमारे आलोच्य कवि बनारसीदास इस दृष्टि से अध्ययन करने योग्य हैं।

कबीर का समय पन्द्रहवीं शती है और बनारसीदास का सत्रहवीं। पर दोनों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को सामान्य भाव-भूमि पर उतारा जा सकता है। कबीर जाति से जुलाहा होकर भी न हिन्दू हैं न मुसलमान।[2] बनारसीदास भी जैन होकर भी न श्वेताम्बर है न दिगम्बर[3]। दोनों स्वभाव से फक्कड़,

---

१--दिगम्बर सम्प्रदायः--बीसपंथी, तेरहपंथी, तारणपंथी। श्वेताम्बर सम्प्रदाय :-- मूर्तिपूजक (मन्दिर मार्गी), स्थानकवासी, तेरापंथी।

२--डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी--कबीर : प्रस्तावना, पृ० ६।

३--नाथूराम प्रेमी--अर्धकथानक : भूमिका, पृ० ३८।

मस्तमौला और भावुक हैं। दोनों ने जीवन जीया है, अनेक उतार-चढाव देखे हैं, सामाजिक वैषम्य, कृत्रिम भेद-भाव और धार्मिक पाखण्ड के प्रति आक्रोश और विरोध प्रकट किया है। गार्हस्थिक सकट को झेला है। एक ने दो-दो विवाह कर 'उपजे पूत कमाल' की आहे भरी तो दूसरा तीन तीन विवाह करके भी निस्सन्तान रहा।[1] एक को तत्कालीन बादशाह सिकन्दर लोदी ने डराया, धमकाया, कष्ट पहुँचाया तो दूसरा चोर-डाकुओ की बस्ती मे ब्राह्मण बन कर प्राण बचाता रहा। एक वस्त्र बुन-बुन कर समाज की नग्नता को ढाकता रहा पर समाज ने उसके जीवन काल मे उसे सम्मान नहीं दिया, दूसरा व्यापार के नाम पर घर फूक तमाशा देखता रहा फिर भी जीवन-काल में उसे प्रतिष्ठा मिली। वह अकबर बादशाह का प्रशसक था,[2] जहागीर को सलाम करता था[3] और शाहजहा के साथ शतरज खेला करता था। यौवन मे मत-वाला था, रसिया था, छलिया था तो भावना मे बावरा था—इतना अधिक कि धार्मिकता की धुन मे वर्षो के परिश्रम मे रचित अपना 'नवरस ग्रथ', (जिसमे एक हजार पद थे, विशेष कर शृगार रस से सबधित) गोमती नदी के हवाले कर आया।

कबीर मर कर अमर हो गया। वह सत था, कवि था, समाज-सुधारक था और सबसे बढकर था विचारक। बनारसीदास भी कवि था, सुधारक था, व्यवसायी था और सबसे बढकर था हसोड, अपनी ही कमजोरियो पर हसने वाला।

दोनों कवियों की अपनी २ सीमाएँ और विशेषताएँ हैं। कबीर मे वैविध्य कम पर अनुभूति की गहराई अधिक है। ईश्वर को साक्षीभूत बना कर 'साखिया' कही हैं, दर्शन को राग का विषय बनाकर पद गाये है। बना-रसीदास मे वैविध्य और विस्तार अधिक है। यह वैविध्य वस्तु तक ही सीमित नहीं रहा वह छन्दगत भी है। कभी उन्होंने पच महाव्रतों का स्वरूप

१—नौ बालक हुए मुए, रहे नारि नर दोइ।
ज्यों तरवर पतझार है, रहैं ठूठ से होइ।

२—बादशाह की मृत्यु का समाचार सुन कर दुख के मारे ये बैठे २ ही गिर पडे।

३—'ज्ञानी बादशाह ताको मेरी तसलीम है।'

प्रतिपादित किया है तो कभी नवतत्त्वों (जीव, अजीव पुण्य, पाप, आश्रव संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष) का निरूपण। कभी 'कर्म-छत्तीसी' लिखी है तो कभी 'ध्यान बत्तीसी'। कभी 'जिनसहस्रनाम', 'सूक्त मुक्तावली' और कल्याण मंदिर स्तोत्र' का अनुवाद किया है तो कभी अमृतचंद्राचार्य विरचित समयसार' कलश को इस प्रकार भाषानुवादित किया है कि वह उनका अपना बन गया है। कबीर में अनुवादक की प्रतिभा नहीं थी, उसे इसकी आवश्यकता भी नहीं थी, वह तो आचार और विचार दोनों में मौलिक था, क्रांतिकारी था।

कबीर और बनारसीदास दोनों कवि होने के साथ-साथ समाज-नेता भी हैं। दोनों ने बाह्य क्रियाकांड का जबरदस्त विरोध कर[1] मन की पवित्रता-आत्मोपासना-पर बल दिया है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता के स्वर दोनों ने निनादित किये हैं। एक ने दोनों (हिन्दू-मुसलमान) का सर्जक एक ही बताते हुए कहा है—

> कहैं कबीर एक राम जपहु रे, हिन्दू तुरक न कोई।
> हिन्दू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई॥

तो दूसरे ने मनकी द्विधाको 'द्वैत' का कारण माना है—

> एक रूप हिन्दू तुरुक, दूजी दशा न कोय।
> मन की द्विविधा मानकर, भये एक सों दोय॥

यों राम-रहीम सबके घट-घट में व्याप्त है।[2]

दोनों रहस्यवादी कवि हैं। कबीर ने 'पिण्ड में ब्रह्मांड' की कल्पना की है तो बनारसीदास ने 'आत्मा सो परमात्मा' का विश्वास प्रकट किया है। दोनों की दृष्टि वैयक्तिक अधिक रही है पर वह लोक-भावना की विरोधिनी

१—साधु भया तो क्या भाला पहिरी चारि।
बाहर भेष बनाइया भीतर भरी भंगारि—कबीर
जो घर त्याग कहावै जोगी, घरवासी को कहै जो भोगी।
अंतर भाव न परखै जोई, गोरख बोलै मूरख सोई॥—बनारसी

२—तेरा साहब है घर मांही, बाहर नैना क्यों खोले—कबीर
मेरे नैनन देखिए, घट-घट अन्तर राम—बनारसीदास

नहीं है। रहस्यवाद की विभिन्न अवस्थाओं का क्रम दोनों में है। दोनों आरम्भ में जागरूक हैं। कबीर के सतगुरु ने शब्द-बाण फेंक कर कबीर को प्रेमाहत कर दिया है तो बनारसीदास भी कहते हैं 'सतगुरु उपदेश तैं संशय वेग विलाय।' दोनों को विश्वास है कि प्रियतम से भेंट होगी। पर उसके पूर्व आत्मा का परिष्कार करना होगा। आत्मा पर कई मलिन परतें हैं। कबीर ने 'माया' कहकर उनका वर्णन किया है तो बनारसीदास ने 'कर्म-रज' कहकर। जीव, शिव बन सकता है यदि वह समझले कि यह संसार अन्धा है, निस्सार है, नश्वर है[1] और ब्रह्म से मिलन तभी होगा जब 'दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट' (कबीर)। बनारसीदास ने इसे यों व्यक्त किया है—

> सुमति कर्म तैं शिव सधै, और उपाय न कोय।
> शिव स्वरूप परकाश सौं, आवागमन न होय॥

दोनों का उपास्य पुरुष है। ऐसा पुरुष जो निर्गुण है, निराकार है, अजन्मा है—जिसे न प्यास लगती है, न भूख[2]। यह पुरुष भक्त के अन्तराल में प्रतिष्ठित है। जायसी की भांति इन दोनों कवियों ने अपने उपास्य को दृष्टि के

१—यह जग अंधा मैं केहि समुझावौं।
पानी के घोड़ा पवन असवरवा,
ढरकि परै जस ओस के बुंदा— कबीर
यह संसार असार रूप सब, ज्यों पट पेखन खेला।
सुख संपति शरीर जल बुद्बुद, विनशत नांही बेला।
—बनारसी

२—ना तिस सबद न स्वाद न सोहा।
ना तिहि मात पिता नहिं मोहा॥
ना तिहि सास ससुर नहिं सारा।
ना तिहि रोज न रोवन हारा॥ —कबीर
जो न छुधित न तृषित न भयाकुल इन्द्री विषय न बेव।
जनम न होय जरा नहिं व्यापै, मिटी मरन की टेव॥
जाकै नहिं विषाद नहिं विस्मय, नहिं आठों अहमेव।
राग विराग मोह नहिं जाकै नहिं निद्रा पर सेव॥
—बनारसीदास

कण-कण में प्रतिबिम्बित नहीं देखा है। वह तटस्थ है, वीतराग है। उसे भावना से अपना बनाया जा सकता है। उसमें घुल मिलकर 'सोऽहम्' की स्थिति प्राप्त की जा सकती है। एकमेक होने की यह क्रिया ही साधना है। कबीर ने प्रेम और वैराग्य को महत्त्व देने के साथ-साथ यौगिक क्रियाओं का भी (हठ-योग साधना) विवेचन किया है। बनारसीदास ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को अपनी साधना का मूल माना है। शरीर में स्थित षट्चक्र भेदन की प्रक्रिया के स्थान पर उन्होंने चौदह गुणस्थानों को आत्मा का विकासमापक माना है।

प्रियतम से मिलने के पूर्व आत्मा की स्थिति का, उसकी विरह विदग्धता का, लज्जा और सकोचशीलता का दोनों ही कवियों ने वर्णन किया है। कबीर के वर्णन में प्रत्यक्षानुभूति है जबकि बनारसीदास में केवल विश्वस्तता। कबीर की आत्मा ही विरहिणी है। राम रटते-रटते उसकी जीभ में छाले पड़ गये हैं, पंथ निहारते-निहारते उसकी आंखों में झांई पड़ गई है। उसने अपने शरीर को जलाकर 'मसि' बना दिया है, हड्डियों की लेखनी बनादी है और राम का नाम लिखा है, उसे संदेशा भेजा है। पर उसका दुख इतना अधिक है कि "कै हरि आयां भाजिसी कै हरि ही पासि गयां"। बनारसीदासजी की आत्मा भी वियोगिनी है पर उसमें यह भावुकता नहीं, विदग्धता नहीं। वह बार-बार एक ही बात कहती है 'मेरा मनका प्यारा जो मिलै' क्योंकि वह 'विरहिन पिय के आधीन' और 'यों तलफै ज्यों जल बिन मीन'। उसमें आकुलता की अपेक्षा आतुरता अधिक है, विरह-व्यथा को सहन करने की क्षमता कम और मिलन की उत्कण्ठा अधिक है। वह जिधर देखती है उसे 'पिय की उनहार' ही दिखाई देती है। वह बिना प्रतीक्षा किये ही अभिलाषा प्रकट करती है—'होहुँ मगन मैं दरशन पाय, ज्यों दरिया मे बूंद समाय।' कबीर की आत्मा का धैर्य बनारसीदास में नहीं है। वह चटपट सम्बन्ध स्थापित कर लेती है—

> प्रिय सुखसागर मैं सुखसींव, पिय शिव मन्दिर में शिवनींव।
> पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम, पिय माधव मो कमला नाम।
> पिय शङ्कर मैं देवि भवानि, पिय जिनवर मैं केवल वानि।
> पिय भोगी मैं भुक्ति विशेष, पिय जोगी मै मुद्रा भेष॥

कबीर इस तरह का सम्बन्ध तो नहीं जोड़ पाते, पर ब्रह्म-मिलन की

जो आनन्दाभिव्यक्ति उनके स्वरों से होती है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। उनके हृदय का कमल प्रकाशित होगया है, ब्रह्म उसमें विराजमान है। मन का भँवरा लुब्ध होकर चारों ओर मंडरा रहा है। अनहद नाद और अमृत-वर्षण का तो क्या कहना! ब्रह्म का अनन्त तेज मानों शतसूर्य श्रेणियां उदित हो गई हों—'कबीर तेज अनन्त का मानों ऊगी सूरज श्रेणि'। बनारसीदास भी 'भूर समान उदोत है, जग तेज प्रताप घनेरा' कहकर अपने उपास्य का वर्णन करते हैं। मिलन का आवेग और औत्सुक्य बनारसीदास में अधिक है। मिलन-स्थल पर उनकी नवोढ़ा अपने आपको संभाल नहीं पाती, वह बेशर्म हो जाती है—

> बालम तुहुं तन चितवन गागरि फूटि।
> अंचरा गौ फहराय, सरम गै छूटि॥

जबकि कबीर की दुल्हिन में सयम है, मर्यादा है, उसे इस बात का मान है कि 'हमारे घर आये राजा राम भरतार'। विरह की जलन और तड़पन कबीर में अधिक है। उसे जलते देख 'जल-हरि' भी जलने लगती है। कोई क्या करे? अभिव्यक्ति की कसौटी पर दोनों कवि खरे उतरते हैं। कबीर वाणी के डिक्टेटर हैं। उनकी रहस्याभिव्यक्ति तीन रूपों में प्रकट हुई है। उन्होंने पारिभाषिक शब्दों (सुरति, निरति, शब्द, खसम, निरञ्जन, चक्र, कमल) का खुलकर प्रयोग किया है। संख्यावाचक सांकेतिक शब्दों द्वारा भाव प्रकट किये हैं और उलटबासियों के रूप में आश्चर्यजनक बातें कही हैं। आलोचकों ने उनकी भाषा को 'सधुक्कड़ी' और 'संध्या' भाषा कहा है। बनारसीदास पढ़े लिखे थे। नियमित रूप से अध्ययन किया था। उन्होंने 'अर्धकथानक' की भाषा को मध्यदेश की बोली कहा है। 'मध्यदेश की बोली बोलि, गरभित बात कहौ हिय खोलि।' उनकी भाषा में पांडित्य है, प्रौढ़ता है, अलङ्करण और प्रवाह है। पारिभाषिक शब्दों (पुद्गल, कर्म, प्रतिक्रमण, सामायिक, बन्ध, निर्जरा) का प्रयोग इन्होंने भी किया है। पर उलटबाँसियाँ यहां देखने को नहीं मिलती, न संख्यावाचक सांकेतिक शब्दों का ही व्यवहार हुआ है। रूपक लिखने में दोनों कवि पटु हैं। दोनों की रूपक-सृष्टि सामान्य लोक-जीवन पर आधारित है। भाषा की आनुप्रासिकता, सामासिकता और प्रौढ़ता बनारसीदास में देखने को मिलती है तो भाषा की अक्खड़ता, विस्फोटकता और प्रखरता कबीर में।

संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि कबीर और बनारसीदास दोनों ही

हिन्दी साहित्य के गौरव हैं। एक कबीर पंथ का प्रवर्तक है तो दूसरा अध्यात्म मत (तेरापंथ) का प्रतिष्ठापक। एक में अनुभूति की गहराई है तो दूसरे में अध्ययन का विश्वास। एक में विरह की तीव्रता है तो दूसरे में मिलन की उत्कंठा। एक समाज की विकृतियों पर हँसा है तो दूसरा अपने ही जीवन की असङ्गतियों पर। एक का अहं बार-बार उभरा है तो दूसरे का अहं बार-बार गला है। एक उग्र होकर भी सरस है तो दूसरा मधुर होकर भी विरक्त। एक काशी का जुलाहा कबीर है तो दूसरा जौनपुर का व्यवसायी बनारसी। दोनों ही अभिनन्दनीय हैं।

---

२७ उपासकदशांग सूत्र में सांस्कृतिक जीवन की झांकी

उपासकदशाङ्ग सूत्र जैन आगमों में सातवां अंग सूत्र[1] माना जाता है। इस सूत्र मे भगवान महावीर के प्रमुख दस श्रावकों–आनन्द, कामदेव चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक, सद्दालपुत्त, महाशतक, नन्दिनीपिता, सोलिहिपिता–का जीवनवृत्तान्त वर्णित है। इस सूत्र का जब हम मननपूर्वक अध्ययन करते है तब ढाई हजार वर्ष पूर्व की सांस्कृतिक चेतना हमारे सामने साकार हो उठती है। हमारा स्वर्णिम अतीत शत्–शत् मुखों से आत्मगायन करता दृष्टिगत होता है। श्रावकों की जीवन-झांकी में तत्कालीन लोकरुचि रमण करती हुई, युगीन शिल्पकला मुस्कराती हुई, सामाजिक ऐश्वर्य उभरता हुआ और वैयक्तिक साधना इठलाती हुई प्रतीत होती है। उस समय का सांस्कृतिक जीवन आकाश के आदर्श को एक ओर अपने में समेटे हुए था तो दूसरी ओर धरती की धड़कन को अवलम्बन दिये हुए था। उस समय का सांस्कृतिक जागरण न निरा प्रवृत्तिमूलक था न निरा निवृत्तिमूलक, न कोरा भौतिकवादी था न केवल आध्यात्मवादी। प्रत्युत उस समय के सांस्कृतिक जीवन में भौतिकता और आध्यात्मिकता, प्रवृत्ति और निवृत्ति, आदर्श और यथार्थ दोनों का समपात संतुलन एवं सुखद समन्वय था। जब हम तत्कालीन जन–जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण और निकटता के साथ स्पर्श करते हैं तो हमें निम्नलिखित सांस्कृतिक विशेषताओं का पता चलता है।

---

१. अंग सूत्र ग्यारह माने गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं— आचारांग, सूयगडांग, ठाणांग, समवायांग, विवाहपण्णत्ति, ज्ञाता धर्म कथा, उपासकदसांग, अंतगडदसांग, अणुत्तरोववाई, प्रश्न व्याकरण, विपाक सूत्र।

नगर-निर्माण कला—उस समय का कला-कौशल उन्नति की चरम-सीमा पर पहुँचा हुआ था। नगर व्यापार के केन्द्र हुआ करते थे। उस समय के नगर प्रकृति की गोद में स्थित होते थे। जब हम वाणिज्यग्राम नगर का वर्णन पढ़ते हैं तो हमें मालूम होता है कि वह वनों तथा उपवनों से सुशोभित था, जिसके चारों ओर नगर कोट थी, जिसका निर्माण शिल्पियों ने किया था। प्रत्येक नगर में चैत्य होता था, जहां साधु-संन्यासी, श्रावक आकर दर्शन करते थे। इसके अलावा नगरों मे पौषधशालाएं होती थी जहा श्रावक पौषध करते थे। कुम्भकारों की दुकानें नगर से बाहर हुआ करती थी। सद्दालपुत्त की पाच सौ दुकानें पोलासपुर नगर के बाहर थी, जिन पर बहुत से नौकर काम किया करते थे। उस समय की कला का उभार हमें मिट्टी के बर्तनों में भी मिलता है। सद्दालपुत्त की दुकानों में जल भरने के घड़े, छोटी घड़लियां, कलश, सुराही, कुंजे आदि नाना प्रकार के बर्तन बिका करते थे। नगर सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र माने जाते थे।

सामाजिक और आर्थिक जीवन—उस समय का सामाजिक जीवन बहुत बढ़ा-चढ़ा था। आनन्दादि श्रावकों का सामाजिक कार्यों में विशेष हाथ रहता था। उनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली और आकर्षक होता था कि सर्वत्र उनकी पूछ होती थी। राजा ईश्वर यावत् सार्थवाहों के द्वारा बहुत से कार्यों में, कारणों में, मन्त्रणाओं में, कुटुम्बों में, गुप्त बातों में, रहस्यों में, निश्चयों में और व्यवहारों में वे एक बार पूछे जाते थे, बार-बार पूछे जाते थे। वे अपने परिवार के मेढ़ी (मेधि) प्रमाण, आधार, आलम्बन, चक्षु अर्थात् पथ-प्रदर्शक पूछे और मेढीभूत यावत् समस्त कार्यों को बढानेवाले होते थे। उनके पास धन-दौलत की कमी न थी। आनन्द, नन्दिनीपिता और सोलिहिपिता के पास १२-१२ करोड़ सोनैयों की सम्पत्ति थी। चार-चार करोड़ सोनैया निधानरूप अर्थात् खजाने में था, चार-चार करोड़ सोनैयों का विस्तार (द्विपद, चतुष्पद, धन-धान्य आदि की सम्पत्ति) था और चार-चार सोनैयों से व्यापार चलता था। इसके अलावा उनके पास गायों के चार-चार गोकुल थे (एक गोकुल में दस हजार गायें होती थी)। इसी प्रकार कामदेव, चूल्लशतक, कुण्डकोलिक के पास १८-१८ करोड सोनैये थे और गायो के ६ गोकुल थे। चूलनीपिता, सुरा-देव, महाशतक के पास २४-२४ करोड़ सोनैयों की सम्पत्ति और गायों के गोकुल थे। सद्दालपुत्त जो जाति का कुम्भकार था उसके पास तीन करोड सोनैयों की सम्पत्ति थी और दस हजार गायों का एक गोकुल था। इतना धन

होते हुए भी वे लोग उसे जमीन मे नही गाडते थे, मक्खीचूस की भांति उसे एक जगह इकट्ठा करके तालाब के पानी की तरह उसमे सड़ान उत्पन्न करने की उनमें आदत नही थी। प्रत्युत वे तो धन का समुचित विभाजन कर अलग २ क्षेत्र मे उसे बिखेर देते थे। उस समय का कुम्भकार भी कितना धनाढ्य था और समाज मे उसकी कितनी प्रतिष्ठा और पूछ थी इसका जीता जागता प्रतीक है श्रावक सद्दालपुत्त। वे ऋद्धि और सम्पत्तिशाली होते हुए भी अभिमानी नहीं थे। पशुपालन उनका धर्म था। आज के स्वतन्त्र भारत में गायों की जो दुदर्शा हो रही है उससे प्रत्येक भारतीय परिचित है। जब हम ढाई हजार वर्ष पूर्व की ओर अपनी निगाह दौडाते हैं और श्रावकों के पास दस-दस हजार गायों वाले गोकुल पाते हैं तो लज्जा और ग्लानि के मारे हमारी आखें मुंद जाती हैं। उस समय की संस्कृति कितनी धर्मप्राण, कितनी करुणामूलक, कितनी प्रेममयी रही होगी? उसमें सरलता, सहृदयता और सात्विकता का मेल कितना गुणकारी सिद्ध हुआ होगा?

धार्मिक जीवन—उस समय का जन-जीवन जटिल एवं बोझिल नही था। धर्म के नाम पर पारिवारिक संघर्ष न होता था यद्यपि धार्मिक चर्चा, शास्त्रार्थ एवं वाद-विवाद, तर्कादि भी होते थे। गोशालक और सद्दालपुत्त का वादविवाद इस बात का प्रतीक है कि उस समय धार्मिक जगत् मे दो प्रकार की विचारधाराएं प्रवहमान थी। एक नियतिवादी, दूसरी पुरुषार्थवादी। श्रावक सद्दालपुत्त प्रारम्भ में गोशालक (आजीविका मत) का अनुयायी था। एक दिन सद्दालपुत्त अपनी अन्दर की शाला मे गीले मिट्टी के वर्तन निकाल कर सुखाने के लिये धूप में रख रहा था। तब भगवान् ने पूछा कि ये वर्तन कैसे बने हैं? सद्दालपुत्त ने उत्तर दिया—"भगवन्! पहले मिट्टी लाई गई। उस मिट्टी मे राख आदि मिलाई गई और पानी से भिगो कर यह खूब रौंदी गई। तब चाक पर चढ़ा कर ये वर्तन बनाये गये है।" तब भगवान् ने पूछा—"ये वर्तन उत्थान, बल, वीर्य पुरुषाकार आदि से बने हैं या बिना ही उत्थान आदि के।" सद्दालपुत्त ने कहा, "सब पदार्थ नियत (होनहार) से ही होते हैं।" तब भगवान् ने कहा—"यदि कोई पुरुष तुम्हारे इन वर्तनों को चुरा ले या फेंक दे, फोड़ दे अथवा तुम्हारी अग्निमित्रा भार्या के साथ मनमाने भोग भागे तो उस पुरुष को तुम क्या दण्ड दोगे?" सद्दालपुत्त ने कहा, "मैं उसे उलाहना दूंगा, डंडे से मारूंगा, यहा तक कि प्राण भी ले लूं।" भगवान् ने कहा—"तुम्हारी मान्यता के अनुसार तो न कोई पुरुष तुम्हारे वर्तन चुराता है, फोड़ता है, फेंकता

है और न कोई तुम्हारी भार्या के साथ काम-भोग भोगता है, किन्तु जो कुछ होता है सब भवितव्यता से ही हो जाता है। फिर तुम उस पुरुष को दण्ड क्यों देते हो ! अत तुम्हारी मान्यता मिथ्या है।" इससे सद्दालपुत्त को बोध होता है और वह महावीर का अनुयायी हो जाता है। इसके बाद जब गोशालक उसके पास आता है तो वह किसी प्रकार उसका आदर-सत्कार नही करता। तब गोशालक भगवान् महावीर का 'महामाहण' 'महागोप', महासार्थवाह', महा-धर्मार्थी, 'महानिर्यामक' के रूप मे गुणानुवाद करता है। इससे प्रभावित होकर सद्दालपुत्त गोशालक को पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि देता है, किन्तु कोई धर्म या तप समझ कर नहीं।

इसी प्रकार कुण्डकोलिक ने देवता को निरुत्तर कर दिया। जब देवता ने उससे कहा कि गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर है, क्योंकि उसमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य पुरुषाकार, पराक्रम कुछ भी नही। सब पदार्थ नियत हैं और महा-वीर की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर नही हैं, क्योकि उसमे उक्त सभी गुण हैं और नियत कुछ भी नही है। इस बात को सुनकर दृढधर्मी श्रावक कुण्डकोलिक ने जो प्रश्न किया वह कितना तार्किक एव सटीक है। श्रावक ने देव से पूछा—"तुम्हे जो दिव्य कान्ति और दिव्य देवानुभाव प्राप्त हुआ है—क्या बिना ही पुरुषार्थ के प्राप्त हो गया !" देव ने कहा, "हाँ, बिना ही पुरुषार्थ के प्राप्त हो गया।' तब कुण्डकोलिक ने कहा, "यदि ऐसा है तो फिर जिन जीवो में उत्थान, पुरुषार्थ आदि नही हैं ऐसे वृक्ष, पाषाण आदि देव क्यों नहीं हो जाते ? अत तुम्हारा कथन मिथ्या है !" इस प्रकार पराजित देव आत्मग्लानि करने लगा। इस घटना से यह प्रकाशित होता है कि उस समय के श्रावको मे कितनी दृढ आस्था होती थी कि वे देवताओ तक को निरुत्तर कर देते थे और जिनकी प्रशसा स्वय भगवान् करते थे जो श्रमणो के लिए प्रेरणा-स्रोत सिद्ध होते थे। भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रंथ और निर्ग्रंथियो को बुला कर कहा कि—गृहवास मे रहते हुए गृहस्थ भी अन्य यूथिकों को अर्थ, हेतु, प्रश्न और युक्तियो से निरुत्तर कर सकते हैं तो हे आर्यो ! द्वादशाग का अध्ययन करनेवाले श्रमण निर्ग्रन्थों को तो उन्हे हेतु और युक्तियों से अवश्य ही निरुत्तर कर देना चाहिए।" और श्रमण निर्ग्रन्थोंने भगवान् के इन कथनो को सविनय 'तहत्ति' कहकर स्वीकार किया। इस प्रकार पुरुषार्थवादी विचारधारा भाग्यवादी विचारधारा पर धीरे-धीरे अपना अधिकार करती जा रही थी।

धार्मिक दृढता—उस समय के श्रावक अपने कर्तव्य पर अडिग रहनेवाले थे। उनकी धर्मपरायणता की चर्चा स्वर्ग मे भी चला करती थी। कामदेव को डिगाने के लिए मिथ्यादृष्टि देव ने क्या—क्या नही किया ? विकराल पिशाच रूप धारण किया, मदोन्मत्त हाथी का रूप बनाया, भयकर महाकाय विषधर का शरीर धारण किया, कामदेव को आकाश से धरती पर पटका, फिर भी वह अविचल भाव से अपने धर्म–ध्यान मे स्थिन रहा। आखिर देव हार गया और उनसे क्षमा प्रार्थना करने लगा। उनके चरणो मे गिर पडा। कामदेव की सहनशीलता और निर्भीकता की प्रशसा करते हुए भगवान् ने श्रमण निर्ग्र थ और निर्ग्रन्थिनियो को उद्बोधन दिया है 'जब घर मे रहने वाले गृहस्थ भी देव, मनुष्य और तिर्य च सम्बधी उपसगो को समभावपूर्वक सहन करते हैं तो द्वादशाग–गणिपिटक के धारक श्रमण निर्ग्रन्थो को तो ऐसे उपसर्ग सहन करने के लिये सदैव तैयार रहना चाहिये।"

स्त्रियो को समान अधिकार—जैनधर्म मे जो चार तीर्थों की स्थापना की गई है, उसके अनुसार–साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का बराबर अधिकार है। इस सूत्र से हमे पता चलता है कि उस समय धर्म विषयक अधिकार दोनो–स्त्री और पुरुष–को समान थे। उस समय के श्रावक जब घर आते थे तब सारी घटना अपनी स्त्री को सुनाया करते थे। दुराव और छिपाव जैसी प्रथा उस समय न थी। जब आनन्द भगवान् महावीर से बारह व्रत धारण कर अपने घर पर आते हैं तब आते ही वे अपनी धर्मपत्नी शिवानन्दा को व्रत धारण करने की बात कहते हैं और आदेश देते है कि—'हे देवानुप्रिये ? जिस प्रकार मैंने श्री श्रमण भगवान् महावीर से श्रावक के बारह व्रत धारण किये है, उसी प्रकार तुम भी जाकर श्राविका का धर्म ग्रहण करो।" शिवानन्दा पति के कथन को सुनकर अत्यधिक प्रसन्न होती है और भगवान के पास जाकर श्राविका धर्म अगीकार करती है। इस कथन या घटना से पता लगता है कि उस समय पति और पत्नी का धर्म एक होता था। वैयक्तिक घरेलू जीवन मे धार्मिक विचार-भेद को स्थान नही था। पति का आज्ञापालन करना पत्नी अपनी सौभाग्य समझती थी। 'देवानुप्रिय' और 'देवानुप्रिय' का सम्बोधन शिष्टता, पवित्रता और अगाध प्रेम का प्रतीक है।

माता और धर्मपत्नियो के कर्तव्य—उस समय जन-जीवन मे 'अधिकार' और कर्त्तव्य' दोनो का समन्वय था। अपने पतियो के साथ स्त्रियो

का क्या धार्मिक सम्बन्ध होना चाहिये इसकी झांकी भी हमें इस सूत्र के अध्ययन से मिलती है। जब-जब देवों ने धार्मिक कृत्यों की परीक्षा के निमित्त असह्य उपसर्ग दिये तब-तब माँ और पत्नी ने पुत्र और पति को उद्‌बोधन देकर धर्म में दृढ़ किया। चुलनीपिता श्रावक ने जब प्रतिज्ञा धारण कर पौषध किया तब देवने परीक्षा के निमित्त कई प्रकार के कष्ट दिये। अन्तिम उपसर्ग माता भद्रा के लिए था। तब माँ की ममता और भक्ति के वशीभूत होकर उसने अनार्य पुरुष को पकड़ना चाहा। ज्योंहि वह पकड़ने उठा त्योंहि देव लोप हो गया और हाथ में खम्भा आ गया। वह उसीको पकड़ कर जोर-जोर से चिल्लाने लगा। उसकी चिल्लाहट को सुन कर भद्रा सार्थवाही वहां आई और कहने लगी—"तेरी देखी घटना मिथ्या है। क्रोध के कारण उस हिंसक और पाप बुद्धिवाले पुरुष को पकड़ लेने की तुम्हारी प्रवृत्ति हुई है। इसलिये भाव से स्थूल प्राणातिपात-विरमणव्रत का भंग हुआ है। अयतना-पूर्वक दौड़ने से पौषध का और क्रोध के कारण कषाय-त्यागरूप उत्तर गुण का भंग हुआ है। इसलिए हे पुत्र! दण्ड, प्रायश्चित्त लेकर अपनी आत्मा को शुद्ध करो।" चुलनीपिताने अतिचारों की आलोचना की। इसी प्रकार जब सद्दालपुत्र अग्निमित्रा भार्या के निमित्त से अपने धर्म से च्युत हुआ तब उसकी भार्या ने उसे उद्‌बोधन देकर धर्म में स्थिर किया। इन उदाहरणों से यह पता चलता है कि नर और नारी का सम्बन्ध केवल दैहिक नहीं है, केवल सांसारिक अभिलाषाओं और वासनाओं की पूर्ति के लिए ही उनका गठबन्धन नहीं हुआ। अपितु धर्मपूर्वक जीवन-यापन के लिए।

भगवान् की भक्त पर कृपा—भक्त के लिए भगवान् ही सर्वस्व है, वही उसका रक्षक है। जब महाशतक की भार्या रेवती मांसाहारिणी और मद्यपान करनेवाली बन गई और उत्तरोत्तर उसकी प्रवृत्ति दुराचार की ओर बढ़ती गई तब वह अपने पति महाशतक को जिसने कि ग्यारह पडिमाओं को धारण करने के बाद अनशन व्रत ले लिया था, मदमाती हुई उपसर्ग देने लगी। शृंगारभरे हाव-भाव और कटाक्ष दिखाती हुई वह कहने लगी, "तुम्हें धर्म, पुण्य, स्वर्ग, मोक्ष आदि से क्या है, तुम मेरे साथ मनमाने भोग भोगो।" इस प्रकार वह काम के वशीभूत हो कर महाशतक को अपने धर्म से भ्रष्ट करने लगी। तब श्रावकने अपने अवधिज्ञान के द्वारा उसकी मृत्यु और नरक गति बतलाई जिससे वह डरकर चलती बनी। अनशन व्रत में सत्य कथन भी जो दूसरों को अप्रिय, कटु या पीड़ाकारी सिद्ध हो बोलना नहीं कलपता। इस की

आलोचना के लिए महावीर स्वामी ने अपने सुशिष्य गौतम स्वामी को महाशतक के पास भेजा और गौतमस्वामी से प्रेरणा पाकर महाशतक ने अपने अतिचारों की आलोचना की।

इसी प्रकार जब आनन्द श्रावक को परिणामों की विशुद्धता के कारण और ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम होने से अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया और जिसके फलस्वरूप वह पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा में लवण समुद्र में पांच सौ योजन तक और उत्तर में चुल्लहिमवान पर्वत तक देखने लगा। इसी प्रकार ऊपर सौधर्म देवलोक और नीचे रत्नप्रभा पृथ्वी के लोलुयच्युत नामक नरकावास को जानने और देखने लगा। गौतम स्वामी ने कहा कि, "श्रावक को इतने विस्तार वाला अवधिज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए हे आनन्द! तुम इस बात के लिए दण्ड प्रायश्चित्त लो।" इस पर आनन्द की आत्मा बोल उठी, "क्या सत्य बात के लिए भी दण्ड लिया जाता है? दण्ड तो आप स्वयं लीजिएगा?" इस पर गौतम ने भगवान के पास जाकर सारा वृत्तान्त सुनाया। तब भगवान् ने कहा, "आनन्द का कथन सत्य है; अतः उससे जा कर क्षमा मांगो और प्रायश्चित्त लो!" इस घटना से यह सिद्ध होता है कि उस समय के श्रावक कितने कर्मनिष्ठ और सत्यनिष्ठ होते थे। वे अपने से बड़ों को भी उत्तर दे सकते थे और दण्ड के लिए विवश कर सकते थे। ऐसे ही धर्मप्रेमी श्रावकों पर भगवान् रीझते हैं, प्रसन्न होते हैं।

सांस्कृतिक जीवन—उस समय के श्रावकों का जीवन संयमित, मर्यादित एवं धर्मनिष्ठ था। दैववाद और पुरुषार्थवाद का समन्वय उनके जीवन में प्रतिक्षण होता था। उस समय के राजा स्वयं धर्मप्रेमी होते थे। जितशत्रु राजा भगवान् के पदार्पण का समाचार सुनते ही राजसी ठाट-बाट से उनको वन्दन करने के लिए जाते हैं। श्रावक लोग भी नगर के बीच होकर राजमार्ग से वन्दन करने के लिए जाते हैं। जाने के पूर्व क्या पुरुष, क्या स्त्री, स्नान करते है, बहुमूल्य पर अल्प भार वाले परिधान पहनते हैं। लघुकरण रथ में बैठकर शिवानन्दा वन्दन के लिए प्रस्थान करती है। इससे उस समय की धार्मिक स्थिति और प्रभावना का पता चलता है।

जब श्रावकों में प्रौढत्व का पदार्पण होने लगता तब वे इस प्रकार का विचार किया करते थे कि—"मैं दीक्षा लेने में तो असमर्थ हूँ। किन्तु मुझे अब यह उचित है कि मैं अपने ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकारी बना कर एकान्त

साधना करू ।" इसी प्रकार सर्वप्रथम धर्मोपदेश सुनकर श्रावक लोग इतने प्रभावित होते थे कि हाथ जोड़कर भगवान् से प्रार्थना करते थे कि—"हे निर्ग्रन्थ ! प्रवचन मुझे विशेष रुचिकर हुए हैं । आपके पास जिस तरह बहुत से राजा, महाराजा, सेठ, सेनापति, तालवर, कौटुम्बिक, माडलिक, सार्थवाह आदि प्रव्रज्या अंगीकार करते हैं, उसी तरह प्रव्रज्या ग्रहण करने में तो हम असमर्थ है, पर हम श्रावक के व्रत अंगीकार करना चाहते हैं ।"

आनन्द आदि श्रावकों ने जो व्रत अंगीकार किये है और सातवें व्रत उपभोग-परिभोग की जो मर्यादा की है उससे उस समय का सास्कृतिक स्तर हमारे सामने प्रत्यक्ष हो जाता है ।

पाचवे व्रत मे धन, धान्यादि की मर्यादा की जाती है । आनन्द ने मर्यादा की थी कि मैं १२ करोड सोनैया, गायों के चार गोकुल, पाच सौ हल और पाच सौ हलो से जोती जानेवाली भूमि, हजार गाडे और चार बैडा जहाज के उपरान्त परिग्रह नही रखूंगा । इसने यह ज्ञात होता है कि उस समय के श्रावक पशुपालन के साथ-साथ खेती भी करते थे । उनका व्यापार विदेशो से भी होता था । अर्थात् उस समय भी सामुद्रिक व्यापार होता था । आनन्द के चार जहाज चारो दिशाओ मे घूमा करते थे । ५०० हल और उनसे जोती जानेवाली भूमि कितनी होगी ! कितना उनका भरापूरा जीवन था !

सातवें व्रत मे उपभोग—परिभोग की मर्यादा की जाती है । आनद की उपभोग-परिभोग सबधी मर्यादायें आज के दरिद्र और दु:खी जीवन के लिये स्वर्ग की सुख-स्मृति कराती हैं और सच कहा जाय तो आनद की इन निम्न लिखित मर्यादाओ मे कुछ ही आज के बडे २ महाराजा और सम्राटो के नित्य जीवन में मिलेंगी । उस समय की भारत की आशातीत वैभवस्थली पर आनद का वैभव खण्ड मात्र था और ये मर्यादाएं उस वैभव की रेखा मात्र थी । आज के लिये ये केवल कल्पनायें हैं, परन्तु तत्कालीन महिम वैभव के लिये ये मर्यादायें थीं ।

आनद श्रावक ने इस प्रकार मर्यादा की थीं :—

(१) उल्लणियाविहि :—स्नान करने के पश्चात् शरीर को पोछने के लिए गमछा (Towel) आदि की मर्यादा करना । आनन्द ने गन्धकाषायित (गन्ध प्रधान लाल वस्त्र) का नियम किया था ।

(२) दन्तवणविहि —दातुन का परिमाण करना। आनन्द ने हरी मुलहटी का नियम किया था।

(३) फलविहि :—स्नान करने के पहले सिर धोने के लिए आवला आदि फलो की मर्यादा करना। आनन्द ने जिसमे गुठली उत्पन्न न हुई हो ऐसे आवलो का नियम किया था।

(४) अब्भंगणविहि :—शरीर पर मालिश करने योग्य तेल आदि का परिमाण निश्चित करना। आनन्द ने शतपाक (सौ औषधिया डालकर बनाया हुआ) और सहस्रपाक (हजार औषधिया डालकर बनाया हुआ) तेल रखा था।

(५) उवट्टणविहि :—शरीर पर लगाए हुए तेल को सुखाने के लिए पीठी आदि की मर्यादा करना। आनन्द ने कमलो के पराग आदि से सुगन्धित पदार्थ का परिमाण किया था।

(६) मज्जणविहि :—स्नानो की सख्या तथा स्नान करने के लिए जल का परिमाण करना। आनन्द ने स्नान के लिये आठ घडा जल का परिमाण किया था।

(७) वत्थविहि :—पहनने योग्य वस्त्रों की मर्यादा करना। आनन्द ने कपास से बने हुए दो वस्त्रों का नियम किया था।

(८) विलेवणविहि :—स्नान करने के पश्चात् शरीर मे लेपन करने योग्य चन्दन, केशर आदि द्रव्यो का परिमाण निश्चित करना। आनन्द ने अगुरु, कुकुम, चन्दन आदि की मर्यादा की थी।

(९) पुष्फविहि —फूलमाला आदि का परिमाण करना। आनन्द ने शुद्ध कमल और मालती के फूलो की माला पहनने की मर्यादा की थी।

(१०) आभरणविहि —गहने, जेवर आदि का परिमाण करना। आनन्द ने कानों के श्वेत कुण्डल और स्वनामाकित मुद्रिका का परिमाण किया था।

(११) धूवविहि :—धूप देने योग्य पदार्थों का परिमाण करना।

आनन्द ने अगर और लोबान आदि का परिमाण किया था।

(१२) भोयणविहि :—भोजन का परिमाण करना।

(१३) पेज्जविहि :—पीने योग्य पदार्थों की मर्यादा करना। आनन्द ने मूंग की दाल और घी में भुने हुए चावलो की राब की मर्यादा की थी।

(१४) भक्खणविहि :—खाने के लिए पक्वान्न की मर्यादा करना। आनन्द ने घृतपूर (घेवर) खाड से लिप्त खाजों का परिमाण किया था।

(१५) ओदणविहि :—क्षुधा निवृत्ति के लिए चावल आदि की मर्यादा करना। आनन्द ने कमोद चावल का परिमाण किया था।

(१६) सूवविहि :—दाल का परिमाण करना। आनन्द ने मटर, मूंग और उदड़ की दाल का परिमाण किया था।

(१७) घयविहि:—घृत का परिमाण करना। आनन्द ने गायों के शरदऋतु मे उत्पन्न घी का नियम था।

(१८) सागविहि:—शाकभाजी का परिमाण निश्चित करना। आनन्द ने वथुआ, चू चू (सुत्थिय) और मण्डुकी शाक का परिमाण किया था। चू चू और मण्डुकी उस समय मे प्रसिद्ध कोई शाक विशेष है।

(१९) माहुरयविहि:—पके हुए फलो का परिमाण करना। आनन्द ने पालंग (बेल फल) फल का परिमाण किया था।

(२०) जेमणविहि:—खाने योग्य पदार्थों का परिमाण निश्चित करना। आनन्द ने तेल आदि मे तलने के बाद छाछ, दही और काजी आदि खट्टी चीजो मे भिगोये हुए मूंग आदि की दाल से बने हुए बड़े और पकौड़ी आदि का परिमाण किया था।

(२१) पाणियविहि:—पीने के लिए पानी की मर्यादा करना। आनन्द ने आकाश से गिरे हुए और तत्काल ग्रहण किए (टाकी आदि मे) जल की मर्यादा की थी।

(२२) मुहवासविहिः—मुख सुवासित करने योग्य पदार्थों का परिमाण करना। आनन्द ने पंच सौगन्धिक अर्थात् लौंग, कपूर कक्कोल (शीतल चीनी), जायफल और इलायची डाले हुए पान का परिमाण किया था।

इन मर्यादाओं से हम अनायास ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि उस समय के श्रावकों का रहन-सहन कितना ऐश्वर्यशाली था! वे खाने-पीने की कितनी चीजों का प्रयोग करते थे! स्नान करते समय कितनी वस्तुओं की आवश्यकता होती थी! शतपाक और सहस्रपाक तेल की कल्पना तो आज के विकासकालीन और वैज्ञानिक युग में भी व्यर्थ है। तेल को सुखाने के लिए भी अलग पीठी की आवश्यकता उस समय के लोगों को थी। स्नान के लिए आठ घड़े जल का परिमाण उनकी सयमित वृत्ति का परिचायक है। फूलों और आभूषणों का प्रयोग पुरुष भी करते थे। मटर, मूंग और उड़द की दाल उस समय ज्यादा प्रचलित थी। गायों का शरदऋतु में उत्पन्न घी ही वे प्रयोग में लाते थे। चू चू और मण्डुकी नामक शाक-भाजी आज कल्पनातीत बन गई हैं। दहीवड़ा, कांजीवड़ा और दालिया का प्रयोग भी वे करते थे। पीने के लिए वर्षा का इकट्ठा किया हुआ जल पवित्र और हितकर माना जाता था। लौंग, कपूर, जायफल, इलायची के प्रेमी थे, पर कक्कोल (शीतल चीनी) नामक वस्तु का आज अभाव है। इस प्रकार श्रावकों का जीवन कितना उच्च था! संयमित था! मर्यादित था! इतना वैभव और विलास होते हुए भी वे विनाश और पापमार्ग की ओर नहीं प्रवृत्त हुए; अपितु निवृत्ति मार्ग की ओर उन्मुख रहते आये। आज के हमारे जटिल जीवन से उनका जीवन कई गुणा सुखी और आनन्दित था।

—